आज़ाद शरणार्थी

तिब्बत के
दलाई लामा
की आत्म कथा

शान्ति नोबेल पुरस्कार विजेता

252

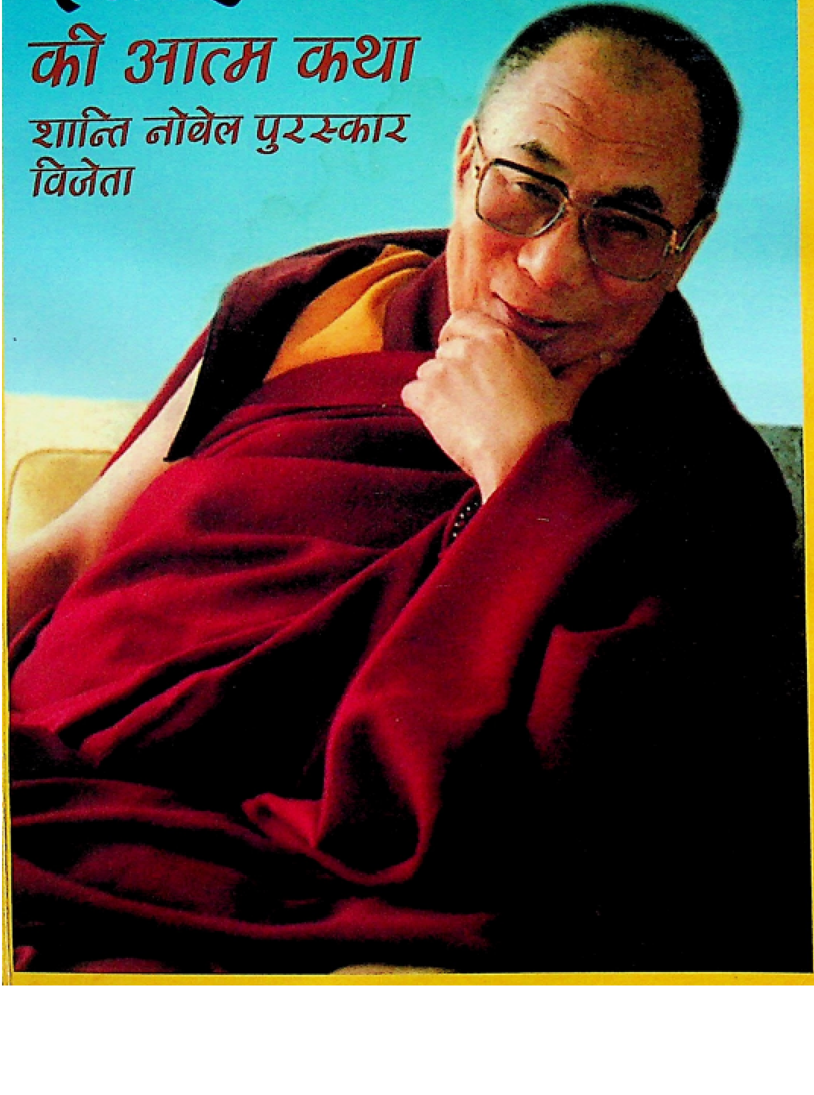

1989 में जब परमपावन दलाई लामा को नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया तो विश्व का ध्यान एक बार फिर से तिब्बत और तिब्बतवासियों की त्रासदी की ओर आकर्षित हुआ। प्रस्तुत आत्मकथा में दलाई लामा ने उन घटनाओं का विस्तृत विवरण दिया है जो तिब्बत पर **1950** में चीन के जबरन कब्जे से पहले और बाद में घटीं। यह आत्मकथा बताती है कि किस तरह **1938** में मात्र दो वर्ष की आयु में उन्हें तेरहवें दलाई लामा के अवतार के रूप में खोजा गया; किस तरह बाकी दुनिया से दूर बौद्ध मठों के वातावरण में उनकी शिक्षा- दीक्षा हुई और लालन- पालन हुआ।

केवल पन्द्रह साल की उम्र में ही उन्हें कम्युनिस्ट चीन से निबटने के लिए ऐसे तिब्बत देश का शासक नियुक्त किया गया जिसका आकार पूरे पश्चिमी यूरोप से भी बड़ा था। अगले पूरे दशक उन्हें एक तरफ चीनी शासक चेयरमैन माओ और दूसरी तरफ पंडित जवाहरलाल नेहरू का विश्वास जीतने और अपने देश की स्वायत्तता के लिए अथक प्रयास करना पड़ा। लेकिन आखिरकार **1959** में चीनी सेना के खतरे से अपनी जान बचाते हुए भागकर उन्हें और उनके पीछे आए एक लाख तिब्बतियों को भारत में शरण लेनी पड़ी। तब से वह हिमालयवर्ती हिमाचल प्रदेश के धर्मशाला कस्बे से अपने देशवासियों को नेतृत्व देने, तिब्बती

----पीछे कवर पर

आज़ाद शरणार्थी

तिब्बत के परम पावन दलाई लामा की आत्मकथा

हिन्दी संस्करण संपादक विजय क्रान्ति

पालजोर पब्लिकेशंस नई दिल्ली

आईएसबीएन:

सर्वाधिकार सुरक्षित। स्वत्वाधिकारी और प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश को न तो प्रकाशित या मुद्रित किया जा सकता है, न इलेक्ट्रोनिक, मेकेनिकल, फोटोकापिंग, रिकार्डिंग या दूसरी किसी प्रणाली से प्रेषित किया जा सकता है और न ही किसी भी तरह की रिट्रीवल प्रणाली में सहेज कर रखा जा सकता है। इसके लिए प्रकाशक से लिखित तौर पर संपर्क किया जाए।

सर्वाधिकार सुरक्षित। कॉपीराइट धारक और प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी भाग को किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम से, इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग या अन्य किसी भी प्रकार से, पुनरुत्पादित या प्रेषित नहीं किया जा सकता, या किसी भी प्रकार की पुनर्प्राप्ति प्रणाली में संग्रहीत नहीं किया जा

सकता, जिसके लिए प्रकाशक को आवेदन करना होगा।

कॉपीराइट

: परम पूज्य तेनजिन ग्यात्सो, 14वें दलाई लामा (1990) कॉपीराइट और कॉपीराइट (परम पूज्य) तेनजिन ग्यात्सो, 14वें दलाई लामा (1990)

प्रकाशक

प्रकाशक

: पालजोर पब्लिकेशंस, डी-27 (बीएसएमटी) जंगपुरा एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110014. भारत. फ़ोन: (011) 431 2416, फ़ैक्स: 431 0866

: पालजोर पब्लिकेशंस, डी-27 (बेसमेंट) जंगपुरा ऐक्सटेंशन, नई दिल्ली-110014 फोन : (011) 431 2416 फैक्स: 431 0866

संपादक, हिंदी संस्करण: विजय क्रांति

हिंदी संस्करण संपादक

: विजय क्रान्ति

डिज़ाइन एवं टाइपसेटिंग

वी.के. मीडिया ग्रुप, बी.सी.- 48, पश्चिम शालीमार बाग, उत्तर दिल्ली-110052. भारत फ़ोन: 721 6961. फ़ैक्स: 713 6442

सज्जा एवं टाइपसैटिंग

: वी. के. मीडिया ग्रुप, बी.सी. 48, वैस्ट शालीमार बाग, नई दिल्ली 110

052 फोन : 721 6961 फैक्स: 713 6442

मुद्रक

: अर्चना, न्यू दिल्ली-14, फ.: 4311992, 4322834 : अर्चना, नई दिल्ली-14, फोन: 4311992, 4322834

अध्याय क्रम

प्रस्तावना

प्रकाशक की ओर से

1. श्वेत कमल धारक अवतारी बालक 1-14

2. सिंहासन 15-49

3. विदेशी हमला 50-56

4. दक्षिण में शरण 57-75

5. कम्युनिस्ट चीन में 76-93

6. नेहरू जी को सदमा 94-112

7. अलविदा मेरे वतन
113-130

8. भविष्य से सामना
131-144

9. एक लाख शरणार्थी
145-156

10. चीनी आंख की किरकिरी
157-171

11. पूरब से पश्चिम
172-184

12. जादू या रहस्य ?
185-195

13. वतन की खबर
196-210

14. शांति के लिए कोशिश
211-223

15. सार्वजनिक उत्तरदायित्व और अच्छा दिल 224-238

प्रस्तावना

अलग अलग लोगों के लिए दलाई लामा के अलग अलग मतलब हैं। कुछ की नजर में मैं एक जीवित बुद्ध हूं करुणा के बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का लौकिक अवतार। कुछ के लिए मैं 'ईश्वरीय राजा' हूं। 1950 वाले दशक के मध्य में मुझे पीपुल्स रिपब्लिक आफ चाइना की संचालन समिति का उपाध्यक्ष भी माना जाता था। उसके बाद, मैं भागकर निर्वासन में आ गया। तब मुझे एक प्रतिक्रांतिकारी और एक परजीवी की संज्ञा दी गई। लेकिन यह सब दूसरों की मेरे बारे में राय है। ये मेरे विचार नहीं हैं। मेरे

हिसाब से 'दलाई लामा' एक उपाधि है जो मेरी जिम्मेदारियों से जुड़ी हुई है। मैं एक साधारण मनुष्य हूं जो संयोग से तिब्बती है और जिसने बौद्ध भिक्षु बनने का फैसला किया।

एक सामान्य भिक्षु होने के नाते मैं अपनी यह कहानी पेश कर रहा हूं। किसी भी मायने में यह बौद्ध धर्म की कोई पुस्तक नहीं है। इस आत्मकथा को लिखने के पीछे मेरे दो मुख्य कारण हैं। पहला, ऐसे लोगों की संख्या लगातार बढ़ रही है जो दलाई लामा के बारे में जानने को बहुत उत्सुक हैं। दूसरे, ऐसी बहुत सारी ऐतिहासिक घटनाएं हैं जिनके बारे में मैं गलतफहमियां दूर करना चाहता हूं हूं।

समय अभाव के कारण मैंने अपनी आत्मकथा अंग्रेजी में लिखने का फैसला किया। यह आसान काम नहीं था क्योंकि इस भाषा में मेरा ज्ञान बहुत सीमित है। इसके अतिरिक्त मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि कुछ विषय ऐसे हैं जिन्हें अंग्रेजी में लिपिबद्ध करने की अपनी कठिनाइयां हैं। लेकिन तिब्बती भाषा से अनुवाद करते हुए भी ऐसा ही होता। मैं यहां यह भी कहना चाहूंगा कि मेरे पास शोध की वे सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं जो कुछ लोगों के पास हो सकती हैं। इसके अलावा मेरी स्मरणशक्ति भी वैसी ही अच्छी या कमजोर है जैसी किसी और की हो सकती है। यह कहते हुए मैं तिब्बत की निर्वासन सरकार के संबंधित अधिकारियों और मेरे संपादक श्री एलेक्जेंडर नॉरमन को उनके सहयोग के लिए धन्यवाद देना चाहता हूं।

दलाई लामा
मई 1990

प्रकाशक की ओर से

परमपावन दलाई लामा की आत्मकथा 'फ्रीडम इन एग्ज़ाइल' का हिंदी संस्करण पाठकों के सामने पेश करते हुए हमें बहुत हर्ष हो रहा है। एक शांति प्रिय देश तिब्बत पर ताकतवर पड़ोसी चीन द्वारा कब्जा जमा लेने के बाद जब परमपावन जी को विदेश में शरण लेने पर मजबूर होना पड़ा तब भारत के चुनाव का फैसला एकदम स्वभाविक ही था। सदियों से भारत-तिब्बत संबंध प्रिय भाइयों जैसे रहे हैं। तिब्बती विद्वानों, सामान्य नागरिकों और व्यापारियों के लिए भारत हमेशा से उनकी पुण्य भूमि और कर्म भूमि रहा है। भारतीय तपस्वियों और धार्मिक श्रद्धालुओं के लिए भी तिब्बत के कैलाश और मानवरोवर जैसे सैकड़ों पवित्र स्थल श्रद्धा का केंद्र रहे हैं। पिछले तीन दशक से भी अधिक लंबे काल में भारतीय जनता और सरकार ने परमपावन दलाई लामा को और उनके साथ आए लगभग एक लाख तिब्बती नागरिकों को जो प्यार, स्नेह और सहयोग दिया है वह परमपावन जी के उस विश्वास की पुष्टि करता है जो 1959 में भारत में शरण लेने के फैसले के समय उनके मन में था। इस दौरान भारत की सरकार और जनता के सहयोग से परमपावन जी ने तिब्बत की राष्ट्रीय पहचान और संस्कृति को फिर से नया जीवन देने का जो ऐतिहासिक काम किया है उसे तिब्बत के इतिहास में हमेशा श्रद्धा और मैत्रीभाव से याद किया जाएगा। इस दौरान दलाई लामा जी के नेतृत्व में तिब्बती समाज ने और कई तरह की उपलब्धियां भी हासिल की हैं। स्वयं परमपावन जी के अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व में एक बड़ा परिवर्तन हुआ है जिसका एक प्रमाण उन्हें शांति नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया जाना है। इन सब उपलब्धियों के पीछे एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि उन्हें और तिब्बती शरणार्थियों को भारत में सम्मान के साथ रहने और शांति से काम करने का अवसर मिला। ऐसे में स्वभाविक है कि भारतीय जनता को तिब्बत के इतिहास, दलाई लामा जी की जीवन कथा और उनके व्यक्तित्व के बारे में पूरी जानकारी मिले। पुस्तक का यह हिंदी संस्करण इसी दिशा में किया गया एक प्रयास है।

प्रस्तुत आत्मकथा का मूल संस्करण जब अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ तभी से इसके हिंदी संस्करण के प्रकाशन के महत्व को महसूस किया जा रहा था। लेकिन कुछ अपरिहार्य कारणों से इसमें अपेक्षा से कहीं अधिक समय लग गया जिसका हमें खेद है। एक भाषा से दूसरी भाषा में किसी विद्वान के विचारों को पहुंचाना बहुत चुनौती भरा काम है। एक से अधिक अनुवादकों

की भाषा शैली को एकरसता देना, अनुवाद में हुई भूलों को ठीक करना और पूरी कथा को रोचक शैली और आसानी से समझ आने वाली भाषा में प्रस्तुत करना काफी कठिन काम था।

परमपावन जी के साथ दो दशक से अधिक लंबे समय से जुड़े भारतीय पत्रकार श्री विजय क्रान्ति ने इस काम को बहुत प्रभावशाली ढंग से किया है। इस सहयोग के लिए हम उनके आभारी हैं। हमें आशा है कि हिंदी पाठकों को यह पुस्तक पसंद आएगी और परमपावन जी के व्यक्तित्व को विस्तार से समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

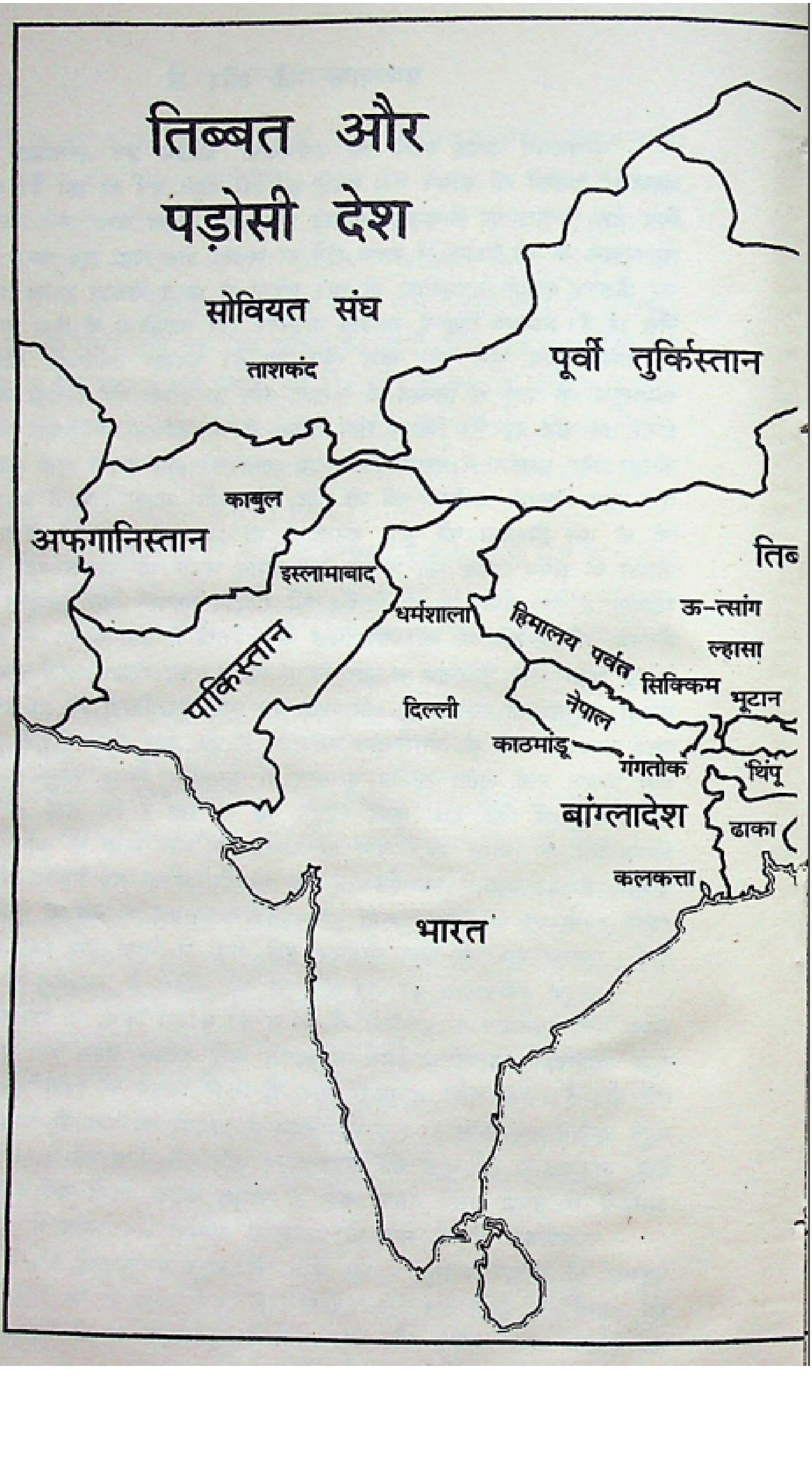

तिब्बत और
पड़ोसी देश
सोवियत संघ
ताशकंद
पूर्वी तुर्किस्तान
काबुल
अफगानिस्तान
इस्लामाबाद
तिब
धर्मशाला
हिमालय पर्वत
ऊ-त्सांग
ल्हासा
पाकिस्तान
सिक्किम
भूटान
दिल्ली
नेपाल
काठमांडू
गंगतोक
थिंपू
बांग्लादेश
ढाका
कलकत्ता
भारत

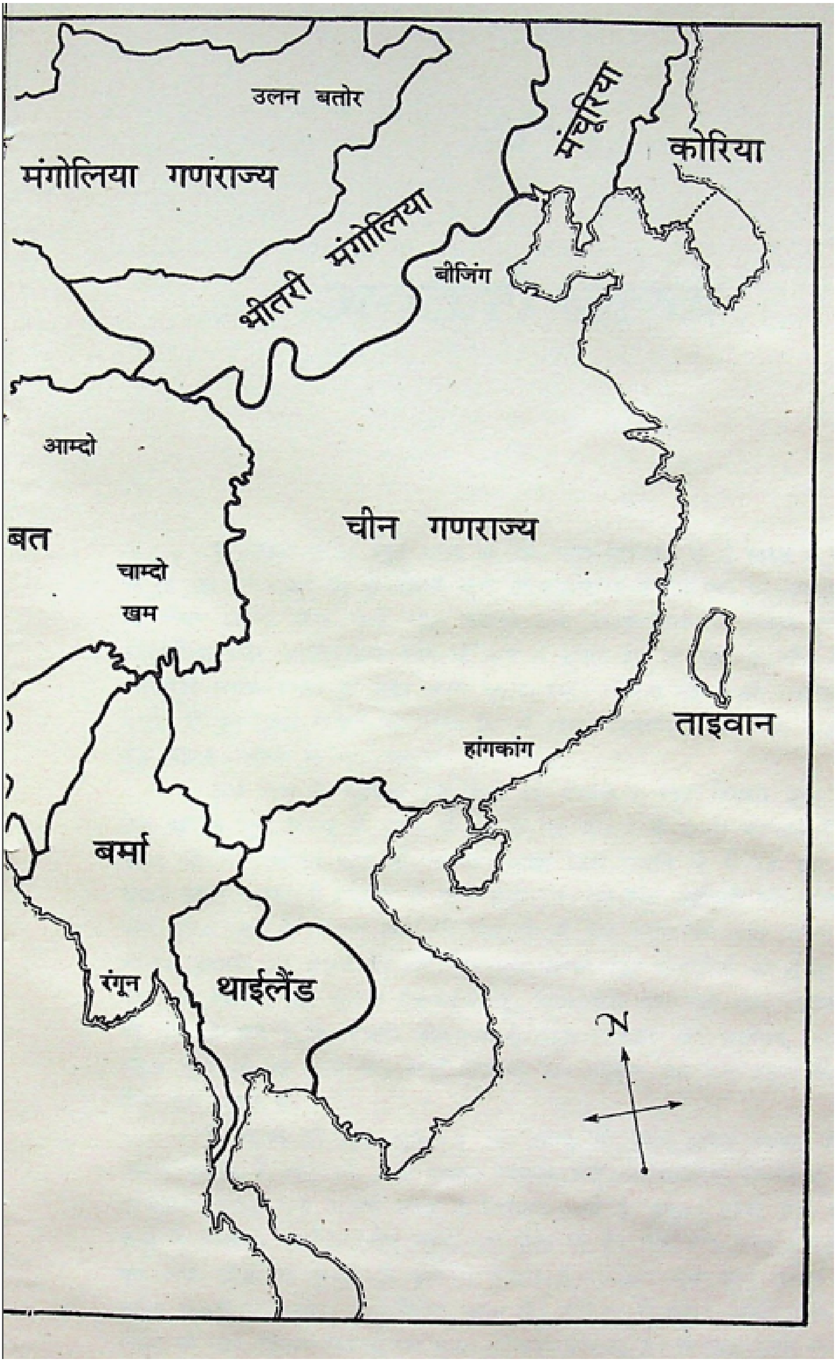
उलन बतोर
मंगोलिया गणराज्य
मंचूरिया
कोरिया
भीतरी मंगोलिया
बीजिंग
आम्दो
बत
चीन गणराज्य
चाम्दो
खम
ताइवान
हांगकांग
बर्मा
रंगून
थाईलैंड
N

-1-

अवतारी बालक

मैं तिब्बत से 31 मार्च 1959 के दिन भागा था। तब से मैं भारत में निर्वासन में रह रहा हूं। 1949-50 के दौरान चीनी लोकगणराज्य ने मेरे देश पर कब्जा जमाने के लिए अपनी सेना भेजी थी। लगभग एक दशक तक मैं अपने लोगों के राजनैतिक और आध्यात्मिक नेता के रूप में हमारे

इन दो देशों के बीच फिर से शांतिपूर्ण संबंध बनाने के लिए काम करता रहा। लेकिन यह काम असंभव सिद्ध हुआ। मैं इस दुखद नतीजे पर पहुंचा कि मैं अपने देशवासियों की सेवा बाहर रहते हुए बेहतर तरीके से कर सकूंगा।

अब जब मैं मुड़कर उन दिनों को देखता हूं जब तिब्बत एक आजाद देश था तो मुझे समझ में आता है कि वे मेरे जीवन के सबसे शानदार दिन थे। आज भी मैं यकीनन खुश हूं। लेकिन आज जिस स्थिति में मैं रह रहा हूं वह उससे बहुत अलग है जिसमें मैं पला-बढ़ा था। हालांकि स्मृतियों को कुरेदने का कोई लाभ नहीं है लेकिन फिर भी जब भी मैं उस समय को याद करता हूं तो बरबस उदासी आ घेरती है। यह सब मुझे अपने देश के लोगों के दुखद कष्टों की याद दिलाता है। पुराना तिब्बत कोई आदर्शवादी देश नहीं था। लेकिन फिर भी यह तो सच है कि हमारी जीवन शैली बहुत शानदार थी। यकीनन उसमें ऐसा बहुत कुछ था जो संजो कर रखने लायक था। लेकिन वह सब आज हमेशा के लिए खो चुका है।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि लोगों के लिए दलाई लामा के अर्थ अलग-अलग हैं और मेरे लिए इसका मतलब मेरी आधिकारिक जिम्मेदारी से है। दरअसल दलाई एक मंगोल शब्द है जिसका अर्थ है समुद्र। लामा एक तिब्बती शब्द है जिसका अर्थ भारतीय शब्द गुरू जैसा ही है। कई बार लोग दलाई लामा का अर्थ 'ज्ञान का समुद्र' के रूप में लगाते हैं। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि गलत फहमी के कारण ऐसा किया जाता है। मूलरूप से दलाई शब्द तीसरे दलाई लामा के नाम सोनाम ग्यात्सो का एक आंशिक अनुवाद है। तिब्बती भाषा में ग्यात्सो का अर्थ है समुद्र।

2

आज़ाद शरणार्थी

इस बारे में एक और दुर्भाग्यपूर्ण बात चीनियों द्वारा लामा शब्द के लिए हुओ-फू के इस्तेमाल से हुई जिसका अर्थ है 'जीवित बुद्ध'। यह गलत है। तिब्बती बौद्ध धर्म में इसका कोई अर्थ नहीं है। तिब्बती बौद्ध धर्म में यह माना जाता है कि ऐसे कई लोग हैं जिनमें दलाई लामा भी एक है जिन्हें अपने पुनर्जन्म के बारे में फैसला करने का अधिकार है। ऐसे लोगों को

तुलकू कहा जाता है। इसका अर्थ है अवतार।

लेकिन यह स्पष्ट है कि जब में तिब्बत में रहता था तो दलाई लामा होना ही अपने आप में एक बहुत बड़ी बात थी। इसका एक मतलब यह था कि मेरी जीवन शैली तिब्बत की मेरी उस अधिसंख्य जनता से बहुत अलग थी जिसे मेहनत और कठिनाई भरी जिंदगी जीनी होती थी। मैं जहां कहीं भी जाता था मेरे साथ सेवकों का एक पूरा काफिला रहता था। हर समय मेरे आसपास सरकारी मंत्रियों और सलाहकारों का झुंड रहता था जो शानदार रेशमी चोगे पहनते थे और जो हमारे देश के सबसे रईस परिवारों के सदस्य थे। पूरा दिन मेरा साथ ऐसे लोग देते थे जो बहुत विद्वान और धर्म के मामले में बहुत ज्ञानी लोग थे। हर बार जब भी मैं अपने शानदार और लगभग एक हजार कमरों वाले शरतकालीन महल पोताला से निकलता था मेरे पीछे-पीछे हजारों लोगों का जूलूस चलता था।

जुलूस के आरंभ में एक नागपा भिक्षु चलता था जिसके हाथ में एक चक्र रहता था जो 'जीवन चक्र' का प्रतीक था। उसके बाद तातारी घुड़सवार होते थे जो परंपरागत और रंगबिरंगे वेशभूषा में सजे होते थे। उनके पीछे सेवक होते थे जिनके हाथों में मेरी गाने वाली चिड़ियों के पिंजरे और मेरा व्यक्तिगत सामान रहता था जो पीले रेशमी कपड़ों में लिपटा रहता था। उनके बाद भिक्षुओं का एक दल होता था जो दलाई लामा के व्यक्तिगत नामग्याल मठ से संबंधित थे। सबके हाथों में एक एक सजा हुआ बैनर होता था जिस पर मंत्र लिखे होते थे। उनके पीछे घोड़ों पर सवार संगीतकारों का दल चलता था। अगली बारी भिक्षु अफसरों के दो समूहों की होती थी जिनमें से एक समूह अर्दलियों और हरकारों का होता था और दूसरे समूह में सेढुंग वर्ग के भिक्षु थे जो सरकार में वरिष्ठ अधिकारी होते थे। इनके पीछे दलाई लामा के व्यक्तिगत घुड़साल से घोड़ों का एक दल चलता था जो अच्छी तरह सजाए जाते थे और उन पर उनके प्रशिक्षक सवार होते थे।

इनके बाद घुड़सवारों का एक और दल होता था जो सरकार की आधिकारिक मुहरें और मुद्राएं लेकर चलता था। इनके बाद मेरी बारी होती थी। मैं एक पीले रंग की पालकी में सवार रहता था जिसे कुल मिलाकर बीस लोग उठाकर चलते थे। पालकी ढोने वाले ये सभी लोग सेना के

अधिकारी होते थे जो हरे चोगे और लाल टोप पहने होते थे। दूसरे वरिष्ठ सरकारी अफसरों के मुकाबले, जिनके बाल खुले होते थे, ये अधिकारी अपने बालों को एक लंबी चोटी में बांधे रखते थे जो पीछे की ओर लटकी रहती थी। मेरी पालकी जो मठ व्यवस्था के प्रतीक पीले रंग की होती थी उसमें आठ और आदमी भी होते थे जो पीले रेशम के लंबे चोगे पहने होते थे। दोनों ओर दलाई लामा के मंत्रिमंडल 'काशाग के चार सदस्य होते थे

जिनके पीछे-पीछे दलाई लामा के अंगरक्षक दल के प्रमुख 'कुसुम देपोन' और तिब्बती सेना के प्रधान सेनापति 'माक्ची' चलते थे। ये दोनों सैनिक अधिकारी अपनी तलवारों को सलामी वाली मुद्रा में पकड़कर चलते थे। उनकी वर्दी में नीली पेंट और पीला कुर्ता होता था जो सोने के गोटे वाले फीते से सजा होता था। उनके सिर पर फुंदनों वाली टोपी रहती थी। इस पूरे दल को चारों ओर से सुरक्षा देने के लिए भिक्षु पुलिस 'सिंह' का एक बड़ा दल चलता था। एकदम पीले और डरावने दिखने वाले ये आदमी कम से कम छह फुट उंचाई वाले होते थे और उनकी वर्दी के भीतर मोटे मोटे पैड लगे रहते थे जो उन्हें और भी दैत्याकार रूप देते थे। उनके हाथों में लंबी चाबुक रहती थी जिन्हें इस्तेमाल करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती थी।

मेरी पालकी के पीछे-पीछे मेरे दो अध्यापक रहते थे जिनमें से एक वरिष्ठ थे और एक कनिष्ठ। मेरे वरिष्ठ अध्यापक मेरे व्यस्क होने से पहले तिब्बत के रीजेंट पद को संभालते थे। उनके बाद मेरे माता-पिता और परिवार के दूसरे लोग चलते थे। इन लोगों के पीछे छोटे सरकारी अफसरों का एक बड़ा काफिला चलता था जिनमें राजसी अधिकारी और सामान्य अधिकारी शामिल रहते थे ।

जब भी मैं कभी बाहर निकलता था तो ल्हासा की लगभग सारी जनता मुझे देखने के लिए राजधानी की सड़कों पर आ जाती थी। उस समय एक विस्मय भरी चुप्पी हवा पर छायी रहती थी और अक्सर कई लोगों की आंखों में आंसू रहते थे। वे उस समय या तो सिर झुकाए खड़े होते थे या जमीन पर मेरे सामने साष्टांग कर रहे होते थे। यह जीवन मेरे उस जीवन से बहुत अलग था जिससे मैं एक छोटे लड़के के रूप में परिचित था। मैं छह जुलाई 1935 को पैदा हुआ। तब मेरा नाम ल्हामो थोंडुप था। इसका अर्थ था 'मनोकामना पूरी करने वाली देवी'। आमतौर पर तिब्बती लोगों, स्थानों और चीजों के नाम काफी सुंदर होते हैं। उदाहरण के लिए तिब्बत की सबसे महत्वपूर्ण नदी सांग्पो का अर्थ है पवित्र करने वाली। यह नदी बाद में भारत पहुंच कर ब्रह्मपुत्र बन जाती है। मेरे गांव का नाम था ताक्तसेर जिसका अर्थ है दहाड़ता हुआ चीता। यह एक छोटा और गरीब लोगों का गांव था जो एक पहाड़ी की चोटी पर था जहां से एक बड़ी घाटी दिखाई देती थी। इसके घास वाले मैदान में न तो लोग रहते थे और न वहां लंबे समय से खेती होती थी। केवल बंजारे वहां अपने जानवर चराते थे। इसका कारण यह था कि यहां मौसम बहुत भरोसेमंद नहीं रहता था। मेरे बचपन के आरंभिक दौर में मेरे परिवार में लगभग बीस लोग थे जो अपनी जमीन के भरोसे बहुत मुश्किल से गुजारा चला पाते थे।

ताक्तसेर तिब्बत के उत्तर पूर्व वाले दूर कोने में आम्दो प्रांत में बसा है। भौगोलिक नजर से तिब्बत को चार मुख्य क्षेत्रों में बांटा जा सकता है। उत्तर पूर्व में चंगथांग का बर्फीला रेगिस्तान है जो पूरब से पश्चिम तक 500 से 800 मील चौड़ा है। इस इलाके में हरियाली लगभग न के बराबर है और यहां केवल बंजारे रहते हैं जिन्हें कठिन जिंदगी जीने की आदत है। चंगथांग के दक्षिण में तिब्बत के ऊ और त्सांग प्रांत हैं।

इस क्षेत्र के दक्षिण और दक्षिण पश्चिम में हिमालय पर्वत की ऊंची-ऊंची चोटियां हैं। ऊत्सांग के पूरब में खम प्रांत है जो तिब्बत का सबसे अधिक उपजाऊ और इस कारण सबसे अधिक आबादी वाला प्रांत है। खम के

उत्तर में आम्दो प्रांत है। खम और आम्दो की पूर्वी सीमाओं पर तिब्बत की राष्ट्रीय सीमा है जो चीन से मिलती है। मेरे जन्म के समय एक मुस्लिम योद्धा मा-बुफेंग कुछ समय पहले ही आम्दो में अपनी एक क्षेत्रीय सरकार बनाने में सफल हुआ था जो चींनी गणराज्य के प्रति वफादार थी।

मेरे माता-पिता बहुत छोटे किसान थे। वे खेतिहर मजदूर नहीं थे क्योंकि वे किसी मालिक के यहां नौकरी नहीं करते थे। लेकिन फिर भी किसी भी मायने में वे रईस लोग नहीं थे और न शाही रिश्तों से जुड़े हुए थे। उन्होंने थोड़ी सी जमीन पट्टे पर ली हुई थी और उस पर वे खुद ही काम करते थे। तिब्बत में मुख्य फसल जौ और कुट्ट की होती है। इसके अलावा मेरे माता पिता आलू भी उगाते थे। लेकिन कई बार ऐसा होता था कि ओले गिरने या सूखा पड़ने से उनके पूरे साल की फसल नष्ट हो जाती थी और सारी मेहनत बेकार जाती थी। उनके पास कुछ जानवर भी थे जो अपेक्षाकृत आय का अधिक भरासेमंद स्त्रोत थे। मुझे याद है कि हमारे पास पांच या छह 'ज़ोमो' गाय थीं। 'ज़ोमो' याक और गाय का संकर मादा होता है और दूध के लिए इसे पाला जाता है। इनके अलावा उनके पास कई मुर्गियां भी थीं जो इधर-उधर खुली घूमती थीं। मेरे परिवार के पास तकरीबन 80 भेड़ों और बकरियों का एक झुंड भी था। मेरे पिता के पास दो या तीन घोड़े हमेशा रहते थे जिनसे उन्हें बहुत लगाव था। इस सबके अलावा हमारे परिवार के दो याक भी हुआ करते थे।

इंसान को कुदरत की ओर से मिली भेंटों में से याक का एक विशेष स्थान है। दस हजार फुट से अधिक ऊंचाई पर यह जानवर आराम से जिंदा रह सकता है और इसी कारण तिब्बत के लिए यह बहुत माफिक है। इससे कम उंचाई वाले इलाकों में यह जीवित नहीं रह सकता। ऐसे इलाकों में किसानों के लिए यह जानवर बोझा ढोने तथा मांस और दूध के स्त्रोत के रूप में बहुत उपयोगी है। (याक की मादा को 'द्री' कहा जाता है)। याक के अलावा जौ तिब्बत के भोजन का मुख्य हिस्सा है। मेरे माता पिता इसकी भी खेती करते थे। जौ को भूनकर पीसने के बाद यह महीन आटा बन जाता है जिसे तिब्बत में 'त्सांपा' यानी सत्तू कहा जाता है। तिब्बत में ऐसे बहुत कम मौके होते हैं जब भोजन में त्सांपा न शामिल किया जाए। और अब निर्वासन में भी यह मेरे भोजन में शामिल रहता है। इसे सीधे आटे के तौर पर भी खाया जा सकता है। पहले इसे चाय, दूध, दही या फिर 'छांग'

(तिब्बती बीयर) में घोला जाता है और तब इसे खाया जा सकता है। मुझे दूध के साथ त्सांपा लेना अच्छा लगता है। एक गोल कटोरे में उंगलियों की मदद से त्सांपा और चाय को मिलाया जाता है और कटोरे के साथ-साथ हाथ को घुमाते हुए इसकी छोटी-छोटी गोलियां बना ली जाती हैं। इसे गाढ़ा बनाकर भी इस्तेमाल किया जाता है। तिब्बतियों को यह बहुत स्वादिष्ट लगता है।

हालांकि मैंने देखा है कि बहुत कम विदेशी ऐसे होते हैं जो इसे सचमुच पसंद करते हैं। चीनी तो इसे बिल्कुल ही पसंद नहीं करते।

हमारे परिवार के खेतों में जो कुछ उगता था वह हमारे परिवार में ही खंप जाता था। कई बार मेरे पिता यहां से आने जाने वाले बंजारों को अनाज या भेड़ें देकर जरूरत की कुछ चीजें उनसे ले लेते थे। या फिर वह निकटवर्ती कस्बे सिलिंग में जा कर ऐसा लेनदेन करते थे। सिलिंग हमारे इलाके का निकटतम कस्बा था और हमारे आम्दो प्रांत की राजधानी था। वहां पहुंचने के लिए घोड़े पर लगभग तीन घंटे चलना होता था। इन दूर दराज के इलाकों में व्यापार के लिए आमतौर पर सामान की अदला बदली का ही तरीका अपनाया जाता था। इसलिए मेरे पिता कई बार फसल के फालतू हिस्से के बदले में चाय, चीनी, सूती कपड़ा, कुछ जेवरात और कभी कभी लोहे के बर्तन खरीदा करते थे। कई बार ऐसा होता था कि यात्रा के बाद वे नया घोड़ा लेकर आते थे। तब उनके चेहरे पर रौनक देखने वाली होती थी। घोड़ों के मामले में वे बहुत पारखी थे और अपने इलाके में उन्हें घोड़ों के डाक्टर के रूप में काफी सम्मान मिलता थाः।

जिस घर में मैं पैदा हुआ वह तिब्बत के उस इलाके का एक ठेठ किस्म का घर था। पत्थर और गारे की चिनाई से बने हुए इस घर की छत सपाट थी

और यह एक वर्गाकार जमीन पर तीन तरफ से बना हुआ था। इस घर की एक विशेषता इसके परनाले थे जो ज्यूनिपर की लकड़ी से बने हुए थे और बारिश के पानी की निकासी का काम करते थे। इस वर्गाकार घर का खुला हिस्सा चौथी तरफ था जो तीन ओर से घिरा हुआ एक छोटा सा आंगन था। इस आंगन के बीचों बीच एक ऊंचा लकड़ी का खंभा था जिस पर ऊपर से लेकर नीचे तक बंधा हुआ एक लंबा प्रार्थना ध्वज था। उस पर प्रार्थनाएं छपी हुई थीं।

जानवरों को घर के पिछवाड़े बांधा जाता था। घर में छह कमरे थे एक रसोई, जहां हम लोग ज्यादा समय इकट्ठा बैठते थे; प्रार्थना का एक कमरा जिसमें एक छोटा सा मंदिर बना हुआ था जिसके सामने हम हर सुबह पूजा के लिए बैठते थे; एक कमरा मेहमानों के लिए था; एक भंडार वाला कमरा था जिसमें खाने पीने का सामान इकट्ठा रहता था; और एक गौशाला थी जिसमें हमारे दूध वाले जानवर बांधे जाते थे। हम बच्चों के लिए कोई अलग से कमरा नहीं था। जब मैं गोद में था तब मैं अपनी मां के साथ सोता था। बाद में रसोई में सोता था जहां चूल्हे की गर्मी होती थी। फर्नीचर के नाम पर हमारे घर में कुर्सियां या पलंग नहीं थे। पलंगों के बजाए हमारे माता पिता के कमरों और मेहमानों के कमरे में ऊंचे चबूतरे थे जिन पर बिस्तर लगाए जाते थे। हमारे घर में कई लकड़ी वाली अलमारियां थीं जिन पर खूबसूरत रंग किया हुआ था। फर्श भी लकड़ी के थे और लंबे फट्टों के बने हुए थे।

मेरे पिता मझोले कद के थे और बहुत गुस्से वाले थे। मुझे याद है कि एक बार मैंने उनकी मूंछ को खींच दिया था और उन्होंने मुझे एक जोरदार झापड़ लगाया था। लेकिन वे बहुत नेकदिल इन्सान थे और कभी उन्होंने किसी के लिए अपने मन में कड़वाहट नहीं रखी।

6

आज़ाद शरणार्थी

मुझे एक घटना के बारे में बताया गया जो मेरे जन्म के समय घटी थी। मेरे पैदा होने से कुछ समय पहले वे बहुत बीमार पड़ गए थे और किसी को समझ नहीं आ रहा था कि उनकी बीमारी क्या है। लोगों को डर लग

रहा था कि कहीं यह बीमारी उनकी जान न ले ले। लेकिन जिस दिन में पैदा हुआ अचानक उसी दिन से वे ठीक होने शुरू हो गए। उनके ठीक होने का कोई स्पष्ट कारण नहीं था। यह भी नहीं कहा जा सकता था कि वे पिता बनने की खुशी से ठीक हो रहे थे क्योंकि मेरे पैदा होने से पहले मेरी मां पहले ही आठ बच्चों को जन्म दे चुकी थीं जिनमें से चार जीवित थे। तिब्बत में हमारे जैसे किसान परिवारों में बड़े परिवार का रिवाज़ था क्योंकि यह परिवार के लिए जरूरी था। मेरी मां के कुल मिलाकर सोलह बच्चे पैदा हुए जिनमें से सात जीवित बचे। मेरी यह आत्मकथा लिखे जाने के समय मेरे से बड़े भाई लोबसांग साम्तेन और मेरी सबसे बड़ी बहन सेरिंग दोल्मा जीवित नहीं हैं। लेकिन मेरे दो बड़े भाई, मेरी छोटी बहन और मेरा सबसे छोटा भाई जीवित और स्वस्थ हैं।

यकीनन मेरी मां उन सब लोगों के मुकाबले सबसे दयालु थी जिन्हें मैंने आज तक जाना है। वे सचमुच में एक बहुत अच्छी महिला थीं और मुझे पक्का विश्वास है कि उन्हें जो भी जानता था वह उन्हें प्यार करता था। वे बहुत ही दयालु थीं। मुझे एक बार उनके बारे में एक बात बताई गई। हमारे निकटवर्ती पड़ोसी चीनी इलाके में बहुत भयंकर सूखा पड़ा। इसका नतीजा यह हुआ कि बहुत से चीनी गरीब लोग सीमा पार करके हमारे इलाके में भोजन की तलाश में आ पहुंचे। एक दिन हमारे घर के दरवाजे पर एक चीनी पति पत्नी आए। उनकी गोदी में उनका मरा हुआ बच्चा था। उन्होंने मेरी मां से भोजन मांगा जो मेरी मां ने तुरंत दे दिया। तब मेरी मां ने उस मरे हुए बच्चे की ओर इशारा किया और उनसे पूछा कि क्या वे उसे गाड़ने में मदद चाहते थे? यह बात इशारों में हो रही थी। बाद में जब चीनी दंपत्ति को मेरी मां की बात समझ में आई तो उन्होंने तुरंत सिर हिलाकर मना किया और इशारे से बताया कि वे उस मरे हुए बच्चे को खाना चाहते थे। मेरी मां को इससे बहुत सदमा लगा। उसने तुरंत उन लोगों को घर के अंदर बुलाया और अपने गोदाम में रखा सारा भोजन उन्हें दे दिया। इसका सीधा सा मतलब था कि परिवार के लोगों को भोजन नहीं मिलेगा। लेकिन उनकी यह आदत थी कि उन्होंने दरवाजे पर आए भिखारी को कभी खाली हाथ नहीं लौटाया।

मेरी बहन सेरिंग दोलमा बच्चों में सबसे बड़ी थी। मुझसे वह 18 साल बड़ी थी। मेरे जन्म के समय वह मां को घर चलाने में मदद करती थी और उसने

मेरे जन्म के लिए दाई का काम भी किया था। मुझे मेरे पैदा होने के तुरंत बाद उसने देखा कि मेरी आंखें पूरी तरह खुली हुई नहीं थीं। उसने बिना हिचके अपने अंगूठे से मेरी आंख की गुठलियों को दबाया और मेरी आंखें खोल दीं। सौभाग्य से मुझे कोई चोट नहीं आई। मेरे पैदा होने पर सेरिंग दोल्मा ने ही मुझे मेरे जीवन

का पहला भोजन दिया जो कि परंपरा के अनुसार एक स्थानीय झाड़ी की छाल से बना हुआ होता था। यह माना जाता था कि यह पिलाने से बच्चा स्वस्थ रहेगा। मेरे मामले में इसने सचमुच अपना असर दिखाया। बाद में मेरी बहन ने मुझे बताया कि मैं एक बहुत गंदा बच्चा था। ज्यों ही उसने मुझे पहली बार अपनी बाहों में लिया कि मैंने उसे बुरी तरह गंदा कर दिया। अपने तीन बड़े भाइयों के साथ मेरा विशेष संबन्ध नहीं रहा। थुप्तेन जिग्मे नोरबू जो कि सबसे बड़े भाई थे उन्हें पहले ही निकटवर्ती कुंबुम मठ में ताक्तसेर रिंपोछे के अवतार के रूप में स्वीकार किया जा चुका था। (रिंपोछे शब्द विद्वान और अवतारी लामाओं के लिए प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ है 'अमूल्य व्यक्ति')। कुंबुम मठ हमारे घर से कुछ घंटे की घुड़सवारी की दूरी पर था। उनके बाद उनसे छोटे भाई ग्यालो थोंडुप मुझसे आठ साल बड़े थे। जिस समय मैं पैदा हुआ वह निकटवर्ती गांव के स्कूल में पढ़ते थे। वह स्कूल में ही रहते थे। मुझसे बड़े भाई लोबसांग साम्तेन ही केवल ऐसे थे जो घर में रहते थे। वे मुझसे तीन साल बड़े थे लेकिन बाद में वह भी वह एक लामा बनकर कुंबुम मठ में चले गए। इसलिए मैं घर पर उन्हें बहुत कम देख या जान पाया।

इस तरह किसी को भी यह ख्याल नहीं था कि मैं एक सामान्य बच्चा नहीं था। यह सोचना भी मुश्किल था कि एक ही परिवार में एक से ज्यादा तुलकू पैदा हो सकते हैं। कोई सोच भी नहीं सकता था कि मुझे दलाई लामा घोषित किया जाएगा। हालांकि मेरे पिता का बीमारी से ठीक होना एक शुभ लक्षण था लेकिन इसका कोई बहुत बड़ा अर्थ नहीं निकाला गया। खुद मुझे भी ऐसी कोई जानकारी नहीं थी कि भविष्य में क्या होने

जा रहा है। मेरी आरंभिक दिनों की यादें बहुत सामान्य किस्म की हैं। कई लोग किसी व्यक्ति की आरंभिक यादों को बहुत महत्व देते हैं। लेकिन मैं नहीं देता। जो कुछ मुझे याद है उनमें से एक बात यह है कि कभी बच्चों का एक झुंड आपस में लड़ रहा था और मैं भागकर उस गुट की ओर जा मिला जो कमजोर था। पहली बार जब मैंने ऊंट देखा तो उसकी भी मुझे याद है। मंगोलिया में यह एक सामान्य बात थी। लेकिन कभी कभी लोग ऊंटों को सीमा पार हमारे इलाके में भी ले आया करते थे। यह एक विशाल और शानदार जानवर था जिसे देखकर डर भी लगता था। मुझे यह भी याद है कि एक बार मेरे शौच में कीड़े आ गए थे जो कि एक सामान्य बीमारी थी।

एक बात जिसका मुझे बहुत आनंद आता था वह यह थी कि मैं जब बहुत छोटा था तब मेरी मां मुझे अपने साथ मुर्गियों के बाड़े में अंडे लाने के लिए ले जाती थी। लेकिन मैं वहीं रुका रह जाता था क्योंकि मुझे मुर्गियों को नजदीक से देखना और उनकी तरह आवाजें निकालने में बहुत मजा आता था। बचपन में मेरा एक खास शौक यह था कि मैं एक झोले में कुछ चीजें डालकर उन्हें कंधे पर लटका लेता था और ऐसा नाटक करता था कि मैं एक लंबी यात्रा पर जा रहा था। मैं अक्सर कहा करता था कि 'मैं ल्हासा जा रहा हूं। मैं ल्हासा जा रहा हूं। ल्हासा जाने की बात के अलावा मेरी एक और आदत भी थी

जिसे बाद में विशेष अर्थ दिया गया। मैं खाने की मेज पर हमेशा यह जिद करता था कि मुझे सबसे प्रमुख स्थान पर बिठाया जाए। बाद में इसका अर्थ यह लगाया गया कि मुझे पता था कि मैं एक बड़ा आदमी बनने जा रहा हूं। बचपन में मुझे ऐसे कई सपने भी आते थे जिनका इसी तरह का अर्थ निकाला जा सकता था। लेकिन मैं दावे के साथ यह नहीं कह सकता कि मुझे भविष्य की जानकारी थी। बाद में मेरी मां ने मुझे ऐसी कई बातें बताई जिनसे यह अर्थ निकाला जा सकता था कि मैं कोई बड़ा आदमी था। उदाहरण के लिए मैंने सिवाय अपनी मां के कभी भी किसी को अपने

भोजन का कटोरा छूने नहीं दिया। मुझे नए लोगों से डर भी नहीं लगता था।

इससे पहले कि मैं आपको अपने दलाई लामा के रूप में चुने जाने की कहानी बताऊं मैं आपको तिब्बत में बौद्ध धर्म और उसके इतिहास के बारे में कुछ बताना चाहूंगा। बौद्ध धर्म का सूत्रपात एक ऐतिहासिक पुरुष सिद्धार्थ ने किया था जिन्हें बाद में बुद्ध शाक्यमुनी के रूप में स्वीकार किया गया। वह आज से ढाई हजार वर्ष से भी पहले पैदा हुए थे। उनकी शिक्षाएं, जिन्हें आज धर्म या बौद्ध मत कहा जाता है, तिब्बत में चौथी ईस्वी शताब्दी में पहुंची थीं। तिब्बत के स्थानीय बोन धर्म का स्थान लेने में इन शिक्षाओं को कई सदियां लग गई। लेकिन आखिरकार बौद्ध मत का तिब्बत में इतना अधिक प्रचार हो गया कि वह समाज के हर स्तर पर छा गया। भले ही तिब्बती अपने स्वभाव से बहुत आक्रामक और लड़ाका किस्म के लोग रहे हैं लेकिन धर्म में उनकी बढ़ती हुई रुचि ने हमारे देश को दूसरों से काटकर परे रखने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। इससे पहले तिब्बत का एक बहुत बड़ा साम्राज्य था जिसका पूरे मध्य एशिया में दबदबा था। इसमें उत्तरी भारत का एक बड़ा हिस्सा, नेपाल और भूटान भी शामिल थे। इसमें चीन का भी एक बहुत बड़ा हिस्सा शामिल था। ई. 1763 में तिब्बती सेनाओं ने चीन की राजधानी पर भी अधिकार कर लिया था जहां तिब्बत को टैक्स और दूसरी सुविधाएं देना भी मंजूर किया गया था। लेकिन जब तिब्बतियों की रुचि बौद्ध मत में बढ़ी तो तिब्बत के अपने पड़ोसियों के साथ रिश्ते राजनीतिक रिश्तों के बजाए आध्यात्मिक रिश्तों में बदल गए। चीन के मामले में यह कुछ ज्यादा ही था जहां ये रिश्ते 'पुरोहित-यजमान' रिश्तों में विकसित हो गए। मांचू राजा, जो कि बौद्ध थे, 'दलाई लामा को बौद्ध ज्ञान का राजा' मानते थे।

बौद्ध मत में मूल विचार पारस्परिक अंतर-निर्भरता यानी कारण और प्रभाव के नियमों का है। सरल भाषा में यह नियम रहता है कि किसी भी जीव का जो भी अनुभव होता है वह कार्य और प्रेरणा के माध्यम से होता है। इस तरह से कार्य और अनुभव दोनों के मूल में प्रेरणा ही काम करती है। इसी विचार से बौद्ध मत की चेतना और पुनर्जन्म के सिद्धांत निकलते हैं।

इनमें से पहला नियम कहता है कि क्योंकि कारण से प्रभाव की उत्पत्ति

होती है जो कि फिर से एक नए प्रभाव का कारण बनता है इसलिए चेतना का निरंतर बने रहना आवश्यंभावी है। चेतना निरंतर चलती रहती है

और हर क्षण से अगले क्षण तक अनुभव और ज्ञान बटोरती रहती है। जब शारीरिक मृत्यु का क्षण आता है तो यह माना जाता है कि एक जीव की चेतना पर उसके पिछले अनुभवों, ज्ञान और कार्यों की छाप बनी रहती है। इसे कर्म कहा गया है। इसी तरह से यह कर्म वाली चेतना है जो फिर से एक नए शरीर में जन्म लेती है जो किसी जानवर, मनुष्य या दैवीय शक्ति का हो सकता है।

अगर एक आसान उदाहरण देना हो तो बात कुछ ऐसी होगी कि एक व्यक्ति जिसने अपना जीवन जानवरों को दुख देने में बिताया हो वह अगले जन्म में एक ऐसे कुत्ते के रूप में पैदा हो सकता है जिसका मालिक जानवरों के प्रति क्रूर हो। इसी तरह इस जन्म में किए गए अच्छे कर्म किसी को एक अच्छे रूप में पुनर्जन्म में सहायता देंगे।

बौद्ध यह भी मानते हैं कि क्योंकि जन्म की प्रकृति तटस्थ होती है इसलिए यह संभव है कि जन्म, दुख, मृत्यु और पुनर्जन्म के इस चक्र से मुक्ति पाई जा सके। लेकिन यह केवल तभी संभव है जब सभी बुरे कर्म समाप्त हो जाएं और सांसारिक मोह से भी छुटकारा पा लिया जाए। जब ऐसी स्थिति आती है तो माना जाता है कि चेतन ने पहली मुक्ति पा ली है और उसके बाद अंत में निर्वाण प्राप्त कर सकता है। लेकिन तिब्बती बौद्ध परंपरा के अनुसार जब कोई जीव बुद्ध स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब भले ही वह संसार के कष्टों के चक्र से मुक्त हो गया हो फिर भी उसे दूसरे जीवों के कल्याण के लिए बार-बार तब तक जन्म लेते रहना होता है जब तक कि हर कोई इसी तरीके से निर्वाण नहीं प्राप्त कर लेता।

अब मेरी बात पर आएं। मुझे पिछले 13 दलाई लामाओं का अवतार माना जाता है। इनमें से पहले 1351 ई. में पैदा हुए थे। तिब्बत के दलाई लामा को अवलोकितेश्वर का अवतार माना गया है। अवलोकितेश्वर यानी 'चेनरेज़ी' को करुणा के बोद्धिसत्व माना जाता है जो श्वेत कमल के धारक हैं। इस तरह से मुझे 'चेनरेज़ी' का भी रूप माना जाता है। इस परंपरा में मेरा क्रम 74 वां है जिसकी शुरुआत शाक्यमुनि बुद्ध के काल में एक ब्राह्मण लड़के से हुई थी। मुझे कई बार यह सवाल पूछा जाता है कि क्या मैं इस सबमें विश्वास करता हूं? इसका उत्तर देना बहुत आसान नहीं है। लेकिन आज जब मैं 56 साल का हो चुका हूं तब अपने वर्तमान जीवन के अनुभवों को देखते हुए और अपने बौद्ध विश्वासों के आधार पर मुझे यह स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होगी कि मैं पिछले 13 दलाई लामाओं, चेनरेज़ी और स्वयं बुद्ध से संबंधित हूं।

अभी मैं किसी तरह तीन साल का भी नहीं हुआ था कि हमारे कुंबुम मठ में एक खोजी दल आया जिसे तिब्बत की सरकार ने दलाई लामा के नए अवतार की खोज के लिए भेजा था। वह दल यहां इसलिए आया था क्योंकि उसे ऐसे कई संकेत मिले थे। इनमें से एक संकेत का संबंध मेरे पूर्ववर्ती तेरहवें दलाई लामा थुप्तेन ग्यात्सो के शव से था जिनकी मृत्यु 1933 में हुई थी। तब वे 57 साल के थे। उनके शव को सुरक्षित रखने वाला लेप लगाकर बैठने की मुद्रा में एक
आसन पर रखा गया था।

उनके सिर की दिशा दक्षिण में थी लेकिन वह अपने आप उत्तर पूर्व की ओर मुड़ गया था। इसके कुछ समय बाद उनके राजकार्य को देखने वाले राजप्रतिनिधि (रीजेंट) को, जो कि स्वयं एक वरिष्ठ लामा थे, एक बोध हुआ। दक्षिणी तिब्बत में जब उन्होंने पवित्र झील ल्हामोई ल्हात्सो में देखा तो उन्हें तिब्बती लिपि के तीन अक्षर अ, क, और म दिखाई दिए। उसके बाद उन्हें एक तीन मंजिला मठ का भवन दिखाई दिया जिसकी छत फिरोजी और सुनहरी थी तथा मठ से पहाड़ी की ओर जाता हुआ एक

रास्ता भी दिखाई दिया। अंत में उन्हें एक छोटा सा घर दिखाई दिया जिसमें बहुत अजीव किस्म का परनाला लगा हुआ था। उन्हें यह पूरा विश्वास था कि अ का संबंध आम्दो प्रांत से था जो उत्तर पूर्वी तिब्बत में है। यही कारण था कि उन्होंने खोजी दल को उधर भेजा था।

खोजी दल जब कुंबुम मठ पहुंचा तो उसके सदस्यों को यह विश्वास हो चुका था कि वे सही रास्ते पर हैं। उन्हें ऐसा लग रहा था कि अगर 'अ' अक्षर का संबंध आम्दो से है तो 'क' का मतलब है कुंबुम मठ जो सचमुच में तीन मंजिला था और उसकी छत फिरोजी थी। अब उन्हें पहाड़ी को ढूंढना था और उस घर को जिसमें एक खास किस्म का परनाला लगा हुआ था। इसलिए उन्होंने आसपास के गांवों में अपनी खोज शुरू की। जब उन्होंने मेरे माता पिता के घर की छत पर ज्यूनिपर की लकड़ी से बना हुआ परनाला देखा तो उन्हें यह अहसास हो गया कि नया दलाई लामा वहां से बहुत दूर नहीं है। लेकिन फिर भी इसके बजाए कि वे वहां अपने आने के कारण का खुलासा करते, उन्होंने उस घर में केवल एक रात रुकने का आग्रह किया। खोजी दल के नेता क्यूत्सांग रिंपोछे थे जो जानबूझकर एक नौकर का भेष बनाए हुए थे। उन्होंने अपनी लगभग पूरी शाम उस घर के सबसे छोटे बच्चे के साथ खेलने और उसे देखने समझने में बिताई।

बच्चे ने उसे देखकर पहचान लिया और 'सेरा-लामा, सेरा लामा' कहते हुए उसे संबोधित किया। असल में क्यूत्सांग रिंपोछे का मठ सेरा ही था। अगले दिन वे चले गए लेकिन कुछ दिन बाद ही वे एक आधिकारिक प्रतिनिधिमंडल के रूप में वापस आ गए। इस बार वे अपने साथ ऐसी कई चीजें लाए थे जो मुझसे पहले वाले दलाई लामा की थीं। इनके अलावा वे ऐसी कई चीजें भी लाए थे जो उनसे मिलती जुलती थीं लेकिन असली नहीं थीं। लेकिन हर चीज के मामले में इस छोटे बच्चे ने यह कहते हुए सही चीज पर हाथ रखा, 'यह मेरी है। यह मेरी है।' यह सब खोजी दल को यह समझाने के लिए काफी था कि उन्होंने नए अवतार को ढूंढ लिया है। लेकिन इससे पहले कि वे अपना अंतिम फैसला करें उन्हें एक और बच्चे की भी जांच करनी थी। लेकिन बहुत जल्दी ही ताक्तसेर के इस बच्चे को दलाई लामा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। यह बच्चा मैं ही था।

यह कहना जरूरी नहीं कि इनमें से अधिकांश घटनाएं मुझे याद नहीं हैं

क्योंकि उस समय में बहुत छोटा था। मुझे केवल एक व्यक्ति की छवि याद है

जिसकी आंखें बहुत पैनी थीं। बाद में मुझे पता चला कि इन आंखों वाला व्यक्ति केनरप तेनज़िन था जिन्होंने बाद में मुझे लिखना सिखाया।

खोजी दल ज्योंही इस नतीजे पर पहुंचा कि ताक्त्सेर का यह बच्चा ही दलाई लामा का नया अतवार है उसने ल्हासा के रीजेंट को यह समाचार भेजा। इस बारे में सरकारी पुष्टि के आने में कई सप्ताह का समय लगने वाला था। तब तक मुझे घर में ही रहना था। इसी दौरान मा बूफेंग ने जो कि स्थानीय गवर्नर था, मुसीबतें खड़ी करनी शुरू कर दीं। लेकिन आखिरकार मुझे मेरे माता पिता कुंबुम मठ ले गए जहां एक सुबह एक विशेष समारोह में मेरा अभिषेक किया गया। यह मुझे खास तौर से याद है क्योंकि मैं इस बात से बहुत हैरान था कि मुझे सूरज उगने से पहले ही जगाया गया था और मुझे नए कपड़े पहनाए गए थे। मुझे यह भी याद है कि मुझे एक सिंहासन पर बैठाया गया था।

यह ऐसा समय था जब मेरी जिंदगी का बहुत दुखद अध्याय शुरु हुआ। मेरे माता पिता बहुत देर तक मेरे साथ नहीं रह पाए और जल्दी ही मैं एकदम नए और अपरिचित वातावरण में खुद को अकेला पाने लगा। एक छोटे बच्चे के लिए अपने मां बाप से इस तरह अलग रहना सचमुच बहुत कठिन होता है। लेकिन फिर भी मठ के जीवन में दो ऐसी बातें थीं जो मेरे लिए राहत वाली थीं। पहली तो यह कि मुझसे बड़ा भाई लोबसांग साम्तेन पहले से ही वहीं रह रहा था। हालांकि मेरा बड़ा भाई मुझसे केवल तीन साल बड़ा था लेकिन उसने मेरा बहुत ध्यान रखा और हम जल्दी ही अच्छे दोस्त बन गए। दूसरी अच्छी बात यह थी कि उसका अध्यापक एक बहुत दयालु बुजुर्ग भिक्षु था जो अक्सर मुझे अपने चोगे के अंदर बिठाए रखता

था। मुझे याद है एक बार उसने मुझे एक आडू भी दिया था। मगर इस सबके बावजूद ज्यादा समय मैं दुखी रहता था। मुझे यह नहीं पता था कि दलाई लामा होने का मतलब क्या है। मुझे सिर्फ यही पता था कि मैं दूसरे कई छोटे बच्चों की तरह एक छोटा बच्चा था। यह कोई नई बात नहीं थी कि कोई बच्चा इतनी छोटी उम्र में ही मठ में दाखिल हो जाए। इसलिए मेरे साथ भी वैसा ही व्यवहार हो रहा था जैसा कि दूसरे बच्चों के साथ होता था। एक दुखद याद्दाश्त का संबंध मेरे एक चाचा से था जो एक भिक्षु : थे और कुबुंम में रहते थे। एक शाम जब वह अपनी प्रार्थनाएं पढ़ रहे थे तो मैंने उनकी किताब के पन्ने गडमड कर दिए। तब भी धार्मिक किताबें आज की तरह खुले कागजों की होती थीं और मेरी शरारत से वे कागज उड़कर इधर उधर फैल गए। तब मेरे चाचा ने मुझे उठाया और एक करारा थप्पड़ मेरे मुंह पर जड़ दिया। वे बहुत गुस्से में थे और मैं बहुत डरा हुआ। उसके बाद कई वर्ष तक मैं उनके काले और चेचक के दाग वाले चेहरे और डरवानी मूछों से भयभीत रहा। जब भी वे कहीं मुझे मिलते तो मैं बहुत डर जाता था।

जब यह स्पष्ट हो गया कि मैं फिर से अपने माता पिता के साथ रह सकूंगा और हम लोग ल्हासा जाएंगे तो मैं ऐसे दिन की उत्सुकता के साथ इन्तजार करने लगा। दूसरे बच्चों की तरह में भी यात्रा के विचार से ही बहुत खुश था।

12

आज़ाद शरणार्थी

लेकिन अगले लगभग 18 महीने तक यात्रा शुरू नहीं हुई क्योंकि मा-बूफेंग मुझे तब तक ल्हासा ले जाने के लिए अनुमति देने को तैयार नहीं था जब तक उसे ढेर सारा पैसा न. दिया जाए। जब उसे पैसा दिया गया तो उसने और पैसे की मांग खड़ी कर दी। यह बात अलग है कि उसे और धन नहीं दिया गया। इस तरह केवल 1939 की गर्मियों में ही मैं राजधानी के लिए रवाना हो सका।

आखिरकार यह खास दिन आ ही गया। यह मेरे चौथे जन्म दिन के एक सप्ताह के बाद की बात है। मैं आशा से भरा कितना प्रफुल्लित था यह

मुझे आज भी याद है। हमारा दल बहुत बड़ा था। इसमें न केवल मेरे माता-पिता और मेरे भाई लोबसांग थे बल्कि हमारे दल में खोजी दस्ते के सभी लोग और कई तीर्थयात्री भी थे जो हमारे साथ हो लिए थे। हमारे काफिले में कई सरकारी अफसर भी थे और कई मार्गदर्शक और खच्चर वाले भी थे। यह वे लोग थे जिन्होंने तिब्बत के दूर दराज के रास्तों पर यात्राओं में हिस्सा लिया था और किसी भी लंबी यात्रा में उनकी अनुपस्थिति अकल्पनीय थी। इन लोगों को बहुत अच्छी तरह पता था कि किस नदी को कहां से पार करना चाहिए और किस दर्रे को पार करने में कितना समय लगता है। कुछ दिन की यात्रा के बाद हम लोग उस इलाके से बाहर हो गए जिसपर माबुफेंग का नियंत्रण था। उसके बाद तिब्बती सरकार ने आधिकारिक तौर पर यह घोषणा कि उसने मुझे दलाई लामा के रूप में स्वीकार कर लिया है। यहां से हम लोग दुनिया के सबसे सुंदर और दुर्गम ग्रामीण इलाके में प्रवेश कर गए। इस इलाके में विशालकाय पर्वत थे जो बहुत बड़े-बड़े मैदानों को घेरे हुए थे। इन पर्वतों पर हम लोग किसी चींटियों की सेना की तरह चल रहे थे। कई बार हमारे रास्ते में ऐसे दरिया आए जो बर्फ के पिघलने से बने थे और शोर मचाते जल में से हमें पार होकर जाना पड़ा। थोड़े-थोड़े दिनों बाद हम लोग ऐसे छोटे-छोटे गांवों से होकर गुजरते थे जो हरियाली के विशाल सागर में डूबे हुए लगते थे या फिर पहाड़ी के ढलान पर इस तरह से रखे हुए मानो पहाड़ की उंगली पकड़कर लटक रहे हों। रास्ते में कई बार हमने ऐसे मठ भी देखे जो किसी पहाड़ की ऐसी चोटी पर बने होते थे जहां किसी के रहने की कल्पना भी कठिन थी। लेकिन ज्यादातर रस्ता बंजर और मैदानी था जहां कई बार धूल से लदी हुई हवा और बर्फ के तूफान हमें प्रकृति की असली ताकत का परिचय देते थे।

ल्हासा तक की यह यात्रा तीन महीने चली। इस यात्रा के बारे में मुझे बहुत कुछ याद नहीं है सिवाय इसके कि हर चीज मेरे लिए हैरान करने वाली थी। द्रोंग (जंगली याक) के बड़े-बड़े झुंड जो मैदानों में फैले होते थे, कियांग (जंगली गधा) के छोटे छोटे झुंड और कभी कभी गोवा और नावा छोटे हिरणों के झुंड जो इतनी तेजी से हवा में फुदकते हुए चलते थे कि उनके भूत होने का छलावा लगता था। रास्ते में मुझे कई बार सीटी मारने वाली चिड़ियों के झुंड भी दिखे जो मुझे बहुत अच्छे लगते थे।

रास्ते के ज्यादातर हिस्से में मैं लोबसांग साम्तने के साथ एक पालकी में सवार रहा

जो दो खच्चरों पर लदी रहती थी और जिसे 'ट्रेलजाम' कहा जाता है। रास्ते भर हम दोनों आपस में बहस करते रहे और झगड़ते रहे। ठीक दूसरे बच्चों की तरह। कई बार नौबत मुक्केबाजी पर जा पहुंचती। इससे कई बार हमारी सवारी के उलटने का खतरा भी पैदा हो गया। ऐसे मौके पर पालकी को चलाने वाला व्यक्ति खच्चरों को रोक देता और मेरी मां को बुलाता। जब वे भीतर झांककर देखते तो हमेशा उन्हें एक ही चीज देखने को मिलती लोबसांग साम्तेन रो रहा होता और मैं मजे से जीत का एहसास लिए घमंड से बैठा होता। हालांकि लोबसांग साम्तेन मुझसे बड़ा था लेकिन मैं उसके मुकाबले ज्यादा आक्रामक था। भले ही हम दोनों आपस में बहुत अच्छे दोस्त थे लेकिन इसके बावजूद जब भी हम दोनों इकट्ठे होते तो हमारे लिए अच्छा व्यवहार करना संभव नहीं था। हममें से एक या दूसरा कुछ न कुछ ऐसी बात कह देता जिससे बहस शुरू हो जाती और बात मुक्केबाजी और आंसुओं तक पहुंच जाती। लेकिन हर बार आंसू उसके हिस्से आते, मेरे नहीं। लोबसांग साम्तेन दरअसल इतनी अच्छी प्रकृति का था कि वह कभी भी अपनी ताकत का मेरे खिलाफ इस्तेमाल नहीं करता था।

आखिरकार हमारा कारवां ल्हासा के निकट पहुंचने लगा। तब तक पतझड़ का मौसम शुरू हो गया था। जब हम ल्हासा से कुछ मील की दूरी पर थे तब वरिष्ठ अधिकारियों का एक दल हमसे मिलने आया और हमारे काफिले को दयोगूयांग मैदान तक ले गया। यह मैदान राजधानी ल्हासा से दो मील की दूरी पर था। वहां पहले से ही तंबुओं का एक शहर जैसा बनाया हुआ था। इसके ठीक बीचों बीच सफेद रंग की एक विशालकाय छोलदारी बनी हुई थी जिसे माचा-चेन्मों यानी 'विशाल मोर' कहा जाता है। मुझे यह काफी विशालकाय लगी। इसके भीतर लकड़ी का एक बड़ा

सिंहासन था जिसे विशेष तौर पर नन्हें दलाई लामा के स्वागत के लिए वहां लाया गया था।

यहां एक विशेष समारोह हुआ जो पूरा दिन चला। इसमें मुझे विधिवत तौर पर देश के लोगों के आध्यात्मिक नेता का पद दिया गया। लेकिन इस समारोह के बारे में मेरी याददाश्त बहुत धुंधली है। मुझे बस यह अहसास है कि मुझे घर पहुंचने जैसा लग रहा था और मेरे आसपास लोगों की विशाल भीड़ थी। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि इतने सारे लोगों की भीड़ भी हो सकती है। इस पूरे दौर में मेरा व्यवहार हर मायने में बहुत अच्छा रहा। खासतौर से एक चार साल के बच्चे के रूप में। यहां तक कि मैंने उन दो बहुत वरिष्ठ भिक्षुओं के साथ भी अच्छा व्यवहार किया जो यह जांचने के लिए आए थे कि मैं वास्तव में 13 वें दलाई लामा का अवतार हूं। पूरे समारोह के बाद मुझे और लोबसांग साम्तेन को नोरबूलिंका महल ले जाया गया जो ल्हासा के पश्चिम में है।

नोरबूलिंका का अर्थ है 'जवाहरातों का बगीचा'। आम तौर पर इस महल को दलाई लामा के ग्रीष्म कालीन महल के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। लेकिन रीजेंट ने मुझे वहां अगले साल तब तक ठहराने का फैसला किया जब तक कि पोताला महल में विधिवत तौर पर मेरी ताजपोशी नहीं हो जाती।

14

आज़ाद शरणार्थी

पोताला महल तिब्बत सरकार का मुख्यालय था। इस दौरान मेरा वहां रहना जरूरी नहीं था। उनका यह फैसला बहुत अच्छा सिद्ध हुआ क्योंकि नोरबूलिंका इन दोनों महलों में से ज्यादा अच्छा और लुभावना था। यह महल बगीचों से घिरा हुआ था और इसमें छोटे छोटे भवन थे जिनमें काफी रोशनी और ताजी हवा रहती थी। दूसरी ओर पोताला जो कि शहर से बहुत दूरी पर ऊंची पहाड़ी पर दिखाई देता था, भीतर से बहुत अंधेरा, ठंडा और उदासी भरा था।

अगला साल बहुत आनंददायक रहा क्योंकि इस दौरान मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं थी और भाई के साथ खेलने और माता-पिता से लगातार मिलते रहने की पूरी छूट थी। लेकिन यह आखरी मौका था जब मुझे इस तरह की खुली आजादी मिली थी ऐसी आजादी जो इसके बाद फिर कभी नहीं मिली।

-2-

सिंहासन

ल्हासा में अपनी पहली सर्दियों के बारे में मुझे बहुत कम याद है। लेकिन एक चीज ऐसी है जो मेरे मन में गहरे तक बैठी हुई है। मेरे साथ जुड़े हुए नामग्याल मठ में साल के आखिरी महीने में छम नृत्य की परंपरा है। इसमें मठ के लामा अपने नृत्य के माध्यम से पिछले वर्ष की बुरी आत्माओं को दूर भगाते हैं। लेकिन यह मौका आने तक अभी मुझे आधिकारिक तौर पर गद्दी पर नहीं बैठाया गया था। इसलिए यह उचित नहीं समझा गया कि मैं पोताला महल में जाकर इस नृत्य को देख सकूं। लेकिन 'लोबसांग साम्तेन को मेरी मां अपने साथ ले गई। यह मेरे लिए बहुत ईर्ष्या पैदा करने वाली बात थी। जब वह उस शाम देरी से लौटा तो उसने मुझे नर्तकों की लंबी छलांगों और उनके झूमते हुए नृत्य की बातें बता बताकर मुझे खूब चिढ़ाया।

अगले साल यानी 1940 में मैं लगातार नोरबूलिंका में ही रहा। उस साल वसंत और गर्मी के महीनों में मुझे अपने माता-पिता के साथ लगातार रहने का मौका मिला। मुझे दलाई लामा के रूप में चुने जाने पर उन्हें अपने आप ही तिब्बत के सभ्रांत परिवारों में शामिल कर लिया गया तथा उन्हें काफी सारी संपत्ति भी दी गई। मेरे वहां रहने वाले दिनों में उन्हें भी महल के अहाते में एक घर में रहने की हर साल छूट मिलती थी। उन दिनों मैं अक्सर अपने एक अनुचर के साथ चोरी छिपे उनसे मिलने चला जाया करता था। आम तौर पर मुझे इसकी अनुमति नहीं थी। लेकिन मेरी जिम्मेदारियां निभाने वाले रीजेंट मेरी इस तरह की गुपचुप यात्राओं की

अनदेखी कर दिया करते थे। हालांकि मेरे व्यवहार के बारे में मुख्य जिम्मेदारी उनकी ही थी। मुझे आमतौर पर खाने के समय माता-पिता के साथ होना ज्यादा अच्छा लगता था। इसका कारण यह था कि एक भिक्षु बालक होने के नाते मुझे कुछ खास तरह के भोजन, जैसे अण्डे और सूअर का मांस खाने की मनाही थी। इसलिए मैं ऐसी चीजें केवल अपने माता पिता के घर में ही खा सकता था। मुझे याद है कि एक बार मेरे वरिष्ठ अधिकारियों में से एक

ग्योप केंपो ने मुझे अंडे खाते हुए देख लिया था। उन्हें इसका बहुत सदमा लगा। और मुझे भी। मैंने चिल्लाकर उन्हें वहां से चले जाने को कहा।

मुझे याद है एक और मौके पर जब मेरे पिता चटखारे लेकर सुअर का मांस खा रहे थे तब मैं उनके सामने एक छोटे कुत्ते की तरह बैठा उन्हें निहार रहा था। इस उम्मीद से कि शायद वह मुझे भी थोड़ा सा मांस दे दें। और उन्होंने मुझे दिया भी। यह सचमुच बहुत स्वादिष्ट था। कुल मिलाकर ल्हासा में मेरा पहला साल बहुत हंसी खुशी के साथ बीता। मैं अभी भी भिक्षु नहीं बन पाया था और अभी मुझे बहुत सारी पढ़ाई करनी थी। उधर लोबसांग साम्तेन के लिए भी यह वर्ष बहुत मजेदार रहा क्योंकि कुंबुम से पढ़ाई छूटने के बाद उसे उस साल स्कूल जाने से छुट्टी मिल गई थी। 1940 की सर्दियों में मुझे पोताला महल ले जाया गया जहां मुझे सरकारी तौर पर तिब्बत के धार्मिक नेता के रूप में गद्दी पर बैठाया गया। उस समारोह के बारे में मुझे कोई खास बात अच्छी तरह याद नहीं है। सिर्फ इस बात को छोड़कर कि मुझे उस दिन पहली बार सिंहासन के ऊपर बैठाया गया था जो लकड़ी का एक विशाल आसन था और जिसमें तरह-तरह के जवाहरात लगे हुए थे। यह आसन पोताला महल के पूर्वी हिस्से के मुख्य दरबार हाल सी-शी फुत्सोक में रखा हुआ था। दरबार के इस नाम का अर्थ है 'आध्यात्मिक और सांसारिक पुण्य कर्मों का कक्ष'।

उसके तुरंत बाद ही मुझे शहर के बीचों बीच बने हुए जोखांग मंदिर ले जाया गया जहां मुझे एक नये भिक्षु के रूप में दीक्षा दी गई। इस समारोह

के दौरान मेरे बाल काटे गए जिसे तिब्बती में टाफ्यू कहा जाता है। इसके बाद मुझे हमेशा घुटे हुए सिर और भिक्षुओं के मेरून (लाख जैसे) रंग वाले चोगे में रहने का निर्देश था। इस समारोह के बारे में भी मुझे कुछ खास याद नहीं है सिवाय इसके कि समारोह के दौरान जब मैंने रंगबिरंगे परिधानों में सजे हुए नृतकों को देखा तो मैं बाकी सब कुछ भूल कर उत्सुकता के साथ लोबसांग साम्तेन से बोला, "अरे देखो वहां क्या है"।

इस समारोह में रेलिंग रिंपोछे ने मेरे बालों की लटें कार्टी। उन्हें मेरे वयस्क होने तक राज्य का कार्यकारी प्रधान यानि रीजेंट नियुक्त किया गया था। इसके अलावा उन्हें मेरा प्रधान शिक्षक भी नियुक्त किया गया था। शुरू-शुरू में मैं उनके सामने बहुत सावधानी भरा व्यवहार करता था। लेकिन जल्दी ही मैंने उन्हें पसंद करना शुरू कर दिया। उनके नैन नक्ष बहुत प्रभावशाली थे। लेकिन मुझे याद है कि उनकी नाक हमेशा बंद रहती थी। वह एक बहुत कल्पनाशील इंसान थे और आम तौर पर बहुत शांत रहते थे तथा कभी गुस्से में नहीं आते थे। उन्हें पिकनिक पर जाने और घोड़ों की सवारी करने का बहुत शौक था। इसका एक नतीजा वह हुआ कि वह मेरे पिता के बहुत अच्छे मित्र बन गए। लेकिन दुर्भाग्य से अपने रींजेंट काल के दौरान वह काफी विवादास्पद व्यक्ति बन गए थे और उनकी सरकार भी काफी भ्रष्ट हो गई थी। उदाहरण के लिए सरकार में ऊंचे-ऊंचे पदों पर आने के लिए पैसे खर्च करना आम बात हो चुकी थी।

सिंहासन

जिस समय मुझे दीक्षा दी गई उस समय एक अफवाह यह फैली हुई थी कि रेलिंग रिंपोछे मेरे बाल काटने के योग्य नहीं है। यह आरोप भी लगाया गया कि उन्होंने ब्रह्मचर्य की कसम को तोड़ा है और इसके कारण वह भिक्षु बने रहने के योग्य नहीं हैं। उनकी इस बात के लिए भी आलोचना हुई कि उन्होंने राष्ट्रीय संसद में उनकी आलोचना करने वाले एक आधिकारी को सजा दी थी। तिब्बती परंपरा के अनुसार मेरा पुराना नाम ल्हामो थोंडुप भी बदल दिया गया और मैंने उनका नाम जाम्फेल येशे

स्वीकार किया और इस तरह मेरा पूरा नाम जाम्फेल नावांग लोबसांग येशे तेनज़िन ग्यात्सो हो गया। रेलिंग रिंपोछे को मेरा प्रमुख अध्यापक नियुक्त किये जाने के अलावा मुझ पर एक कनिष्ठ अध्यापक ताथाग रिंपोछे को भी नियुक्त किया गया जो बहुत अध्यात्मिक, मिलनसार और दयालु व्यक्ति थे। मेरी पढ़ाई के बाद अक्सर वह हल्की-फुल्की बातें और लतीफे भी सुनाते थे जिसमें मुझे बहुत आनंद आता था। बाद में मेरे आंरभिक वर्षों में ही मेरी खोज के लिए गए दल के नेता क्यूतसांग रिंपोछे को अनौपचारिक तौर पर मेरा तीसरा अध्यापक नियुक्त किया गया। वे मुझे तब पढ़ाते थे जब बाकी अध्यापक किसी कारण मौजूद न हों।

क्यूतसांग रिंपोछे मुझे खासतौर से बहुत अच्छे लगते थे। मेरी ही तरह वे भी आम्दो के ही थे। वे इतने दयालु थे कि मैंने कभी उन्हें गंभीरता से नहीं लिया। जब मैं पढ़ रहा होता था तो पढ़ाई में उत्तर देने के बजाय मैं कई बार उनकी गर्दन में बाहें डाल कर लटक जाता था और कहता था, "बस आप ही पढ़ते रहिए"। बाद में जब मैं 19 वर्ष का हो गया और त्रिजांग रिंपोछे को मेरा कनिष्ठ अध्यापक नियुक्त किया गया तब उन्होने त्रिजांग रिंपोछे को चेतावनी दी - थी कि वह मेरे सामने मुस्कराएं नहीं वरना मैं उसका भी फायदा उठाने की कोशिश करूंगा।

लेकिन उस तरह की व्यवस्था बहुत देर नहीं चल पाई। जब मैंने अपना भिक्षु वाला अध्ययन शुरू किया जब रेतिंग रिंपोछे ने रींजेंट वाला पद छोड़ दिया था क्योंकि वह काफी बदनाम हो चुके थे। हालांकि तब मैं छः साल का था लेकिन फिर भी मुझसे यह पूछा गया कि रेलिंग रिंपोछे के स्थान पर किसे नियुक्त किया जाना चाहिए। मैंने ताथाग रिंपोछे का नाम सुझाया। तब वह मेरे वरिष्ठ अध्यापक बना दिए गए और उनके स्थान पर लिंग रिंपोछे को कनिष्ठ अध्यापक नियुक्त किया गया।

ताथाग रिंपोछे तो बहुत भले आदमी थे। लेकिन लिंग रिंपोछे बहुत चुपचाप रहने वाले और सख्त किस्म के व्यक्ति थे और मैं उनसे सचमुच डरा करता था। मैं तो उनके नौकर को भी देखकर डर जाता था। यहां तक कि मुझे जल्दी ही उनके पैरों की आहट की भी पहचान हो गई। इस आहट को सुनकर ही कई बार मेरा दिल धड़कना भूल जाता था। लेकिन आखिरकार मेरी उनके साथ दोस्ती हो गई और हमारे बहुत अच्छे संबंध बन गए। बाद

में 1983 में उनकी मृत्यु तक हम दोनों बहुत अच्छे मित्र बने रहे। वे मेरे बहुत नजदीकी विश्वासपात्र हो गए थे।

18

आज़ाद शरणार्थी

मेरे तीन अध्यापकों के अलावा मेरे लिए तीन अनुचरों की भी नियुक्ति की गई। वे तीनों भिक्षु थे। ये थे छ्योपोन खेंपो जो धार्मिक कर्मकांड के प्रमुख थे, स्योल्पोन खेंपो जो मेरी रसोई के प्रमुख थे तथा सिंपोन खेंपो जो कि मेरे वस्त्र संबंधी मामलों के प्रमुख थे। सिंपोन खेंपो का नाम केनराप तेनज़िन था जो मुझे खोजने के लिए गए दल के सदस्य थे और जिनकी पैनी आंखों ने मुझे बहुत प्रभावित किया था।

जब में बहुत छोटा था तब रसोई के मुखिया के साथ मुझे बहुत प्रेम हो गया था। यह प्रेम इतना अधिक था कि मैं हमेशा उन्हें अपने सामने देखते रहना चाहता था, भले ही मुझे दूर से परदों के बीच में से उनका चोगा दिखता रहे। तिब्बती घरों में आम तौर पर दरवाजे पर लटका परदा ही दरवाजे जैसा काम करता है। सौभाग्य से मेरे इस व्यवहार को वे बर्दाश्त कर लेते थे। वे बहुत दयालु और सादे इंसान थे और तकरीबन पूरी तरह गंजे थे। वे कहानियां सुनाने के मामले में बहुत माहिर नहीं थे। न मेरे साथ खेलने के प्रति उनको कोई उत्साह होता था। लेकिन मुझे इसकी खास फिक्र नहीं थी।

मैं हमेशा इस रिश्ते के बारे में हैरान होकर सोचता रहा हूं। अब कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि शायद यह रिश्ता किसी बिल्ली के बच्चे या किसी दूसरे छोटे जानवर और उस व्यक्ति के बीच वाला रिश्ता था जो उसे खाना खिलाता है। मैं कई बार सोचता हूं कि किसी के लिए खाना लेकर आना उन दोनों व्यक्तियों के बीच संबंधों का एक बहुत बड़ा आधार होता है।

भिक्षु बनने के तुरंत बाद मेरी आरंभिक शिक्षा शुरू हो गई। तब मुझे केवल पढ़ना सिखाया जाता था। मुझे और लोबसांग साम्तेन को इकट्ठे पढ़ाया जाता था। मुझे अपने स्कूल के कमरे बहुत अच्छी तरह याद हैं। उनमें से एक पोताला में था और दूसरा नोरबूलिंका में। आमने-सामने की दीवारों

पर दो चाबुक टंगी रहती थीं। एक पीले रेशम की थी और दूसरी चमड़े की। मुझे बताया गया कि रेशमी चाबुक दलाई लामा के लिए थी और चमड़े वाली दलाई लामा के भाई के लिए। सजा देने के इन यंत्रों ने हम दोनों को बहुत डराया हुआ था। कई बार मेरे अध्यापक जब इन चाबुकों की ओर नजर उठाते थे तो इतने भर से ही मैं डर के मारे कांपने लगता था। लेकिन सौभाग्य से पीली रेशमी चाबुक का कभी इस्तेमाल नहीं हुआ। मगर चमड़े वाली चाबुक को जरूर एक या दो बार दीवार से नीचे उतारा गया। बेचारा लोबसांग साम्तेन ! वह इतना अच्छा विद्यार्थी नहीं था जैसा मैं था। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि उस बेचारे के पिटने का रिश्ता उस तिब्बती कहावत से जुड़ा हुआ था जिसका मतलब है 'भेड़ को डराने के लिए बकरी की पिटाई करो'। बेचारे को मेरे नाम पर कष्ट सहना पड़ता था।

हालांकि मुझे और लोबसांग साम्तेन को कभी अपनी उम्र के दोस्त बनाने की छूट नहीं दी गई लेकिन फिर भी हमें दोस्तों की कभी कमी नहीं हुई। नोरबूलिंका और पोताला में सफाई कर्मचारियों या कमरों का रखरखाव करने वाले कर्मचारियों की कोई कमी नहीं थी।

उनमें से ज्यादातर लोग अधेड़ उम्र के थे, अपनढ़ थे और कई ऐसे थे जो सेना की नौकरी के बाद वहां नियुक्त किए गए थे। उनका काम था कमरों को साफ रखना और इस बात का ध्यान रखना कि फर्श हमेशा चमकते रहें। फर्श पालिशदार रहें, इस बारे में मैं बहुत चौकस रहता था क्योंकि मुझे उन पर स्केटिंग करने में बहुत मजा आता था। बाद में लोबसांग साम्तेन को मुझसे अलग कर दिया गया क्योंकि जब हम दोनों इकट्ठे होते थे तब हमारा व्यवहार बहुत खराब होता था। उसके बाद यही कर्मचारी मेरे संगी साथी थे। वे ऐसे साथी थे जो अपनी बड़ी उम्र के बावजूद एकदम बच्चों की तरह मेरे साथ खेलते थे।

जब लोबसांग साम्तेन को एक निजी स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया

उस समय मैं आठ साल का था। मेरे लिए यह बहुत दुख भरा परिवर्तन था क्योंकि अकेला वही था जो परिवार के साथ मेरा संपर्क सूत्र था। अब उसके साथ मेरी मुलाकातें केवल पूर्णिमा के दिन के लिए रह गई जब स्कूल में छुट्टी होती थी। जब भी वह छुट्टी से वापिस लौटता तब मैं उसे जाता हुआ देखने के लिए खिड़की में जाकर खड़ा हो जाता था। मेरा दिल तब दुख से भर जाता था जब मैं उसे दूर गुम होता हुआ देखता था।

हर महीने की इन मुलाकातों के अलावा मुझे उन मुलाकातों का इंतजार रहता था जब मेरी मां मुझसे मिलने आती थीं। जब वे आती थीं तो वे अक्सर मेरी बड़ी बहन सेरिंग दोलमा को भी साथ लाती थीं। मुझे उनका आना बहुत अच्छा लगता था क्योंकि वे हर बार अपने साथ ढेर सारी खाने की चीजें लाती थीं। मेरी मां बहुत अच्छा खाना पकाती थीं और उनकी बनाई हुई पेस्ट्री तथा बेकरी की चीजें परिवार में बहुत लोकप्रिय थीं।

जब मैं अपनी किशोरावस्था में पहुंचा तब मेरी मां अपने साथ मेरे सबसे छोटे भाई तेनज़िन चोग्याल को भी साथ लाने लगीं। वह मुझसे बारह साल छोटा है और मेरे हिसाब से मेरे मुकाबले अगर कोई भी और ज्यादा अक्खड़ बच्चा था तो वह तेनज़िन चोग्याल ही था। उसका एक खास खेल होता था हमारे माता-पिता के घर की छत पर खच्चरों को चढ़ा देना। मुझे याद है कि एक बार जब वह बहुत छोटा सा लड़का था, वह खच्चर पर चढ़कर आया और मुझसे बोला कि मां ने खासतौर से कसाई से कहकर सूअर का मांस मंगवाया है। मांस के मामले में यह एक बहुत बुरी बात थी क्योंकि हमारे समाज में मांस खरीदना भले ही मना नहीं था लेकिन आर्डर देकर मांस मंगवाना बुरी बात मानी जाती थी। इसका मतलब होता था कि कसाई आपके आदेश पर जानवर की हत्या कर रहा है।

मासांहारी भोजन के मामले में, तिब्बतियों का नजरिया कुछ अजीब सा ही है। बौद्ध धर्म में हालांकि मांस खाने की मनाही नहीं है लेकिन यह बात बहुत स्पष्ट है कि अपने भोजन के लिए किसी जानवर की हत्या नहीं की जानी चाहिए। तिब्बती समाज में भी मांस खाने की छूट है। बल्कि यह जरूरी भी है क्योंकि

आज़ाद शरणार्थी

हमारे यहां सांपा (सत्तू) के अलावा भोजन में और कुछ खास नहीं होता था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि जानवरों की हत्या की छूट थी। यह काम दूसरों के लिए छोड़ दिया गया था। यह काम करने वाले कुछ लोग मुस्लिम थे जो ल्हासा में आकर बस गए थे। वे अच्छे खासे खाते पीते लोग थे। उनकी वहां अपनी मस्जिद भी थी। पूरे तिब्बत में कई हजार मुसलमान रहते थे जिनमें से लगभग आधे लोग कश्मीर से आए थे और बाकी चीन से आकर वहां बसे थे।

मुझे खासतौर से याद है कि एक बार मेरी मां मेरे लिए मीट पकाकर लाई। यह सॉसेज थे जिसमें चावल और कीमा भरा हुआ था। यह हमारे इलाके ताक्तसेर की एक खास सौगात थी। मुझे याद है कि मैं पूरे के पूरे मीट को अकेले ही खा गया क्योंकि मुझे डर था कि अगर मैंने अपने नौकरों को इसके बारे में बताया तो मुझे उन्हें भी कुछ हिस्सा देना पड़ेगा। इतना सारा मीट खाने के कारण मैं अगले दिन बीमार पड़ गया। इस घटना के कारण मेरे रसोई प्रमुख की नौकरी जाते-जाते बची। ताथाग रिंपोछे का मानना था कि यह सब रसोई प्रमुख की गलती के कारण हुआ है। आखिरकार मुझे सच्चाई बताने पर मजबूर होना पड़ा। मेरे लिए यह एक अच्छा खासा पाठ था।

हालांकि पोताला महल देखने में बहुत खूबसूरत है लेकिन रहने के मामले में यह बहुत अच्छा नहीं था। इसे 'लाल पहाड़ी' नाम वाली एक ऊंची चट्टानी पहाड़ी के ऊपर बनाया गया है। इसका निर्माण महान पांचवें दलाई लामा के जीवन काल के अंतिम दौर में सत्रहवीं ई. शताब्दी के दौरान किया गया था। उससे पहले वहां एक छोटा भवन था। जब 1682 ई. में पांचवें दलाई लामा की मृत्यु हुई तब तक यह भवन पूरा नहीं हुआ था। उनके विश्वासपात्र प्रधानमंत्री देसी सांग्ये ग्यात्सो ने अगले पंद्रह साल में महल के पूरा होने तक दलाई लामा की मृत्यु का समाचार दुनिया से छिपाए रखा। वह लगातार लोगों को यही बताते रहे की दलाई लामा एक लंबी समाधि और एकांतवास में व्यस्त हैं।

पोताला महल महज एक महल ही नहीं था। इस की चार दीवारी में न केवल सरकारी दफ्तर और कई गोदाम थे बल्कि इसमें नामग्याल मठ भी

था। नामग्याल का अर्थ है 'विजयी'। इसमें 175 भिक्षु रहते थे। कई पूजागृह भी इसमें थे। इनके अलावा एक स्कूल था जहां अध्ययन के बाद युवा भिक्षु सरकार में सेढुंग स्तर के अधिकारी बनते थे।

जब मैं बच्चा था तब मुझे रहने के लिए महान पांचवें दलाई लामा का निजी बेडरूम दिया गया जो सातवीं यानी सबसे ऊपर वाली मंजिल पर था। यह कमरा बहुत ठंडा था और इसमें रोशनी भी बहुत कम आती थी। मुझे शक है कि पांचवें दलाई लामा के बाद इस कमरे को शायद ही कभी छुआ गया था। इसमें रखी गई हर चीज पुरातनकालीन थी और महत्वपूर्ण थी। कमरे की चारों दीवारों पर विशालकाय परदे टंगे हुए थे जिन पर सदियों पुरानी धूल ज्यों की त्यों जमी हुई थी। कमरे के एक कोने में एक विशालकाय प्रतिमा थी।

उसके सामने ढेर सारे दिए जलते रहते थे जिनमें द्री गाय का घी भरा रहता था. जो बदबू के कारण महकता रहता था। इसके अलावा वहां कई कटोरे रखे रहते थे जिनमें तरह-तरह की खाने वाली प्रसाद की सामग्री तथा बोधिसत्वों को अर्पित किया गया जल रखा रहता था। हर रोज चूहों की एक सेना इस भोजन पर मौज उड़ाती थी। धीरे-धीरे मैं इन नन्हे जीवों में रुचि लेने लगा था। वे बहुत खूबसूरत थे और प्रसाद खाते समय उन्हें मुझसे डर नहीं लगता था। रात को जब मैं अपने बिस्तर में सो रहा होता था तो मैं अपने इन साथियों के इधर-उधर कूदने-फांदने की आवाजें सुन सकता था। कई बार ये मेरे बिस्तर के ऊपर भी चढ़ आते थे। प्रतिमा के अलावा उस कमरे में फर्नीचर के नाम पर इकलौता मेरा पलंग ही था। यह लकड़ी के एक विशाल बक्से से बना हुआ था जिसके भीतर गद्दे और तकिये भरे रहते थे। पलंग के चारों ओर लाल परदे लटके रहते थे। चूहे अक्सर इन परदों के ऊपर चलते हुए घूमते थे। मैं अपने बिस्तर में कम्बलों में दुबका हुआ कई बार उनके टपके हुए पेशाब को महसूस कर सकता था।

पोताला और नोरबूलिंका में मेरी दिनचर्या लगभग एक ही जैसी रहती थी। अंतर केवल इतना था कि जब गर्मियों में मैं नोरबूलिंका में रहता था तब हर काम एक घंटा पहले खिसका दिया जाता था। लेकिन मेरे लिए यह कष्ट की बात नहीं थी क्योंकि मैंने कभी भी सूरज उगने के बाद सोते रहना पसंद नहीं किया। एक बार मुझे याद है जब मैं सामान्य से ज्यादा देर सोता रहा था। जब मैं उठा तो मैंने पाया कि लोबसांग साम्तेन पहले से ही खेल में जुटा हुआ था। इस पर मुझे बहुत गुस्सा आया।

पोताला में मैं छः बजे के आसपास जाग जाता था। कपड़े बदलने के बाद मैं कुछ देर के लिए प्रार्थना और ध्यान लगाता था जो लगभग एक घंटे तक चलता था। उसके बाद सात बजने के कुछ देर बाद ही मेरा नाश्ता कमरे में आता था। नाश्ते में मुझे हमेशा चाय, सांपा और शहद या चीनी वाला केरामेल दिया जाता था। उसके बाद केनराप तेनज़िन के साथ मेरा पढ़ाई का पहला पीरियड शुरू होता था। जब मैंने पढ़ना सीख लिया और 13 वर्ष का हो गया तब तक यह इसी तरह चलता रहा। तिब्बती भाषा में दो तरह से लिखा जाता है। एक है ऊ-चेन और दूसरा ऊ-मे। एक का इस्तेमाल पांडुलिपियां लिखने के लिए और दूसरी का सरकारी दस्तावेज और व्यक्तिगत पत्र आदि लिखने के लिए किया जाता है। मेरे लिए केवल ऊ-मे लिखना सीखना ही जरूरी था। लेकिन मैंने बहुत जल्दी अपने ही प्रयासों से ऊ-चेन लिखनी सीख ली।

जब भी मैं सुबह-सुबह की इन कक्षाओं के बारे में सोचता हूं तो मैं हंसे बिना नहीं रह सकता। जिस समय मैं अपने धर्म शिक्षा वाले अध्यापक के सामने बैठकर पढ़ रहा होता था उस समय साथ वाले कमरे में मेरे कर्मकांड वाले अध्यापक के मंत्रों को मैं आसानी से सुन सकता था। मेरी कक्षा दरअसल एक वरांडा था जिसमें पौधों के गमलों की कई कतारें रखी होती थीं। यह मेरे सोने वाले कमरे के एकदम निकट था। यहां बहुत सर्दी होती थी।

लेकिन यहां अच्छी रोशनी होने के कारण मैं आसानी से उन काली चिड़ियों

को देख सकता था जिनकी खूबसूरत लाल चोंच बहुत आकर्षक थी और जो पोताला महल में उस ऊंचाई पर अपने घोंसले बनाया करती थीं। कर्मकांड वाले अध्यापक मेरे ही सोने वाले कमरे में बैठकर पाठ करते थे। लेकिन उनकी एक अजीब आदत यह थी कि सुबह की प्रार्थना करते समय वह बीच में ही सो जाते थे। जब भी ऐसा होता तो उनकी आवाज अचानक धीरे-धीरे ऐसे डूबती हुई अचानक ठप्प हो जाती जैसे किसी ग्रामोफोन रिकार्ड प्लेयर की बैटरी धीरे-धीरे खत्म हो जाती है। मंत्र पढ़ते-पढ़ते उनकी आवाज धीमी होती चली जाती और वह बुदबुदाते हुए फिर अचानक एकदम चुप हो जाते। उनकी आवाज तब तक बंद रहती जब तक वे अचानक फिर से जाग नहीं जाते। जागते ही वह फिर से मंत्रों का शुरू से जाप करने लगते क्योंकि उन्हें याद ही नहीं रहता था कि उन्होंने कहां छोड़ा था। कई बार ऐसा होता कि वे मंत्रों का कई बार जाप करते। यह सब मेरे लिए बहुत मजाकिया बात होती। लेकिन इसका एक फायदा भी था। बाद में जब मुझे इन प्रार्थनाओं को याद करने का समय आया तब तक मुझे ये प्रार्थनाएं पहले से ही काफी याद हो चुकी थीं।

लिखाई सीखने के दौर के बाद याद करने का दौर शुरू हुआ। इसमें मुझे बौद्ध प्रार्थनाओं और लेखों को याद करके बाद में दिन में उन्हें मुंह जुबानी बोलना होता था। मुझे यह बहुत बोर करने वाला लगता था। क्योंकि मैं याद करने के मामले में तो बहुत तेज था लेकिन यह भी सच था कि मैं जितनी जल्दी याद करता था उतनी ही भूल भी जाता था।

सुबह की पढ़ाई से मुझे 10 बजे राहत मिलती जब सरकारी अधिकारियों की बैठक होती थी। भले ही मैं तब बहुत छोटा था लेकिन फिर भी इस बैठक में मुझे भी हिस्सा लेना होता था। शुरू से ही मुझे इस सब की आदत डाली जा रही थी क्योंकि तिब्बत का आध्यात्मिक नेता होने के साथ-साथ बाद में मुझे देश का राजनीतिक और प्रशासनिक नेतृत्व भी संभालना था। पोताला में वह सभा भवन मेरे कमरे से एकदम सटा हुआ था जहां ये बैठकें होती थीं। सरकारी अफसर इस बैठक के लिए दूसरी और तीसरी मंजिलों पर बने हुए दफ्तरों से आते थे। ये बैठकें बहुत औपचारिक किस्म की होती थीं और इनमें अधिकारियों. के लिए उस दिन की जिम्मेदारियों और कामों को पढ़कर सुनाया जाता था। इसके अलावा मेरे बारे में व्यवहार के नियमों का बहुत कड़ाई से पालन होता था। मेरी

मंत्री परिषद के प्रधान डोनयर छेनमो मेरे कमरे में आते थे और मुझे उस सभाकक्ष तक ले जाते थे जहां पहले मेरा स्वागत रीजेंट करते थे और उसके बाद मेरी काशाग (मंत्रिमंडल) के चार सदस्य अपनी वरिष्ठता के हिसाब से बारी-बारी से करते थे।

सुबह सरकारी अफसरों के साथ बैठक के बाद मैं अपने कमरे में वापिस आ जाता जहां फिर से पढ़ाई का काम शुरू हो जाता। अब मेरे कनिष्ठ अध्यापक की बारी होती थी जिनके सामने मैं अपना वह पाठ दोहराता था जो मैंने सुबह याद किया होता था। फिर वह अगले दिन के लिए मेरे सामने पाठ पढ़ते और पढ़ने के साथ-साथ वह उसके बारे में मुझे विस्तार के साथ बताते भी चले जाते।

पढ़ाई का यह क्रम दोपहर तक चलता रहता। तब एक घंटी बजाई जाती थी। आमतौर पर यह घंटी एक-एक घंटे के बाद बजाई जाती थी। लेकिन जब भी घंटी बजाने वाला एक बार घंटी बजाना भूल जाता तब वह दोपहर में तेरह बार घंटी बजाता था। दोपहर के समय शंख भी बजाया जाता था। तब इस नन्हें दलाई लामा की दिनचर्या का सबसे रोचक काम शुरू होता था खेलकूद।

मैं इस मायने में बहुत भाग्यशाली था कि मेरे पास ढेर सारे खिलौने होते थे। जब मैं बहुत छोटा था तब मेरा एक अधिकारी, जो भारत की सीमा के निकट द्रामों में नियुक्त था, मुझे अक्सर विदेशी खिलौने भेजा करता था। इसके अलावा वह मेरे लिए सेब भी भेजता था। ल्हासा आने वाले विदेशी अधिकारी भी मेरे लिए उपहार लाया करते थे। इन उपहारों में मुझे एक मेकेनो सेट बहुत प्रिय था जो मुझे ब्रिटिश व्यापार मिशन के प्रमुख ने लाकर दिया था। उनका एक कार्यालय हमारी राजधानी में था। जब मैं बड़ा हुआ तो मैंने मेकेनो के ऐसे कई सेट इकटठे कर लिए थे। जब मैं पंद्रह साल का हुआ तब तक मेरे पास लगभग सभी तरह के मेकेनो हो गए थे जिनमें बहुत आसान वाले भी थे और सबसे कठिन वाले भी।

जब मैं 17 साल का था तब दो अमेरिकी अधिकारियों का एक प्रतिनिधिमंडल ल्हासा आया। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के पत्र के अलावा वे लोग अपने साथ गाने वाली खूबसूरत चिड़ियों का एक जोड़ा और सोने की एक शानदार घड़ी भी लाए। ये दोनों बहुत शानदार उपहार थे। लेकिन जहां तक ल्हासा आने वाले चीनी अधिकारियों के लाए हुए उपहारों की बात है वे मुझे कभी पसंद नहीं आए। आखिर एक छोटे से लड़के के लिए रेशम की गांठों का क्या महत्व हो सकता है?

मेरे प्रिय खिलौनों में से एक चाबी से चलने वाली रेलगाड़ी भी थी। सीसे के बने हुए सिपाहियों का एक खूबसूरत सेट भी था। लेकिन जब मैं बड़ा हुआ तब मैंने सीसे को पिघलाना सीख लिया और उन सिपाहियों को पिघलाकर मैंने उनसे भिक्षु बना लिए थे। इन सिपाहियों को मैं युद्ध के खेल खेलने में इस्तेमाल करता था और इसमें मुझे बहुत आनंद भी मिलता था। मैं उन्हें युद्ध के मैदान में तैनात करने और किलेबंदी करने में बहुत रुचि लेता था। जब युद्ध शुरू होता था तो पूरी किलेबंदी को नष्ट होने में केवल कुछ ही मिनट लगते थे। इनके अलावा मैं सांपा (सत्तू) से टेंकों और हवाई जहाजों के माडल भी बनाता था और उनसे भी इसी तरह के खेल खेलता था।

ऐसे एक खेल में सबसे पहले अपने बड़ी उम्र के साथियों के बीच एक मुकाबला कराता था जिसमें उन्हें तरह-तरह के माडल बनाने होते थे। सभी को मैं बराबर मात्रा में सांपा दे देता था। इस सांपा से उन्हें आधे घंटे के भीतर ही अपनी-अपनी एक सेना का निर्माण करना होता था। उसके बाद मैं इस मुकाबले का फैसला करता था। खेल के इस दौर में हारने की कोई संभावना नहीं थी क्योंकि मैं काफी होशियार था। अक्सर में खराब बने हुए माडलों को खेल से बाहर कर

दिया करता था। उसके बाद मैं अपने बने हुए कुछ माडल अपने विरोधी पक्ष को दुगने दाम पर बेच देता था। यानि माडल बनाने में जितना सत्तू

खर्च होता था उससे दुगना सत्तू उनसे लेता था। इस तरह से मेरे हिस्से में न केवल एक ताकतवर सेना आती थी बल्कि उसके साथ-साथ एक अच्छा सौदा कर लेने का सुख भी। उसके बाद युद्ध शुरू होता था। हालाकि अब तक के खेल में मेरी ही मर्जी चलती थी लेकिन उसके बावजूद इस आखिरी दौर में मैं खेल में हार जाता था। मेरे साथ खेलने वाले सफाई कर्मचारी मुझे युद्ध वाले खेल के दौरान किसी भी तरह की रियायत नहीं देते थे। मैं कई बार दलाई लामा होने की अपनी हैसियत का इस्तेमाल करने की कोशिश करता था। लेकिन वह कामयाब नहीं हो पाती थी। मैं पूरा दम लगाकर खेलता था। बहुत बार मैं अपना आपा भी खो बैठता था और गुस्से में घूंसे भी चला देता था। लेकिन इसके बावजूद वे मेरा लिहाज नहीं करते थे। कई बार तो वे मुझे रुला भी डालते थे।

एक और खेल जिसमें मुझे आनंद मिलता था वह था सैनिक कवायद जिसे मैंने नोरबू थोंडुप से सीखा था जो मेरा बहुत प्रिय सफाई कर्मचारी था। वह सेना में रह चुका था। मुझमें लड़कपन के दौर में हमेशा इतनी उर्जा रहती थी कि मुझे शारिरिक खेल खेलना बहुत अच्छा लगता था। मुझे एक खास किस्म का खेल बहुत प्रिय था। यह छलांग लगाने वाला खेल था। लेकिन खतरनाक होने की वजह से इस पर सरकारी तौर पर प्रतिबंध लगा हुआ था। इस खेल में लकड़ी के एक लंबे फट्टे को लगभग 45 डिग्री के कोण पर खड़ा करके उसके ऊपर दौड़ते हुए चढ़ना होता था और ऊपर पहुंचने के बाद छलांग लगानी होती थी।

अपने आक्रामक रवैये के कारण एक बार मैं भारी मुसीबत में फंसते-फंसते बचा। मैंने अपने पूर्ववर्ती दलाई लामा के निजी सामान में से एक फौजी छड़ी ढूंढ निकाली थी जिसकी मूठ हाथी दांत की बनी हुई थी। मैं इसे अपनी निजी छड़ी की तरह इस्तेमाल करने लगा था। एक दिन मैं इस छड़ी को अपने सिर के ऊपर खूब तेजी से घुमा रहा था कि अचानक ही यह छड़ी मेरे हाथ से छूट गई और सीधी घुमती हुई लोबसांग साम्तेन के चेहरे से जा टकराई। चोट लगते ही वह धड़ाम से फर्श पर जा गिरा। एक क्षण के लिए तो मुझे लगा कि मैंने उसे जान से मार डाला है। लेकिन कुछ क्षणों तक जमीन पर पड़ा रहने के बाद वह उठ खड़ा हुआ। उसकी आंखों से आंसू टपक रहे थे और उसकी दाहिनी आंख के ऊपर एक गहरे छेद में से खून बुरी तरह बह रहा था। बाद में इस घाव में संक्रमण हो गया और

उसे ठीक होने में बहुत समय लगा। बेचारा लोबसांग साम्तेन ! जिंदगी भर के लिए उसके चेहरे पर एक भद्दा सा निशान बन गया।

दोपहर में एक बजे के तुरंत बाद हल्का भोजन मिलता था। पोताला महल की स्थिति कुछ ऐसी थी कि दोपहर में इस समय मेरा कमरा धूप से एकदम भर जाता था। लेकिन दो बजने तक धूप धीरे-धीरे खिसक जाती और कमरे में फिर से धुंधलका छा जाता। ये क्षण मुझे बहुत बुरे लगते थे। कमरे में छाया के लौटने के साथ ही मेरा दिल भी उदास हो जाता था। दोपहर के बाद वाली पढ़ाई खाने के जल्दी बाद ही शुरू हो जाती थी।

पहले ढेड़ घंटे में सामान्य शिक्षा का पीरियड चलता था। यह कक्षा मेरे कनिष्ठ अध्यापक लिया करते थे। पढ़ाई में मेरा ध्यान लगाए रखने के लिए वे हर कोशिश किया करते थे। लेकिन मैं ऐसा विद्यार्थी था जिसे सभी विषयों से बराबर नफरत थी। मेरी पढ़ाई में भी वही विषय शामिल रहते थे जो बौद्ध शिक्षा में डाक्टरेट उपाधि पाने के लिए भिक्षु विद्यार्थी पढ़ते थे। यह बहुत ही असंतुलित किस्म का पाठयकम था और यकीनन बीसवीं सदी में किसी देश के नेता को तैयार करने के मामले में एकदम नकारा था। मेरे पाठयक्रम में पांच मुख्य और पांच छोटे विषय थे। मुख्य विषय थे तर्क, तिब्बती कला एवं संस्कृति, संस्कृत, चिकित्सा विज्ञान और बौद्ध दर्शन। यह आखिरी विषय बहुत महत्वपूर्ण लेकिन बहुत कठिन है। इसे पांच भागों में बांटा जाता है: प्रज्ञापरमिता, माध्यमिका, विनय, अभिधर्म, और प्रमाण।

छोटे पांच विषय थे काव्य, संगीत और नाटक, ज्योतिषशास्त्र, छंदविन्यास और समानार्थी शब्द। लेकिन जहां तक डाक्टरेट उपाधि की बात है वह विद्यार्थियों को केवल बौद्ध दर्शन और तर्कशास्त्र के आधार पर दी जाती थी। इस कारण 1970 वाले दशक के मध्य तक मुझे संस्कृत व्याकरण का अध्ययन करना पड़ा और चिकित्सा जैसे उन कई विषयों का भी जिन्हें अध्ययन करने का मुझे इससे पहले पूरा समय नहीं मिला था।

तिब्बत में भिक्षुओं की शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण पहलू तर्कशास्त्र है यानि तर्क करने की कला। इसमें दो विद्यार्थी आमने-सामने होकर बारी बारी से एक दूसरे से सवाल पूछते हैं और दूसरा उनका उत्तर देता है। ऐसा करने से शरीर के कई हावभावों का भी जोरदार प्रदर्शन किया जाता है। जब एक व्यक्ति सवाल रखता है तो वह अपनी बायीं हथेली को आगे बढ़ाता है और दीं हथेली को सिर के ऊपर से घुमाते हुए लाकर बायीं पर पटकता है। इस तरह ताली की आवाज पैदा करने के साथ साथ वह अपना बायां पैर भी आगे बढ़ाकर जमीन पर पटकता है। उसके बाद वह अपने दायें हाथ को खींचते हुए बायें से परे ले जाता है और उसे अपने विपक्षी के सिर के निकट तक ले जाता है। सामने वाला व्यक्ति जिसे यह प्रश्न पूछा जा रहा है, शांत बैठा रहता है और अपना पूरा ध्यान उत्तर देने पर लगाता है। वह अपने विपक्षी को छकाने के लिए अपना पूरा ध्यान तर्क पर केंद्रित रखता है जबकि सामने खड़ा हुआ विपक्षी लगातार कूदफांग करता रहता है। इस तरह के शास्त्रार्थ में हास्य का पुट बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है और जो भी अपने विपक्षी के तर्कों पर चुटकियां लेकर जवाब देता है उसे तर्क में अधिक तेज माना जाता है। यही कारण है कि तर्कशात्र उन लोगों के बीच भी बहुत लोकप्रिय है जो स्वयं अशिक्षित हैं। यहां तक कि वे इस बौद्धिक कुश्ती की बहुत सारी बातें समझ भी नहीं पाते। लेकिन इस तरह की बहस का वे भी जोरदार आनंद उठाते हैं। पुराने समय में बंजारों और ल्हासा से दूर-दूर के इलाकों से आने वाले लोगों को मठों के भीतर बरामदों में चलने वाले इस शास्त्रार्थ को सुनते हुए और आनंद लेते हुए देखा जा सकता था।

आज़ाद शरणार्थी

किसी भी भिक्षु की बौद्धिक उपलब्धियों को उसके तर्कशास्त्र में ज्ञान के आधार पर नापा जाता है। यही कारण है कि दलाई लामा के तौर पर मुझे न केवल बौद्ध दर्शन और तर्क में पारंगत होना था बल्कि इस शास्त्रार्थ की कला में भी मुझे माहिर होना था। इसलिए जब मैं दस साल का हुआ तब मैंने इन विषयों का बहुत गंभीरता के साथ अध्ययन शुरू कर दिया। जब मैं

बारह साल का था तब मुझे तर्कशास्त्र पढ़ाने के लिए और तर्क की कला सिखाने के लिए मेरे लिए दो 'त्सेनशप' विशेषज्ञ नियुक्त किए गए। दोपहर बाद मेरे पढ़ाई के पहले पीरीयड के बाद का अगला एक घंटा मुझे यह सिखाने के लिए निर्धारित था कि उस दिन के विषय पर होने वाले तर्क में किस तरह से हिस्सा लिया जाए। उसके बाद चार बजे चाय का समय होता था।

चाय के बारे में एक खास बात यह है कि दुनिया में अगर चाय पीने के मामले में ब्रिटिश लोगों को कोई पीछे छोड़ता है तो वह तिब्बती ही हैं। हाल ही में मैंने चीन सरकार द्वारा जारी किए गए कुछ आंकड़े देखे थे जिसमें यह दावा किया गया था कि तिब्बत पर हमले से पहले चीन से तिब्बत में एक करोड़ टन चाय का हर साल आयात होता था। यह असंभव है क्योंकि अगर ये आंकड़े सच हैं तो इसका मतलब यह हुआ कि हर तिब्बती एक साल में औसतन दो टन चाय पी जाता है। यह तय है कि ये आंकड़े सिर्फ इस नजर से तैयार किए गए थे ताकि यह दिखाया जा सके कि तिब्बत आर्थिक रूप से चीन पर कितना अधिक निर्भर था। लेकिन फिर भी यह कम से कम यह तो जरूर दिखाता है कि हम तिब्बती लोग चाय के कितने प्रेमी हैं।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मैं भी अपने देशवासियों की ही तरह चाय का इतना अधिक प्रेमी हूं। तिब्बती समाज में परंपरा से ही चाय में नमक डाला जाता है और दूध के बजाय उसमें द्री गाय के मक्खन का इस्तेमाल होता है। चाय अगर ढंग से बनाई गई हो तो निश्चित ही यह एक बहुत अच्छा और स्वास्थ्य वर्धक पेय है। चाय का स्वाद बहुत हद तक मक्खन की क्वालिटी पर निर्भर करता है। पोताला के रसोई घरों में नियमित रूप से ताजे और अच्छी चिकनाई वाले मक्खन की सप्लाई की जाती थी। इस कारण वहां जो चाय बनती थी वह सचमुच बहुत शानदार होती थी। यही वह दौर था जब मैंने चाय का सचमुच आनंद लिया। लेकिन आजकल मैं आमतौर पर ब्रिटिश तरीके की चाय पीता हूं। सुबह भी और शाम को भी। दोपहर के बाद मैं सादा गरम पानी पीता हूं। यह आदत मैंने 1950 वाले दशक में अपनी चीन यात्रा के दौरान विकसित की थी। कहने को तो यह बहुत स्वादहीन होता है लेकिन असल में स्वास्थ्य की दृष्टि से यह बहुत अच्छी आदत है। तिब्बती चिकित्सा व्यवस्था में गरम पानी को

सबसे पहली दवाई के रूप में स्वीकार किया गया है।

चाय का दौर समाप्त होने के बाद दोनों त्सेनशप भिक्षु आते थे और मैं अगला घंटा उनके साथ तर्कशास्त्र तथा वाद विवाद का अध्ययन करने में लगाता था। इस अध्ययन में कई तरह के गूढ़ प्रश्नों पर चर्चा होती थी। उदाहरण के लिए यह प्रश्न कि मन की प्रकृति आखिर क्या है?

सिंहासन

27

आखिरकार लगभग साढ़े पांच बजे जाकर दिन की ये गतिविधियां समाप्त होतीं। समय के बारे में एकदम सही जानकारी दे पाना मेरे लिए बहुत आसान नहीं है क्योंकि तिब्बत में लोग घड़ी के साथ इतना तालमेल नहीं रखते हैं जितना दूसरे देशों के लोग रखते हैं। वहां काम को अपनी सुविधा के हिसाब से शुरू किया जाता है और सुविधा को देखते हुए पूरा किया जाता है। वहां जल्दबाजी को आमतौर पर दूर से ही सलाम किया जाता है।

मेरे अध्यापक के जाते ही मैं दौड़ता हुआ सीधा छत पर जा पहुंचता। अगर पोताला होता तो मैं अपनी दूरबीन भी साथ ले जाता। यहां से ल्हासा का दृश्य बहुत खूबसूरत दिखाई देता था। खासतौर से इस पवित्र नगरी में जोखांग मंदिर के आसपास का इलाका उंचाई से बहुत खुबसूरत दिखाई पड़ता था। मेरी सबसे अधिक रूचि शोल गांव में होती थी जो लाल पहाड़ी के ठीक निचले छोर पर बसा हुआ था। इस गांव में ही सरकारी जेल थी। यही वह समय होता था जब कैदियों को जेल के अहाते में घूमने फिरने की छूट मिलती थी। मैं उन्हें अपना दोस्त मानता था और उनकी गतिविधियों का दूरबीन से बहुत ध्यान से अध्ययन किया करता था। उन्हें भी इस बात का पता रहता था। जब भी मैं उन्हें दिखाई दे जाता वे जमीन पर लेट कर साष्टांग किया करते थे। मैं उन सबकी शक्लें पहचानता था और मुझे तुरंत

पता चल जाता था कि उस दिन कौन सा कैदी रिहा हो गया है और कौन सा नया कैदी वहां आया है। उस अहाते में जलाने वाली लकड़ी और जानवरों के चारे के ढेरों को देखने में भी मुझे आनंद आता था।

दूरबीन के इस मुआयने के बाद घर के भीतर खेलने का समय होता था। शाम के खाने से पहले मैं अक्सर ड्राइंग किया करता था। सात बजने के ठीक बाद मेरा खाना आता था। इस खाने में चाय हमेशा रहती थी। इसके अलावा सूप, दही और मेरी मां की बनाई हुई कई तरह की ब्रेड भी रहती थी। सूप में अक्सर कुछ मीट भी होता था। हर सप्ताह तरह-तरह की ब्रेड बनाकर मेरी मां मेरे लिए भिजवाती थी। लेकिन इनमें से मुझे सबसे प्रिय मेरे प्रांत आम्दो वाली वह छोटी-छोटी गोल रोटी होती थी जो बाहर से सख्त लेकिन अन्दर से बहुत हल्की और नरम होती थी।

बहुत बार मैं अपना यह भोजन अपने सफाई कर्मचारियों के साथ लिया करता था। वे सभी ढेर सारा खाना खाते थे। उनके चाय के कटोरे इतने बड़े होते थे कि उसमें पूरी केतली उड़ेली जा सकती थी। इसके अलावा बाकी अवसरों पर मैं अपना भोजन नामग्याल मठ के भिक्षुओं के साथ लिया करता था। आमतौर पर मैं अपना भोजन उन तीन भिक्षुओं के साथ लिया करता था जिन्हें मेरे लिए नियुक्त किया गया था। कभी-कभी मेरे चिकयाब खेंपो (प्रधान अधिकारी) भी हमारे साथ शामिल रहते थे। लेकिन जब वह खाने में शामिल नहीं होते थे तब वातावरण बहुत मजेदार और हंसी भरा रहता था। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है

कि सर्दी के दिनों में शाम के समय जब हम आग जलाकर उसके आसपास बैठे सूप पी रहे होते थे तब खिड़की के बाहर बर्फ से लदी हुई हवा की गूंज वातावरण पर छाई रहती थी।

खाने के बाद मैं सात मंजिल नीचे सीढ़ियों से उतरकर आंगन में जाता था जहां मुझे घूमते फिरते हुए धार्मिक पुस्तकों से प्रार्थनाओं का जाप करना होता था। लेकिन यह कुछ बड़े होने के दौर की बात है। उससे पहले जब मैं बहुत छोटा था तब मुझे यह सब नहीं करना होता था। उन दिनों मैं

अपना समय या तो पुरानी कहानियों को मन ही मन दोहराता था या फिर उन कहानियों की कल्पना करता था जो मुझे बाद में कभी सुनाई जानी थीं। ज्यादातर मौकों पर सोने से पहले मुझे जो कहानियां सुनाई जाती थीं वे दैवीय किस्म की कहानियां होती थीं जो डराने वाली होती थीं। लगभग नौ बजे जब मैं अपने कीड़ों मकोड़ों से भरे हुए कमरे में अपने बिस्तर में घुसता उस समय मैं अक्सर इन कहानियों के कारण डरा हुआ होता था। इनमें से सबसे अधिक डरावनी एक ऐसी कहानी थी जिसमें विशालकाय उल्लू छोटे-छोटे लड़कों को रात के अंधेरे में उठाकर ले जाते थे। यह कहानी जोखांग मंदिर में दीवारों पर बनाई गई एक चित्रकथा पर आधरित थी। इस कहानी के कारण मैं रात होते ही घर के भीतर घुस जाता था।

पोताला और नोरबूलिंका में मेरी दिनचर्या बहुत बंधी बंधाई रहती थी। इसमें बदलाव केवल तभी आता था जब या तो त्यौहारों का मौसम होता था या फिर जब मेरे एकांतवास के दिन होते थे। समाधि के दिनों में मेरे साथ एक अध्यापक, कभी कभी दोनों या फिर नामग्याल मठ के कुछ अन्य वरिष्ठ लामा भी रहते थे। आमतौर पर हर साल सर्दियों के दौरान मैं एक बार एकांतवास में जाता था। आमतौर पर यह एकांतवास तीन सप्ताह चलता था। उस दौरान केवल मढ़ाई का एक छोटा सा दौर होता था। लेकिन मुझे बाहर जाकर खेलने की छूट नहीं होती थी। इस दौरान लंबी प्रार्थना और अध्यापकों की देखरेख में समाधि ही मुख्य गतिविधियां रहती थीं। बचपन के दिनों में ऐसा नहीं होता था कि हर बार मुझे यह आनंददायक लगे। तब मैं अपना ज्यादातर समय अपने बेडरूम की खिड़की के बाहर झांकने में बिताता था। उत्तर वाली एक खिड़की में से सेरा मठ दिखाई देता था जिसके पीछे पहाड़ियां थीं। दक्षिण वाली खिड़की के सामने विशाल सभाकक्ष था जिसमें सुबह सरकार की बैठकें होती थीं।

इस सभाभवन में कई बहुमूल्य और पुराने थांका लटके रहते थे जो रेशम पर कढ़ाई से बने हुए थे। कढ़ाई से बने दृश्यों में संत मिलारेपा के जीवन को दर्शाया गया था। मिलारेपा तिब्बत के सबसे अधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक गुरूओं में से थे। मैं अक्सर इन खूबसूरत चित्रों को देखा करता था। पता नहीं अब उन थांकाओं का क्या हुआ होगा?

एकांतवास के दौरान दिन के मुकाबले कहीं अधिक कष्टप्रद शामें होती थीं

जब गांवों के लड़के, जो कि मेरी ही उम्र के होते थे, अपनी गऊओं को वापस शोल गांव लाते थे। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि जिस समय मैं अपने कमरे में शांत बैठा हुआ

मंत्रों का जाप कर रहा होता था और बाहर की रोशनी धीरे-धीरे ढल रही होती थी उस समय वे निकटवर्ती चरागाहों से लौटते हुए गीत गा रहे होते थे। कई बार ऐसा हुआ जब मेरी इच्छा हुई कि क्यों न मैं उन लड़कों के साथ आपसी जगह की अदला बदली कर लूं। लेकिन धीरे-धीरे मुझे इस एकांतवास के लाभ भी दिखाई देने लगे। आज मेरी दिली कामना रहती है कि मुझे एकांतवास के लिए अधिक समय मिल सके।

अपने अध्यापकों के साथ मेरे संबंध बहुत अच्छे रहते थे क्योंकि मैं सीखने के मामले में बहुत तेज था। जब मुझे तिब्बत के कुछ बहुत वरिष्ठ विद्वानों के साथ मिलने का अवसर मिला तब मुझे यह देखकर बहुत संतोष हुआ कि मेरा दिमाग भी काफी अच्छा है। लेकिन आमतौर पर मुसीबत से बचने के लिए मैं खूब मेहनत करने की नीति में यकीन रखता था। मगर फिर भी एक ऐसा मौका आया जब मेरे अध्यापकों को मेरी प्रगति की गति पर चिंता होने लगी थी। तब मेरे अध्यापक केनराप तेनज़िन ने मेरे लिए एक झूठी-मूठी परीक्षा का आयोजन किया। इस परीक्षा में मेरा सामना मेरे प्रिय सफाई कर्मचारी नोरबू थोंडुप के साथ कराया गया। मुझे पता नहीं था कि केनराप तेनज़िन ने पहले से ही नोरबू थोंडुप को पाठ पढ़ा दिया था। नतीजा यह हुआ कि मुकाबले में मैं हार गया। मेरे सिर पर मानों पहाड़ गिर पड़ा। सार्वजनिक तौर पर मेरी यह हार मेरे लिए बहुत सदमे भरी थी।

यह चाल काम कर गई और मैंने गुस्से में आकर ताबड़तोड़ मेहनत शुरू कर दी। लेकिन आखिर में मेरा यह उत्साह ठंडा पड़ गया और मैं फिर से पुराने ढर्रे पर आ गया। बाद में केवल वयस्क होने पर ही मुझे यह समझ में आया कि पढ़ाई मेरे लिए कितनी उपयोगी थी। उसके बाद मैंने पढ़ाई में खूब रुचि लेनी शुरू कर दी। आज मुझे अपनी उन दिनों की सुस्ती पर बहुत पछतावा होता है और मैं हर रोज कम से कम चार घंटे अध्ययन में

लगाता हूं। मुझे लगता है कि अपनी पढ़ाई के आरंभिक दौर में अगर मैं किसी स्कूल में पढ़ा होता तो हालत बेहतर होती। क्योंकि मेरे साथ कोई और पढ़ने वाला नहीं था इसलिए मुझे कभी किसी के साथ मुकाबला करने और अपनी योग्यता को दूसरों के मुकाबले नापने का अवसर नहीं मिला।

जब मैं 9 साल का था तब अपने पूर्ववर्ती दलाई लामा के सामान में से मुझे दो पुराने मूवी प्रोजेक्टर मिले जिन्हें हाथ से चलाया जाता था। इसके साथ-साथ फिल्मों के कई डिब्बे भी थे। लेकिन मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिल पा रहा था जो प्रोजेक्टर को चलाना जानता हो। आखिरकार मुझे एक वृद्ध चीनी भिक्षु मिल गया जो एक अच्छा टेक्नीशियन भी था। 1908 में जब तेरहवें दलाई लामा ने चीन की यात्रा की थी तब वहां इस भिक्षु के माता-पिता ने अपने इस बेटे को दलाई लामा के हाथ सौंप दिया था। तब से वह एक भिक्षु के रूप में नोरबूलिंका में रहता आ रहा था।

वह एक दयालु और ईमानदार व्यक्ति होने के साथ-साथ अपनी धार्मिक जिम्मेदारियों के प्रति बहुत सजग व्यक्ति था। लेकिन दूसरे कई चीनियों की तरह वह बहुत गुस्सैल भी था।

इनमें से एक फिल्म जार्ज पंचम के राज्याभिषेक की न्यूज़ रील थी। जिसमें दुनिया भर से लाए गए सिपाही अपनी शानदार पोशाकों में कतारों में खड़े हुए थे। मुझे इस फिल्म ने बहुत प्रभावित किया। दूसरी फिल्म में जोरदार ट्रिक फोटोग्राफी थी। इसमें महिला नर्तकियों को अंडों में से चूजों की तरह निकलते दिखाया गया था। लेकिन इन सबमें सबसे ज्यादा रोचक एक डाक्यूमेंट्री फिल्म थी जो सोने की खानों के बारे में थी। इस फिल्म को देखकर मुझे पता चला कि खानों में काम करना कितना खतरनाक है ओर वहां काम करने वाले मजदूरों को कितनी खराब परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। बाद में ऐसे कई अवसर आए जब मुझे मजदूरों के शोषण के बारे में शिकायतें मिलीं। ऐसे मौकों पर मुझे हमेशा यह फिल्म याद आती थी।

दुर्भाग्य से वह वृद्ध चीनी भिक्षु, जिनके साथ मेरी बहुत जल्दी दोस्ती हो गई थी, इस महत्वपूर्ण खोज के कुछ समय बाद चल बसे। लेकिन सौभाग्य से तब तक मैंने भी इन प्रोजेक्टरों को चलाना सीख लिया था। यह सब करते हुए मेरा बिजली के साथ पहला संपर्क भी आया और डायनमो के काम करने का तरीका भी मुझे समझ आ गया। यह जानकारी मेरे लिए तब बहुत उपयोगी सिद्ध हुई जब ब्रिटेन के राजकीय परिवार ने मुझे एक आधुनिक बिजली वाला प्राजेक्टर भेजा जिसमें अपना ही जेनरेटर लगा हुआ था। यह मुझे ल्हासा में तैनात ब्रिटिश व्यापार मिशन के माध्यम से भेजा गया था। इसका इस्तेमाल समझाने के लिए मेरे पास मिशन के सहव्यापार कमिश्नर रेजिनाल्ड फाक्स आए थे।

तिब्बत की अधिक ऊंचाई के कारण वहां ऐसी बहुत सारी बीमारियां नहीं है जो दुनिया के कई दूसरे हिस्सों में सामान्य हैं। लेकिन चेचक एक ऐसी खतरनाक बीमारी थी जो तिब्बत में भी मौजूद थी। जब मैं दस साल का था तब मेरे लिए एक मोटे डाक्टर को नियुक्त किया गया जिसने मुझे विदेश से लाई गई दवाओं को इस्तेमाल करते हुए चेचक का टीका लगाया। यह एक बहुत तकलीफदेह अनुभव था जिसमें मुझे न केवल अपनी बांह पर हमेशा के लिए चार मोटे निशान मिले बल्कि इससे मुझे दर्द भी बहुत हुआ और लगभग दो सप्ताह तक मुझे बुखार भी रहा। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं उस 'मोटे डाक्टर' की बुराइयां करता रहा था।

उस समय मेरी देखभाल करने वाला एक और डाक्टर भी था जिसे उनकी बकरे जैसी दाढ़ी की वजह से डाक्टर लेनिन का नाम दिया गया था। वह एक बहुत छोटे कद का इंसान था जो खूब खाता था और बहुत हंसोड़ किस्म का था। मैं उन्हें किस्से सुनाने की उनकी खास शैली की वजह से बहुत पसंद करता था। इन दोनों डाक्टरों ने परंपरागत तिब्बती चिकित्सा पद्धति में प्रशिक्षण पाया था। लेकिन तिब्बती चिकित्सा पद्धति के बारे में मैं बाद में बात करूंगा।

जब मैं 10 साल का था तब पिछले पांच साल से चला आने वाला विश्व युद्ध समाप्त हो गया।

सिंहासन

मुझे युद्ध के बारे में कुछ खास पता नहीं था सिवाय इसके कि मेरी सरकार ने एक मिशन भारत भेजा था जो ब्रिटिश सरकार के लिए बधाई का संदेश और कुछ भेंट सामग्री लेकर गया था। इन अधिकारियों का तत्कालीन वायसराय लॉर्ड वावेल ने स्वागत किया था। उसके बाद अगले साल भारत में होने वाली एशियाई संबंधों वाली कान्फ्रेंस में तिब्बत का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक और प्रतिनिधिमंडल भेजा गया था।

इसके कुछ समय बाद 1947 के वसंत के आरंभिक दिनों में ही एक बहुत दुखद घटना हुई जो यह दिखाती है कि किस तरह ऊंचे पदों पर बैठने वाले लोगों के व्यक्तिगत स्वार्थों का किसी देश के भविष्य पर कितना बुरा असर पड़ सकता है।

एक दिन जब मैं शास्त्रार्थ का सत्र देख रहा था तब अचानक ही गोलियां चलने की आवाज आई। आवाज उत्तर दिशा से आई थी जिधर सेरा मठ था। पूरे उत्साह के साथ मैं बाहर की ओर भागा। मुझे उम्मीद थी कि अपनी दूरबीन का मैं कुछ रोचक इस्तेमाल कर पाऊंगा। लेकिन तभी मुझे यह सोचकर बहुत बेचैनी भी हुई कि गोली चलने का मतलब किसी का मारा जाना भी हो सकता है। तब मुझे पता चला कि छह साल पहले राजनीतिक सन्यास लेने का फैसला कर चुके रेलिंग रिंपोछे फिर से रीजेंट बनने का प्रयास कर रहे थे। ताथाग रिंपोछे के खिलाफ उनके इस षड़यंत्र में कई भिक्षु और कुछ सरकारी अफसर भी शामिल थे। इस घटना के कारण रेलिंग रिंपोछे को गिरफ्तार कर लिया गया और उनके कई साथी मारे गए।

तुरंत ही रेलिंग रिंपोछे को पोताला लाया गया जहां उन्होंने यह अनुरोध किया कि उन्हें मुझसे मिलने की अनुमति दी जाए। दुर्भाग्य से मेरे नाम पर उन्हें यह अनुमति नहीं दी गई और काफी समय बाद वे जेल में ही मर गए। यह स्वाभाविक था कि अव्यस्क होने के कारण मुझे न्यायिक मामलों में दखल देने की बहुत कम संभावना रहती थी। लेकिन अब अगर पीछे मुड़कर देखता हूं तो हैरान होता हूं कि अगर मैंने दखल किया होता तो

क्या मैं कुछ कर सकता था? यह संभव है कि मेरे दखल के प्रयासों से तिब्बत के सबसे पुराने मठों में से एक रेलिंग मठ शायद तबाह होने से बच गया होता। कुल मिलाकर मेरी नजरों में यह एक घटिया किस्म की घटना थी। लेकिन यह भी सच है कि उनकी गलतियों के बावजूद रेलिंग रिंपोछे के प्रति मेरे मन में अपने पहले गुरु और अध्यापक के रूप में आज भी बहुत आदर है। उनकी मृत्यु के बाद मेरे नाम में से उनका नाम हटा दिया गया। लेकिन बाद में मैंने भविष्यवक्ता के निर्देश पर उनके नाम को फिर से अपने नाम में जोड़ लिया।

इन दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के कुछ समय बाद मैं ताथाग रिंपोछे के साथ ड्रेपुंग और सेरा मठों की यात्रा पर गया। ड्रेपुंग ल्हासा से पांच मील और सेरा साढ़े तीन मील उत्तर में था। उस समय ड्रेपुंग दुनिया का सबसे बड़ा मठ था जिसमें सात हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। सेरा भी बहुत छोटा मठ नहीं था।

32

आज़ाद शरणार्थी

वहां लगभग पांच हजार भिक्षु रहते थे। मठों की यह यात्रा मेरे लिए एक तर्कशास्त्री के रूप में पहली सार्वजनिक मान्यता जैसी थी। मुझे वहां ड्रेपुंग के तीनों महाविद्यालयों और सेरा के दोनों महाविद्यालयों के प्रधान मठाधिकारियों के साथ शास्त्रार्थ करना था। हाल ही की घटनाओं के कारण वहां सुरक्षा व्यवस्था बहुत कड़ी रखी गई थी जिसके कारण मैं बहुत परेशानी महसूस कर रहा था। इसके अलावा मैं ज्ञान के इतने बड़े केंद्रों में इस जीवन में पहली बार जाने की वजह से भी बहुत घबरा रहा था। लेकिन फिर भी वहां जाकर मुझे इस तरह का अपनापन महसूस हुआ कि मुझे यह विश्वास होने लगा कि मेरे पूर्व जन्मों में इन संस्थाओं के साथ जरूर मेरा संबंध रहा होगा। लेकिन मेरे नर्वस होने के बावजूद शास्त्रार्थ के सभी कार्यक्रम ठीक-ठाक चले और उनमें सैकड़ों भिक्षुओं ने दर्शक के रूप में हिस्सा लिया।

इसी समय के आसपास मुझे ताथाग रिंपोछे ने पांचवे दलाई लामा की विशेष शिक्षाएं दीं जिन्हें दलाई लामा के लिए व्यक्तिगत तौर पर बहुत

महत्वपूर्ण माना जाता है। ये वे शिक्षाएं थीं जिन्हें महान पांचवें दलाई लामा ने दिव्य दृष्टि से ग्रहण किया था। पांचवें दलाई लामा को उनकी महानता के कारण तिब्बत में 'महान पंचम' नाम से जाना जाता है। बाद वाले सप्ताहों में मुझे कई असामान्य अनुभव हुए जिनमें से कई स्वप्नों के रूप में थे। उन दिनों भले ही वे अनुभव मुझे कोई बहुत विशेष नहीं लगे लेकिन अब मुझे लगता है कि वे सचमुच बहुत महत्वपूर्ण थे।

पोताला में रहने का एक लाभ यह था कि उसमें ढेर सारे गोदाम थे। एक छोटे लड़के के लिए ये गोदाम उन कमरों के मुकाबले कहीं अधिक रोचक थे जिनमें चांदी सोने की चीजें या फिर धार्मिक सामग्री और कलावस्तुएं रहती थीं। ये गोदाम उन कोठरियों से भी कहीं ज्यादा रोचक थे जिनमें मेरे से पहले दलाई लामाओं की समाधियां बनी हुई थीं जो हीरे जवाहरातों से सजी हुई थीं। मुझे हथियारों वाले भंडारों में भी बहुत रुचि थी जहां पुरानी तलवारें, फ्लिंट जलाकर चलने वाली बंदूकें और बख्तरबंद सूट रखे रहते थे। लेकिन ऐसे कमरों से कहीं ज्यादा रोचक वे कमरे थे जिनमें मेरे से पहले वाले दलाई लामाओं का व्यक्तिगत सामान रखा रहता था। ऐसे ही एक कमरे में मुझे एक बार एक पुरानी एयर राइफल मिल गई। उसके साथ निशाने वाले टारगेट और उसमें चलाई जाने वाली गोलियां और वह दूरबीन भी थी जिसका पहले मैं जिक्र कर चुका हूं। इनके अलावा वहां मुझे पहले विश्व युद्ध से संबंधित चित्रों वाली कुछ अंग्रेजी की किताबें भी मिलीं। मुझे ये बहुत रोचक लगीं और इन्हीं को देखकर मैंने जहाजों, टैंकों और विमानों के मॉडल बनाए। बाद में जब मैं कुछ बड़ा हुआ तो इन किताबों के कुछ अंश मैंने तिब्बती में अनुवाद करवाए।

मुझे वहां दो जोड़ी यूरोपीय जूते भी मिल गए। ये जूते मेरे पांव के मुकाबले कुछ बड़े थे लेकिन मैंने जूतों में कुछ कपड़ा आदि भरकर उन्हें ऐसा बना लिया कि मैं उन्हें पहन सकूं। जूते पहनकर चलने से उनकी एड़ी में लगी स्टील की ऐड़ियां जिस तरह की आवाज पैदा करती थीं वह मुझे बहुत मजेदार लगती थी।

सिंहासन

अपने बचपन में जो एक चीज मुझे बहुत अच्छी लगती थी वह थी चीजों को खोलकर उन्हें फिर से जोड़ना। मुझे इसमें काफी महारत हासिल हो गई थी। यह अलग बात है कि शुरू-शुरू में मुझे हर बार सफलता नहीं मिलती थी। मेरे पूर्ववर्ती दलाई लामा के सामान में से मुझे संगीत वाला एक पुराना बक्सा मिला जो उन्हें रूस के ज़ार ने भेजा था। ज़ार के साथ उनकी व्यक्तिगत मित्रता भी हो गई थी। यह यंत्र काम नहीं कर रहा था। इसलिए मैंने फैसला किया कि मैं इसकी मरम्मत करके इसे ठीक करूंगा। मैंने पाया कि इसका मुख्य स्प्रिंग आवश्यकता से ज्यादा चाबी भरने के कारण जाम हो चुका था। जब मैं एक पेंचकस के साथ इससे छेड़खानी कर रहा था तो अचानक ही यह स्प्रिंग खुल गया और अनियन्त्रित होकर इसने आफत मचा दी। इसके कारण धातु की वे छोटी-छोटी पत्तियां भी उखड़कर बाहर उड़ने लगीं जिनकी वजह से संगीत पैदा होता था। मैं कभी भी उस शोर को नहीं भूल पाऊंगा जो इन टुकड़ों के हवा में उड़ने और पूरे कमरे में इधर-उधर गिरने के कारण पैदा हो रहा था। आज जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूं तो समझ में आता है कि मैं सचमुच भाग्यशाली था कि मेरी कोई आंख नहीं उड़ी। वरना बाकी जिंदगी में लोग मुझे मोशे दयान समझते रहते।

मैं तेरहवें दलाई लामा थुप्तेन ग्यात्सो का बहुत धन्यवादी हूं कि वे मेरे लिए ढेर सारी सौगातें छोड़ गए। पोताला में काम करने वाले कई सफाई कर्मचारी उनकी सेवा कर चुके थे। उन लोगों से मुझे उनके बारे में बहुत कुछ पता चला। मुझे पता चला कि वे बहुत पहुंचे हुए आध्यात्मिक गुरू होने के साथ-साथ एक दूरदर्शी शासक भी थे। अपने जीवनकाल में विदेशी हमलों के कारण उन्हें दो बार निर्वासन में जाना पड़ा। पहली बार तब जब ब्रिटिश सरकार ने कर्नल यंगहसबैंड के नेतृत्व में 1903 में तिब्बत में सेना भेजी थी। दूसरी बार ऐसा 1910 में हुआ था जब मांचू राजाओं ने हमला किया था। पहले मामले में ब्रिटिश सरकार ने अपने आप ही अपनी सेना वापस बुला ली थी। लेकिन दूसरे मामले में मांचू सेना को 1911-12 वाली सर्दी में तिब्बत से वापस धकेल दिया गया था।

मेरे से पहले दलाई लामा ने टेक्नालोजी में भी काफी रुचि ली थी। तिब्बत के लिए जिन चीजों का उन्होंने आयात किया उनमें बिजली पैदा करने

वाला एक जेनरेटर, तिब्बत सरकार के लिए सिक्के गढ़ने की टकसाल और पहली बार तिब्बत के लिए कागज वाली करेंसी तैयार करने वाली मशीनें तथा तीन कारें उल्लेखनीय थीं। तिब्बत के लिए यह सब एक नई और जोरदार बात थी। उससे पहले तिब्बत में पहिये वाले वाहनों का चलन न के बराबर था। यह ठीक है कि लोग ऐसे वाहनों के बारे में जानते थे लेकिन एक उबड़ खाबड़ इलाके और कठिन प्राकृतिक वातावरण वाले देश में पीठ पर बोझा ढोने वाले जानवर ही माल की ढुलाई और आने जाने का सबसे अधिक भरोसेमंद साधन थे।

दूसरे कई मामलों में भी थुप्तेन ग्यात्सो एक दूरदृष्टा थे। दूसरी बार निर्वासन के बाद उन्होंने चार युवा तिब्बतियों को ब्रिटेन में शिक्षा के लिए भेजा।

यह प्रयोग काफी सफल रहा और न केवल उन लड़कों ने शिक्षा में अच्छा काम किया बल्कि उन्हें वहां के राजसी परिवार में भी आमंत्रित किया गया। लेकिन दुर्भाग्य से उसके बाद इस क्रम को जारी नहीं रखा गया। अगर बच्चों को विदेश में शिक्षा पाने का यह क्रम लगातार चलता रहता तो मुझे पूरा विश्वास है कि तिब्बत की जैसी हालत हुई वैसी न होती। सेना के मामले में सुधार को लेकर भी तेरहवें दलाई लामा ने कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए थे लेकिन दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु के बाद इसे जारी नहीं रखा गया।

उनकी एक और महत्वपूर्ण योजना थी खम प्रांत में ल्हासा सरकार की स्थिति को मजबूत करना। उन्होंने यह समझ लिया था कि ल्हासा से लंबी दूरी की वजह से केंद्र सरकार ने खम प्रांत को काफी उपेक्षित रखा हुआ था। उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि खम में स्थानीय कबीलों के सरदारों के बेटों को ल्हासा लाया जाए और उन्हें वहां शिक्षा देकर वापस सरकारी ओहदों पर खम प्रांत में भेजा जाए। वे इस पक्ष में भी थे कि स्थानीय लोगों को सेना में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। लेकिन दुर्भाग्य से कोई भी ऐसी योजनाएं लागू नहीं हो पाई।

तेरहवें दलाई लामा की राजनीतिक सूझबूझ भी असामान्य स्तर की और तेज थी। अपने आखिरी निर्देश में उन्होंने यह चेतावनी दी थी कि अगर बहुत भारी परिवर्तन नहीं किए गए तो :-

"यह हो सकता है कि तिब्बत में धर्म और सरकार दोनों पर देश के भीतर से या बाहर से आक्रमण हो। अगर हम अपने देश की रक्षा नहीं करेंगे तो यह अवश्यंभावी है कि दलाई लामा और पंचेन लामा, जो पिता और पुत्र जैसे संबंधों वाले हैं, और धर्म में आस्था रखने वाले लोग या तो गायब हो जाएंगे या संज्ञाहीन होकर रह जाएंगे। भिक्षुओं और उनके मठों को नष्ट कर दिया जाएगा। कानून का शासन बहुत कमजोर हो जाएगा। सरकारी अफसरों की जमीनें और जायदाद छीन ली जाएंगी। उन्हें या तो दुश्मन की सेवा करने पर मजबूर होना पड़ेगा या फिर वे देश में भिखारियों की तरह भटकते फिरेंगे। सभी जीवों को बहुत भारी मुश्किलों का और भय का सामना करना पड़ेगा। कष्ट इतना होगा कि दिन और रात बिताए नहीं बीतेंगे।"

इस शिलालेख में जिन पंचेन लामा का जिक्र किया गया है उन्हें तिब्बती बौद्ध धर्म में दलाई लामा के बाद दूसरे नंबर का प्रमुख आध्यात्मिक गुरू माना जाता है। उनकी धार्मिक गद्दी तिब्बत के दूसरे सबसे बड़े नगर शिगात्से के ताशीलुंपो मठ में होती है।

मेरे ख्याल से तेरहवें दलाई लामा शायद बहुत सादे इंसान थे। उन्होंने कई पुरानी परंपराओं को समाप्त कर दिया था। उदाहरण के लिए जब भी दलाई लामा अपने कक्ष में से बाहर निकलते थे तब बाहर खड़े किसी भी सेवक को वहां मौजूद रहने की अनुमति नहीं होती थी और उसे वहां से तुरंत चले जाना होता था। उनका कहना था कि इससे सेवकों को बहुत कष्ट होता है इसलिए उन्हें बाहर निकलने में ही संकोच होता हैं। इस कारण उन्होंने इस परंपरा को ही समाप्त कर
दिया।

सिंहासन

अपने बचपन में मैंने उनके बारे में ऐसे कई किस्से सुने थे जिनसे पता चलता था कि वे कितने व्यवहारिक थे। एक किस्सा मुझे एक बुजुर्ग ने बताया जिनका बेटा नामग्याल मठ में भिक्षु हुआ करता था। किस्सा तब का है जब नोबूलिंका के अहाते में कोई नया भवन बन रहा था। जैसी परंपरा थी, आम नागरिक अपनी शुभकामनाएं और सम्मान दिखाने के लिए नींव के लिए एक-एक पत्थर लाकर रख जाते थे। एक दिन किसी दूर वाले इलाके से एक बंजारा वहां अपने खच्चर पर ऐसा एक पत्थर रखकर लाया। वह व्यक्ति किस्सा बताने वाले का पिता था। उसका खच्चर बहुत अड़ियल था। ज्योंही उसने खच्चर से पत्थर उतारकर उसे परंपरागत शैली में वहां भेंट के लिए रखा तभी खच्चर वहां से सरपट दौड़ निकला। सौभाग्य से उस समय उस दिशा से एक व्यक्ति आ रहा था जिस दिशा में खच्चर दौड़ता चला जा रहा था। बंजारे ने चिल्लाकर उस व्यक्ति से आग्रह किया कि वह उस खच्चर को पकड़ ले। इस अनजान व्यक्ति ने तुरंत दौड़कर खच्चर को पकड़ लिया। जब उस व्यक्ति ने खच्चर लाकर उस बंजारे को दिया तो बंजारे की खुशी का ठिकाना नहीं था। लेकिन उसकी खुशी हैरानी में बदल गई क्योंकि खच्चर लाने वाला व्यक्ति कोई और नहीं बल्कि स्वयं दलाई लामा थे।

लेकिन तेरहवें दलाई लामा बहुत कठोर व्यक्ति भी थे। उन्होंने पोताला और नोरबूलिंका महल में तंबाकू के सेवन पर एकदम पाबंदी लगा दी थी। एक बार ऐसा हुआ कि पैदल चलते हुए वे जा रहे थे कि एक जगह उन्हें पत्थरों का काम करने वाले कारीगर काम करते हुए दिखे। उन लोगों ने दलाई लामा को नहीं देखा और अपनी बातों में लगे रहे। उनमें से एक व्यक्ति ऊंची आवाज में तंबाकू पर प्रतिबंध के खिलाफ शिकायत कर रहा था। वह दूसरों से कह रहा था कि थके और भूखे आदमी को तंबाकू से बहुत राहत मिलती है। यह कहते हुए उसने अपना यह फैसला भी सुना दिया कि वह तंबाकू जरूर चबाएगा। दलाई लामा ने उसकी बात सुनी और बिना कुछ कहे चुपचाप वहां से चले गए।

लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि वे बहुत नरम थे। उनके बारे में अगर मुझे कोई शिकायत है तो वह यही है कि वह सामान्य से कुछ ज्यादा तानाशाह थे। वह अपने बड़े अफसरों के साथ बहुत सख्ती से पेश आते थे और छोटी सी गलती पर भी उन पर बरस पड़ते थे। उनकी नरमदिली

केवल सामान्य नागरिकों तक ही सीमित थी।

आध्यात्म के क्षेत्र में थुप्तेन ग्यात्सो की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने मठों में शिक्षा और ज्ञान के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए काफी प्रयास किए। ऐसे मठों की संख्या तिब्बत में 6,000 से अधिक थी। ऐसा करने के साथ साथ उन्होंने विद्वान भिक्षुओं को अधिक महत्वपूर्ण पद दिए, भले ही वे दूसरों से कनिष्ठ क्यों न हों। कई हजार नए भिक्षुओं को उन्होंने स्वयं दीक्षा भी दी। और यह क्रम उनके जीवन काल के अंत तक चलता रहा।

36

आज़ाद शरणार्थी

जब तक मैं ल्हासा में रहा तब तक उन लगभग दो दशकों के दौरान हर साल में वसंत के मौसम में नोरबूलिंका रहने के लिए चला जाता था। और छः महीने बाद सर्दियां शुरू होने पर वापस पोताला आ जाता था। पूरे साल में मेरे लिए वह दिन बहुत खुशी का होता था जब मैं अपने पोताला वाले उदास कमरे को छोड़ता था। उस दिन की शुरुआत एक समारोह के साथ होती थी जो दो घंटे चलता था। लेकिन हर बार ये दो घंटे मुझे कभी न खत्म होने वाले कालखंड जैसे लगते थे। उसके बाद एक जोरदार जुलूस की बारी आती थी। लेकिन मुझे इसकी बहुत परवाह नहीं होती थी। इस समारोह में मुझे पालकी में बिठाकर ले जाते थे जबकि मेरी हमेशा यह इच्छा रहती थी कि मैं नरम नरम और नई घास पर प्रकृति का आनंद लेने के लिए पैदल चलूं। नोरबूलिंका पहुंचने के रास्ते में असंख्य मोड़ आते थे। नोरबूलिंका में एक बहुत खूबसूरत पार्क था जो ऊंची दीवारों से घिरा हुआ था। इस अहाते में बहुत सारे भवन थे जिनमें कई कर्मचारी रहते थे। अहाते के अन्दर एक और भीतरी दीवार थी जिसे पीली दीवार कहा जाता था। इस दीवार के पार केवल दलाई लामा, उनके परिवार के लोगों और कुछ भिक्षुओं को रहने की अनुमति थी। दीवार के पार कई दूसरे भवन थे जिनमें दलाई लामा का निजी आवास भी था जो चारों ओर से खूबसूरत बगीचे से घिरा हुआ था। मैं इस बगीचे में घंटों चहल कदमी किया करता

था और बगीचे की खूबसूरती तथा वहां रहने वाले कई पक्षियों और जानवरों को देखने का आनंद लिया करता था। इन जानवरों में पालतू कस्तूरी हिरणों का एक झुंड था; कम से कम छः विशालकाय तिब्बती 'दोक्ख्यी' मास्टिफ कुत्ते थे जो पहरेदारी करते थे; कुर्बुम से आया एक छोटा सा कुत्ता था; कुछ पहाड़ी बकरियां; एक बंदर; मंगोलिया से मंगाए गए कुछ ऊंट; दो तेंदुए और एक बूढ़ा उदास चीता जो कि बाड़ों में बंद रहते थे; कई किस्म कि तोते; कोई आधा दर्जन मोर; कुछ सारस; एक जोड़ी सुनहरी बत्तखें; और लगभग 30 ऐसी अभागी कनाडा बत्तखें थीं जिनके पंख यह सोचकर तोड़ दिए गए थे कि कहीं वे उड़कर चली न जाएं। मुझे उनके लिए बहुत दुख होता था।

तोतों में से एक मेरे धार्मिक अध्यापक केनराप तेनज़िन के साथ बहुत हिलमिल गया था। वे उसे बादाम खिलाया करते थे। जब वह तोता उनके हाथ से बादाम खा रहा होता था तब वे उसके माथे को सहलाते थे जिससे वह बहुत खुश होता था। मेरी भी बहुत इच्छा होती थी कि वह मेरे साथ भी ऐसी ही दोस्ती दिखाए। लेकिन बात बनी नहीं। इसलिए मैंने एक छड़ी से उसकी पिटाई कर दी। उसके बाद वह मेरी शक्ल देखकर ही भाग जाता था। इस घटना ने मुझे एक बहुत अच्छा सबक यह सिखाया कि दोस्ती जबरदस्ती नहीं बल्कि प्यार से ही की जा सकती है।

लिंग रिंपोछे की भी बंदर के साथ ऐसी ही दोस्ती थी। लेकिन वह केवल उन्हीं के साथ दोस्ती से पेश आता था। वे उसे अपनी जेब में से निकालकर खाना खिलाया करते थे। इसलिए जब भी यह बंदर उन्हें देखता वह कूदकर उनके ऊपर चढ़ जाता और उनके चोगे में इधर-उधर हाथ डालने लगता।

सिंहासन

दोस्ती के मामले में मेरा भाग्य मछलियों के साथ ज्यादा काम करता था जो एक झील में रहती थीं। मैं किनारे पर खड़े होकर उन्हें आवाज लगाता। अगर वे मेरी आवाज सुनकर किनारे आतीं तो मैं उन्हें इनाम के तौर पर

रोटी के टुकड़े और गुंथा हुआ सत्तू देता। लेकिन कभी-कभी वे मेरी बात को अनसुना करने का फैसला कर लेतीं और किनारे पर आने से मना कर देतीं। तब मुझे इतना गुस्सा आता कि उन्हें खाना देने के बजाए मैं पानी पर कंकड़ों की बरसात कर देता। लेकिन जब वे किनारे पर आतीं तो मैं इस बात का ध्यान रखता था कि छोटी मछलियों को उनका पूरा हिस्सा जरूर मिले। अगर जरूरी होता तो मैं एक लकड़ी की छड़ी से बड़ी मछलियों को वहां से हटा भी देता था।

एक बार जब मैं झील के किनारे खेल रहा था तब मैंने किनारे के निकट लकड़ी का एक अजीब सा टुकड़ा पानी पर तैरता हुआ देखा। मैंने लकड़ी की छड़ी से उसे पकड़ने के लिए जब प्रयास किया तो उसके बाद क्या हुआ मुझे पता ही नहीं चला। जब मुझे होश आया तो मैं घास पर लेटा हुआ था और आसमान में तारे दिखाई दे रहे थे। मुझे पता चला कि मैं छड़ी चलाते समय पानी में गिरकर डूबने लगा था। सौभाग्य से उस समय मेरा एक सफाई कर्मचारी, जो कि सेना में रह चुका था, मुझ पर दूर से ही नजर रखे हुए था। उसने मुझे पानी में गिरते हुए देखा एक और डूबने से पहले ही मुझे बाहर निकाल लिया।

नोरबूलिंका में रहने का एक और आकर्षण क्यीचू नदी की एक उपनदी थी जो अहाते वाली दीवार से कुछ मिनट पैदल की दूरी पर थी। बचपन के दिनों में मैं कई बार अपने एक नौकर के साथ बिना किसी को पता लगे चुपचाप नदी किनारे चला जाता था और पानी के किनारे-किनारे चलने का आनंद लेता था। शुरू-शुरू में मेरी इस आदत पर ध्यान नहीं दिया गया लेकिन बाद में ताथाग रिंपोछे ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया। दुर्भाग्य से दलाई लामा से जुड़े व्यवहार वाले नियम बहुत कठोर थे। इस कारण मुझे लोगों से दूर एक उल्लू की तरह अकेले रहने पर मजबूर किया जाता था। असल में उस दौरान तिब्बती समाज में रूढ़िवाद इतना गहरा था कि वरिष्ठ मंत्रियों के लिए भी खिड़की में से बाहर गली में झांकना तक उचित नहीं समझा जाता था।

पोताला की तरह नोरबूलिंका में भी मैं अपना ज्यादातर समय सफाई कर्मचारियों के बीच ही बिताता था। अपने छुटपन में भी मुझे व्यवहार के नियमों और दिखावे से बहुत चिढ़ थी। इसलिए मैं सरकारी अफसरों के

बजाए नौकरों के साथ रहना ज्यादा पसंद करता था। खासतौर से मुझे अपने माता-पिता के नौकरों के साथ उन दिनों खेलना बहुत अच्छा लगता था जब मैं उनसे मिलने उनके घर जाता था। उनमें से ज्यादातर लोग आम्दो के थे और मुझे उनसे अपने गांव और इलाके के किस्से सुनने में बहुत मजा आता था।

मुझे उनका साथ उस समय भी बहुत अच्छा लगता था जब हम चुपचाप मेरे माता पिता के घर की भोजन वाली कोठरी में घुस जाते थे। उन्हें भी यह सब बहुत अच्छा लगता था क्योंकि इसमें दोनों पक्षों को फायदा रहता था।

इस मामले में सबसे अच्छे दिन पतझड़ के आखिरी दिन होते थे जब सुखाया हुआ मांस ताजा-ताजा इकट्ठा किया जाता था। इस मांस को मिर्च की चटनी में डुबोकर खाने में मुझे बहुत मजा आता था। मुझे यह इतना अच्छा लगता था कि एक बार मैंने इतना खाया कि उसके तुरंत बाद बहुत बुरी तरह बीमार पड़ गया। जब मैं दर्द के मारे बेहाल होकर आगे की ओर झुकता तो केनराप तेनज़िन मुझे देखते ही ताना मारते, 'शाबाश! बहुत अच्छे ! तुम्हारे लिए यही ठीक है।' तब मुझे बहुत शर्म आती और मैं उन्हें जवाब भी नहीं दे पाता।

हालांकि मैं दलाई लामा था पर इसके बावजूद मेरे माता-पिता के नाकर मुझसे उसी तरह पेश आते थे जैसे दूसरे बच्चों के साथ। असल में बाकी लोगों का व्यवहार भी विशेष समारोहों को छोड़कर आम दिनों में ऐसा ही होता था। मुझे किसी तरह की फालतू रिआयत नहीं मिलती थी और मुझे डांटने में भी उन्हें कोई हिचक नहीं होती थी। इसलिए शुरू में ही मुझे यह बात समझ में आ गई थी कि जिन्दगी बहुत आसान नहीं है। मेरे सफाई कर्मचारी मुझे बेझिझक होकर यह बताते थे कि बड़े अफसरों और बड़े लामाओं के हाथों उन्हें किस तरह की ज्यादतियां सहनी पड़ती हैं। इसके अलावा वे मुझे दिन भर में होने वाली घटनाओं के बारे में भी खुसर-पुसर करके बता दिया करते थे। कई बार वे यह सब काम करते समय गीतों के

माध्यम से भी सुनाया करते थे। इसलिए भले ही मेरा बचपन कभी-कभी बहुत एकाकी भरा होता था (12 साल का होने पर ताथाग रिंपोछे ने मुझे माता पिता के घर जाने से रोक दिया था) लेकिन इसके बावजूद मेरा बचपन न तो राजकुमार सिद्धार्थ की तरह और न ही चीन के आखिरी सम्राट पू-यी की तरह उदासी भरा था। बड़ा होने के दौरान मैं बहुत रोचक लोगों से मिला।

मेरे बचपन के दौरान लगभग 10 ऐसे यूरोपवासी थे जो ल्हासा में ही रहते थे। मैं उनसे बहुत ज्यादा नहीं मिलता था। एक बार जब लोबसांग साम्तेन हाइनरिश हैरर को मुझसे मिलाने के लिए लाए तब मुझे किसी 'इंजी' को नजदीक से जानने का मौका मिला। तिब्बत में यूरोपवासियों को 'इंजी' ही कहा जाता है।

जब मैं बडा हो रहा था उस दौरान राजधानी ल्हासा में रहने वाले इन विदेशियों में सर बासिल गाउल्ड भी थे जो ब्रिटिश व्यापार मिशन के प्रमुख थे। बाद में उनके स्थान पर हफ रिचर्डसन आ गए जिन्होंने तिब्बत के बारे में कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं। निर्वासन में आने के बाद उनके साथ मैंने कई मुलाकातें भी की हैं। रेगिनाल्ड फाक्स के अलावा वहां एक ब्रिटिश मेडिकल अधिकारी भी थे जिनका नाम मुझे याद नहीं आ रहा। लेकिन उनके बारे में मैं एक बात कभी नहीं भूल पाऊंगा। एक बार उन्हें एक मोर की आंख का इलाज करने के लिए नोरबूलिंका बुलाया गया था। मैंने उन्हें काम करते हुए बहुत ध्यान से देखा और यह देखकर बहुत हैरान हुआ कि उन्होंने ठेठ ल्हासा वाली बोली और सुसंस्कृत तिब्बती भाषा में बारी-बारी से मोर को आश्वस्त किया। तिब्बत में आम बोलचाल की भाषा और सुसंस्कृत भाषा एक दूसरे से काफी अलग होती हैं। मेरे लिए एक विदेशी अजनबी के मुंह से मोर के लिए 'आदरणीय मोर जी' जैसा संबोधन सुनना बहुत हैरानी की बात थी।

सिंहासन

हाइनरिश हैरर बहुत रोचक व्यक्ति निकले। उनके जैसे भूरे बाल इससे पहले मैंने कभी नहीं देखे थे। मैंने उनका नाम 'गोप्से' रख दिया था

जिसका मतलब होता है 'पीली खोपड़ी'। आस्ट्रियन नागरिक हैरर को दूसरे विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार ने भारत में युद्धबंदी बना लिया था। लेकिन वे अपने एक साथी बंदी पीटर आउफश्नाईडर के साथ भाग निकले थे। वे दोनों भागते हुए ल्हासा आ पहुंचे थे। यह एक बहुत बड़ी बात थी क्योंकि तिब्बत में विदेशियों के घुसने की मनाही थी। केवल वही विदेशी आ सकते थे जिन्हें खास काम से आने की छूट थी। राजधानी ल्हासा पहुंचने से पहले वे दोनों तिब्बत में बंजारों की तरह पांच साल तक भटकते रहे थे। जब वे दोनों ल्हासा पहुंचे तो लोग उनकी बहादुरी और लगन से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें सरकार ने वहां रहने की इजाजत दे दी। स्वाभाविक है कि उनके आने की खबर मुझे सबसे पहले दी गई। मैं इन लोगों से मिलने और उन्हें देखने को उत्सुक था, खासतौर से हैरर को जिनके बारे में यह मशहूर हो चुका था कि वे बहुत रोचक और दोस्ताना किस्म के व्यक्ति हैं।

हैरर बहुत अच्छी बोलचाल वाली तिब्बती बोलते थे जिसमें हास्य का शानदार पुट रहता था। मगर इसके बावजूद उनका व्यवहार बहुत सम्मानजनक था। जब मेरा उनके साथ परिचय घनिष्ठ हो गया तब वे औपचारिकता छोड़कर सीधी-सीधी बातचीत करने लगे थे। लेकिन मेरे अफसरों की मौजूदगी में वे सभी जरूरी औपचारिकताएं निभाते थे। उनके इस गुण का मैं बहुत सम्मान करता था। उनसे मेरी पहली मुलाकात शायद 1948 में हुई थी। उसके बाद अगले लगभग ढेड़ साल हम तब तक हर सप्ताह मिलते रहे जब तक वे तिब्बत से चले नहीं गए। उनसे मुझे बाहरी दुनिया के बारे में, खासतौर से यूरोप और हाल ही के युद्ध के बारे में काफी जानकारी मिली। उन्होंने मुझे अंग्रेजी सीखने में भी मदद की जो मैंने कुछ समय पहले ही अपने एक अधिकारी से सीखनी शुरू की थी। मुझे तब तक अक्षर ज्ञान हो चुका था। अंग्रेजी अक्षरों के उच्चारण मैंने तिब्बती में लिख लिए थे। लेकिन मैं और अधिक सीखने को उत्सुक था। हैरर ने कई व्यवहारिक तरीकों से इस काम में मदद दी।

उन्होंने मुझे जेनरेटर के मामले में भी मदद दी जो मुझे बिजली वाले प्रोजेक्टर के साथ मिला था। तब तक यह काफी बूढ़ा और बीमार भी हो चुका था। मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि शायद ब्रिटिश अधिकारियों ने मेरा वाला नया जनरेटर अपने पास रख लिया था और अपना पुराना

वाला मुझे थमा दिया था।

इस दौरान मेरी रुचि उन तीन कारों में भी बहुत बढ़ गई थी जो तेरहवें दलाई लामा ने विदेश से मंगवाई थीं। हालांकि वहां सही तरह की सड़कें नहीं थीं लेकिन फिर भी उन्होंने इन कारों का ल्हासा और आसपास के इलाकों में अपने आखिरी दिनों तक इस्तेमाल किया। उसके बाद इन कारों का इस्तेमाल नहीं हुआ और वे पड़ी-पड़ी खराब होती रहीं। उन दिनों ये कारें नोरबूलिंका के एक भवन में खड़ी हुई थीं।

40

आज़ाद शरणार्थी

इनमें से एक अमरीकी डाज़ थी और बाकी दोनों बेबी ऑस्टिन थीं। वे सभी 1920 वाले दशक की पुरानी और 'विंटेज' हो चुकी कारें थीं। इनके अलावा वहां एक विलीज़ जीप भी थी जो अमरीका की यात्रा पर 1948 में गए तिब्बती व्यापार मिशन के सदस्य लाए थे। लेकिन इसका भी कभी कभार इस्तेमाल हुआ था।

मूवी प्रोजेक्टरों की तरह कारों के मामले में भी मुझे ऐसा व्यक्ति ढूंढने में समय लगा जो कारों के बारे में जानकारी रखता हो। मैं इन कारों को मरम्मत करके फिर से चलने लायक बनाने का फैसला कर चुका था। आखिरकार हमें एक ड्राइवर ताशी सेरिंग मिला जो दक्षिणी तिब्बत की सीमा से लगे कालिंपोंग इलाके का मूल निवासी था। लेकिन वह बहुत गुस्सैल था। उसने और मैंने मिलकर कारों पर काम किया। एक ऑस्टिन के कुछ पुर्जे निकालकर दूसरी में लगाए गए और उसे चालू कर दिया गया। डाज़ और जीप की हालत अपेक्षाकृत बहुत अच्छी थी और वे थोड़ी बहुत छेड़खानी के बाद दौड़ने लगी थीं।

एक बार जब कारों की मरम्मत हो गई तब मुझे उनके निकट जाने की भी मनाही कर दी गई। लेकिन यह मेरी बर्दाश्त के बाहर था। आखिर एक दिन जब ड्राइवर कहीं गया हुआ था तब मैंने एक कार को बाहर चलाने का फैसला कर लिया। डाज़ और जीप को स्टार्ट करने के लिए चाबी की जरूरत होती थी। और दोनों चाबियां ड्राइवर की जेब में थीं। लेकिन

ऑस्टिन को केवल फ्रैंक हैंडल घुमाकर स्टार्ट किया जा सकता था।

बहुत सावधानी से मैंने गाड़ी को उल्टा धकेल कर शैड में से बाहर निकाला। मेरा इरादा बगीचे का एक चक्कर लगाना था। लेकिन बदकिस्मती से नोरबूलिंका में इतने अधिक पेड़ थे कि कुछ देर में ही मेरी कार एक पेड़ से जा टकरायी। मैं यह देखकर डर गया कि एक हैडलैम्प का शीशा चकनाचूर हो गया था। मेरी चिंता यह थी कि अगर मैंने ड्राइवर के आने से पहले शीशा नहीं बदला तो मेरी चोरी पकड़ी जाएगी और मैं मुसीबत में फंस जाऊंगा।

किसी तरह से मैंने कार को बिना और नुकसान पहुंचाए वापस शेड में पहुंचाया। वहां पहुंचते ही मैंने शीशे की मरम्मत के प्रयास शुरू कर दिए लेकिन मुझे यह देखकर बहुत सदमा लगा कि टूटा हुआ शीशा कोई सामान्य शीशा नहीं बल्कि रंगीन शीशा था। किसी तरह से मैंने एक ऐसा शीशा ढूंढ निकाला जो हैडलाइट में फिट आ गया। लेकिन अब मुख्य समस्या दोनों शीशों का रंग मिलाने की थी। आखिरकार मैंने इसका भी हल ढूंढ निकाला। मैंने इस शीशे पर जली हुई चीनी की चाशनी का लेप करके इसे रंगीन बना दिया। काम खत्म होने पर मैं अपनी इस उपलब्धि पर बहुत संतुष्ट था। लेकिन इसके बावजूद अगले दिन जब ड्राइवर आया तो मैं डर रहा था कि उसे सब पता चल जाएगा कि गाड़ी के साथ क्या हादसा हो चुका है। लेकिन उसने सब समझने के बाद भी कुछ नहीं कहा। मैं ताशी सेरिंग को कभी भी नहीं भूल पाऊंगा। वह अभी भी जीवित है और भारत में रहता है। हालांकि मैं उससे कभी कभार ही मिला हूं लेकिन

फिर भी मैं उसे अपना एक अच्छा मित्र मानता हूं।

तिब्बती कैलेंडर काफी पेचीदा चीज है। यह चांद के महीनों पर आधारित है। इसके अलावा इसमें सदियों का इस्तेमाल करने के बजाए साठ साल के चक्र का इस्तेमाल किया जाता है। हर चक्र पांच मूल तत्वों के नाम पर होता है और इनका क्रम है पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल और लोहा। इनके बाद

बारह जानवरों का नाम जिस क्रम में रहता है वह है चूहा, बैल, चीता, खरगोश, अजगर, सांप, घोड़ा, भेड़, बंदर, चिड़िया, कुत्ता और सुअर। हर तत्व दो बार आता है, एक बार पुल्लिंग और दूसरी बार स्त्रीलिंग जानवर के साथ। इस तरह दस साल का चक्र बनता है और उसके बाद पहला तत्व ग्यारहवें और बारहवें जानवरों के साथ दूसरा तेरहवें और चौदहवें के साथ और इस तरह यह चक्र चलता जा रहा है। उदाहरण के लिए तिब्बती केलेंडर में वर्ष 2,000 ई. को लोहा-अजगर वर्ष कहा जाएगा।

तिब्ब्त पर चीन के हमले से पहले सदियों तक मौसमों के नाम त्यौहारों के नाम पर रखे जाते थे। आमतौर पर इसका धार्मिक महत्व होता था। लेकिन इन्हें भिक्षु और आम लोग सभी मनाते थे। आम लोगों के लिए त्यौहार का मतलब होता था खाना, दारू पीना, गाना, नाचना और खेल खेलना तथा बीच-बीच में पूजा भी करना।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण त्यौहारों में नववर्ष 'लोसार' होता है जो पश्चिमी कैलेंडर के हिसाब से या तो फरवरी में आता है या मार्च में। मेरे लिए इस त्यौहार का एक खास महत्व होता था। और वह था सार्वजनिक सभा में सरकारी भविष्य वक्ता 'नेचुंग' के साथ मुलाकात। इस बारे में मैं बाद में विस्तार से चर्चा करूंगा लेकिन संक्षेप में यह मेरे लिए और मेरी सरकार के लिए एक माध्यम 'कुतेन' के रास्ते तिब्बत की रक्षा करने वाली देवी दोर्जी द्राक्देन के साथ संपर्क करने का अवसर होता था ताकि अगले वर्ष के बारे में हमें जानकारी मिल सके।

एक और त्यौहार है 'मोन्लम' जिसके बारे में मेरी दोहरी और मिश्रित अनुभूति है। प्रार्थनाओं का यह महान समारोह नववर्ष लोसार के तुरंत बाद आता है। बालक दलाई लामा के रूप में भी मुझे इसमें भाग लेना होता था। लेकिन इस समारोह से जुड़ी हुई एक खराब स्मृति यह है कि हर बार समारोह के दौरान मुझे फ्लू के जबरदस्त हमले का भी सामना करना पड़ता था। आजकल भी जब कभी मैं भारत में बोधगया जाता हूं तब धूल के कारण मुझे फ्लू हो जाता है। तिब्बत में फ्लू का कारण जोखांग मंदिर के वे कमरे थे जो पोताला में मेरे निजी कमरे से भी कहीं ज्यादा भयंकर थे।

जिस पूजा से मुझे बहुत डर लगता था वह दो सप्ताह तक चलने वाली

मोन्लम प्रार्थना सभा के बाद दोपहर बाद होती थी। इसके बाद रीजेंट का बुद्ध शाक्यमुनी के जीवनकाल के बारे में लंबा भाषण होता था। पूजा अपने आप में ही चार घंटे से अधिक चलती थी जिसके बाद मुझे ग्रंथों में से बहुत कठिन हिस्से याद करके बोलने होते थे। 'यह सब इतना नर्वस करने वाला होता था कि मुझे इससे पहले का एक अक्षर भी समझ में नहीं आता था।

42

आज़ाद शरणार्थी

मेरे वरिष्ठ अध्यापक, रीजेंट, मेरे कर्मकांड भिक्षु तथा रसोईघर के प्रमुख सभी की आशंकाएं एक जैसी होती थीं। उन सब की एक खास चिंता होती थी। मुझे एक बहुत ऊंचे आसन पर बिठाया जाता था। इसलिए किसी के लिए यह संभव नहीं था कि अगर मैं कहीं अटक जाऊं तो वह पीछे से बोलकर मुझे सहारा दे दे।

जहां तक मेरी बात है, पाठ को याद रखना मेरी समस्या का केवल आधा हिस्सा था। समारोह इतना लंबा चलता था कि मुझे यह भी डर लगा रहता था कि मैं अपने पेशाब के दबाव को रोके रख पाऊंगा या नहीं। लेकिन आखिरकार सब कुछ ठीक-ठाक निबट जाता था। ऐसा पहली बार भी हुआ जब मैं बहुत ही छोटा था। लेकिन मुझे याद है कि मेरे ऊपर डर बुरी तरह छाया रहता था। यह डर मेरी इंद्रियों पर इतना गहरा छा जाता था कि मुझे यह समझ ही नहीं आता था कि आसपास क्या हो रहा है। यहां तक कि मुझे वे कबूतर भी नहीं दिखाई देते थे जो मंदिर में रखे प्रसाद को चुराकर इधर उधर उड़ रहे होते थे। मुझे वे केवल तब दिखाई पड़ते थे जब मैं अपने पाठ का आधा हिस्सा निबटा चुका होता था।

और जब यह सब निबट जाता था तब मेरी खुशी की कोई सीमा नहीं होती थी। खुशी का एक कारण यह भी होता था कि अगले बारह महीने तक की यह जिम्मेदारी निबट गई। इसके अलावा मेरी खुशी का दूसरा बड़ा कारण यह होता था कि इसके बाद मुझे बाहर गलियों में खुले पैदल घूमने की छूट मिलती थी ताकि मैं बोधिसत्वों को चढ़ाए जाने वाले विशाल 'तोरमा' देख

सकूं। ये तोरमा मक्खन से बनी हुई रंगबिरंगी विशाल कलाकृतियां होती थीं जो बहुत खुबसूरत थीं। इसके अलावा कठपुतलियों के खेल, सैनिक टुकड़ियों द्वारा बजाए जाने वाला संगीत तथा त्यौहार का मेरे लिए बहुत आकर्षण होता था।

जोखांग मंदिर तिब्बत का सबसे पवित्र माना जाने वाला मंदिर है। इसे सातवीं शताब्दि ई. में तिब्बत के महान राजा सोंगसेन गोम्पो ने अपनी नेपाली रानी भृकुटी देवी द्वारा लाई गई मूर्ति के लिए बनवाया था। सोंगसेन गोम्पो की चार अन्य रानियां भी थीं जिनमें से तीन तिब्बती और एक तांग घराने के दूसरे चीनी राजा की बेटी राजकुमारी वेंगचेन कोंग्जो थी। बाद की शताब्दियों में यह मंदिर फैलकर लगातार बड़ा होता रहा। जोखांग मंदिर का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग पत्थर का वह स्मारक है जो तिब्बत की शानदार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रमाण है। पत्थर के इस स्तंभपर तिब्बती और चीनी भाषा में तिब्बत और चीन के बीच 821-22 ई. में हुई शांति संधि का आलेख खुदा हुआ है, जो इस प्रकार है:

"तिब्बत के चमत्कारी दैवी शक्ति वाले महान राजा और चीन के महान राजा हुआंग-ती, जो कि चाचा-भतीजे हैं, के बीच सलाह के बाद दोनों राज्यों के बीच गठबंधन की सहमति हुई है। इन दोनों ने एक महान संधि तैयार की है और उस पर हस्ताक्षर किए हैं। देवता और मनुष्य सभी इस संधि के गवाह हैं ताकि इसमें कभी भी परिवर्तन न किया जा सके। इसी दृष्टि से इस संधि का यह विवरण इस पत्थर के स्तंभ पर खुदवा दिया गया है

ताकि भविष्य की पीढ़ियों को इसकी जानकारी रहे।

"चमत्कारी दैवी शक्ति वाले त्रिसोंग ट्रेत्सेन और चीनी राजा वेन वू सियाओ-ते हुआंग-ती, जो कि चाचा और भतीजे हैं, उन्होंने दूरगामी विवेक का प्रयोग करते हुए, ताकि दोनों देशों के कल्याण को आज या भविष्य में

किसी तरह की हानि न हो, अपनी पक्षपातहीन दया को पूरे क्षेत्र में बांटने का फैसला किया है। अपनी-अपनी प्रजा की शांति और कल्याण के लिए काम करने की एकमात्र इच्छा के साथ ये दोनों दीर्घकालिक शुभ इच्छा को लागू करने के ऊंचे कार्य के लिए सहमत हुए हैं; तथा इन दोनों ने यह महान संधि इसलिए की है कि पुरातनकाल से चली आ रही आपसी मैत्री और एक दूसरे के प्रति सम्मान तथा मैत्रीपूर्ण पड़ोसी वाले भाईचारे को फिर से स्थापित किया जा सके।

"तिब्बत और चीन अपनी मौजूदा राष्ट्रीय सीमाओं का पालन करेंगे। पूर्व में महान राष्ट्र चीन है और पश्चिम में बिना किसी संशय के महान देश तिब्बत है। आज के बाद दोनों में से कोई भी देश न तो एक दूसरे के खिलाफ युद्ध करेंगा न दूसरे की भूमि छीनेगा। यदि कोई भी व्यक्ति संशय का कारण बनता है तो उसे गिरफ्तार किया जाएगा, उसके कामकाज की जांच की जाएगी और उसे वापस उसके देश भेज दिया जाएगा।

"अब जबकि टोनों देशों ने इस महान संधि के आधार पर दोस्ती कर ली है इसलिए अब यह आवश्यक है कि एक दूसरे के यहां पुराने रास्ते से दूतों का आदान प्रदान फिर से शुरू किया जाए ताकि चाचा और भतीजे के बीच मधुर संबंधों को बनाए रखने के लिए तथा आपसी संपर्क बनाए रखने के लिए संदेशों का आदान प्रदान किया जा सके। पुरानी परंपरा के अनुसार चियांग-शुन दर्रे के निचले चरण पर, जो तिब्बत और चीन की सीमा है, घोड़े बदले जाएंगे। सुईयुंग बैरियर पर चीन वाले तिब्बती दूतों से मिलेंगे और उन्हें आगे के लिए हर तरह की सुविधांए उपलब्ध कराएंगे। चिंग शुई पर तिब्बत वाले चीनी दूतों से मिलेंगे और आगे के लिए उन्हें सभी सुविधाएं उपलब्ध कराएंगे। दोनों ओर उनके साथ परंपरागत सम्मान का वैसा व्यवहार होगा जैसा कि चाचा और भतीजे के बीच मैत्री संबंधों के अनुसार होना चाहिए।

"दोनों देशों के बीच किसी तरह का दुराव छिपाव नहीं होना चाहिए। ऐसा कुछ नहीं किया जाना चाहिए जो चिंतित करने वाला हो और 'शत्रु' जैसा शब्द बोला भी नहीं जाना चाहिए। यहां तक कि सीमाओं पर तैनात रक्षकों को भी एक दूसरे के प्रति संशय या डर नहीं होना चाहिए ताकि वे धरती और बिस्तर का सुविधा से इस्तेमाल कर पाएं। सभी शांति से रहेंगे और

सुख का वरदान दस हजार साल तक भोगेंगे। इन संबंधों की प्रसिद्धि उन सब स्थानों तक पहुंचेगी जहां पर सूर्य और चंद्रमा की पहुंच है।

"इस संधि से एक ऐसे महान युग का सूत्रपात होगा जिसमें तिब्बती जनता तिब्बत की भूमि पर प्रसन्न रहेगी और चीन की जनता चीन की भूमि पर।

44

आज़ाद शरणार्थी

इस संधि में किसी तरह का बदलाव नहीं किया जा सके इस दृष्टि से धर्म के त्रिरत्नों, संतों के संघ, सूर्य और चंद्रमा, ग्रहों और सितारों का आह्वान किया जाता है कि वे इस संधि के साक्षी रहें। इस बारे में अपनी इच्छा से कसम भी खाई गई है और इसके लिए पशुओं की बलि भी दी गई है तथा संधि पर अपनी-अपनी ओर से पुष्टि भी की गई है।

"अगर दोनों पक्ष इस संधि के अनुकूल व्यवहार नहीं करते या फिर इसका उल्लंघन करते हों तो भले ही वह तिब्बत हो या चीन, इसके जवाब में की गई किसी भी कार्रवाई को संधि का उल्लंघन नहीं माना जाएगा।

"तिब्बत और चीन के राजाओं तथा मंत्रियों ने इस बारे में आवश्यक कसम खाई है तथा समझौते को विस्तार से लिखा गया है। दोनों राजाओं ने अपनी-अपनी मुहरें इस पर लगाई हैं। इस संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए विशेष रूप से नियुक्त किये गए मंत्रियों ने इस संधि पर अपने-अपने हस्ताक्षर किये हैं और इनकी प्रतियां एक दूसरे के राजकीय दस्तावेजों में शामिल कर ली गई हैं।"

जोखांग में मेरा कमरा दूसरी मंजिल पर था जो कि मंदिर की छत था। यहां से मैं न केवल भवन के मुख्य हिस्से को देख सकता था बल्कि यहां से नीचे का बाजार भी दिखाई देता था। दक्षिण की ओर खुलने वाली खिड़की में से मुझे मुख्य राजसभा कक्ष दिखाई देता था जिसमें मैं भिक्षुओं को पूरा दिन मंत्रों का जाप करते हुए देख सकता था। ये भिक्षु बहुत संयत व्यवहार वाले थे और अपने कार्य में लगे रहते थे।

पूर्व दिशा वाली खिड़की काफी अलग तरह की थी। इस खिड़की में से मैं नीचे का अहाता देख सकता था जहां मेरे जैसे नए भिक्षु इकट्ठे होते थे। मैं यह देखकर बहुत हैरान होता था कि वे आपस में झगड़ा भी करते थे और कई बार आपस में मारपीट भी करने लगते थे। जब मैं बहुत छोटा था तब मैं कई बार चुपचाप नीचे उतर जाता था ताकि मैं उन्हें नजदीक से देख सकूं। लेकिन वहां जो कुछ होता था उसे देखकर मुझे यकीन नहीं होता था। एक तो वे अपनी प्रार्थनाएं उस तरीके से नहीं पढ़ते थे जैसा उन्हें पढ़ना चाहिए था। वे उन्हें केवल गाते भर थे और वे भी केवल उस हालत में जब वे मुंह खोलने का फैसला करें। उनमें से बहुत सारे ऐसे थे जो शायद इतना भी नहीं करते थे और पूरा समय केवल खेलते रहते थे। उनके बीच आपसी झगड़े उठ खड़े होना बहुत सामान्य बात थी। झगड़े में वे अपने लकड़ी वाले कटोरे निकाल लेते थे और उन्हें एक दूसरे के सिर पर फोड़ते थे। इस सबको देखकर मुझमें एक अजीब प्रतिक्रिया होती थी। एक ओर तो मैं खुद को यह समझाता था कि ये भिक्षु एकदम नालायक हैं। लेकिन दूसरी ओर मुझे उनसे इर्ष्या भी होती थी। उन्हें दुनिया भर में किसी चीज की चिंता नहीं थी। लेकिन जब उनके ये झगड़े हिंसक रूप ले लेते तब मैं डर जाता और वहां से हट जाता।

पश्चिम की ओर मैं खिड़की में से बाजार का दृश्य देख सकता था।

स्वाभाविक तौर पर मुझे इस खिड़की में से देखना बहुत अच्छा लगता था। लेकिन ऐसा करते समय मुझे जासूस की तरह काम करना पड़ता था क्योंकि अगर मैं सामने आकर लोगों को देखता तो वे भी मुझे देख सकते थे। अगर वे मुझे देख लेते तो नतीजा यह होता कि सभी लोग वहां दौड़े आते और साष्टांग करते हुए सड़क पर लेट जाते। इसलिए मैं हमेशा छिप कर परदे के पीछे से यह दृश्य देखा करता था। लेकिन ऐसा करते हुए मुझे ऐसा लगता था कि मैं कोई अपराध कर रहा हूं। मुझे याद है कि पहली या दूसरी बार जब मैं जोखांग में रहने गया तब मैं सात या आठ साल का था।

तब मैंने एक बार बहुत खराब हरकत की। लोगों की भीड़ मेरे लिए बहुत कोतूहल की बात थी। मैंने परदे के पीछे से अपना पूरा सिर बाहर निकाल लिया। लेकिन शायद मेरी इतनी धृष्टता ही काफी नहीं थी। मुझे याद है कि मैंने वहीं से थूक के गुब्बारे नीचे फेंकने शुरू किए जो उन लोगों के सिर पर गिरे जो बहुत नीचे महल के निकट आ गए थे। लेकिन मुझे खुशी है कि इस घटना के बाद युवा दलाई लामा ने कुछ आत्म अनुशासन सीख लिया था।

बाजार की दुकानों की तरफ ताकझांक करने में मुझे बहुत मजा आता था। मुझे याद है कि एक बार मैंने वहां लकड़ी की बंदूक देखी। मैंने किसी को वहां भेजा कि मेरे लिए बंदूक का वह मॉडल खरीद लाए। मैंने उसे इसके लिए कुछ धन भी दिया। यह धन उस चढ़ावे में से था जो दर्शन करने के लिए आने वाले तीर्थयात्री चढ़ाकर जाते थे। हालांकि मुझे इस धन को खुद छूने की मनाही थी लेकिन फिर भी मैं इसमें से कुछ पैसे मार लियां करता था। वास्तविकता यह है कि आज भी मेरा इस धन से सीधे-सीधे कुछ भी संबंध नहीं होता। मेरी सारी आमदनी और खर्चे को देखने का काम मेरा निजी कार्यालय करता है।

जोखांग में रहने का एक और सुख यह था कि मुझे सफाई कर्मचारियों में से नए लोगों के साथ दोस्ती बनाने का मौका मिलता था। हमेशा की तरह मेरा सारा खाली समय उन लोगों के साथ बीतता था। मुझे लगता है कि वे भी मेरी तरह तब उदास हो जाते थे जब मुझे वहां से जाना होता था। एक बार मुझे याद है कि जब मैं वहां आया तो पिछले साल वहां जो सहायक थे उनमें से कोई भी मुझे वहां नहीं मिला। मैं हैरान था कि ऐसा क्यों हुआ क्योंकि मैं उनसे मिलने को बहुत उतावला था। उनमें से केवल एक ही पुराना सहायक वहां था। मैंने उससे जब कारण पूछा तो पता चला कि बाकी सभी दस लोगों को चोरी के अपराध में निकाल दिया गया था। उसने बताया कि जब पिछली बार मैं वहां से गया तब वे लोग छत. के रोशनदान से उतरकर मेरे कमरे में आए और सोने के दीए और दूसरी कीमती चीजें लेकर चंपत हो गए। तो इस तरह के दोस्त थे दलाई लामा के।

मोन्लम त्यौहार का आखिरी दिन बाहर खुले में गतिविधियों का दिन होता

था। सबसे पहले भविष्य में आने वाले बुद्ध यानि मैत्रेय की एक विशाल प्रतिमा का जुलूस शहर का बाहर-बाहर से चक्कर लगाता था।

46

आज़ाद शरणार्थी

इस बाहरी रास्ते को लिंगकोर कहा जाता था। मुझे बताया गया है कि अब चीनियों की मेहरबानी से लिंगकोर समाप्त हो गया है। लेकिन शहर के विकास के बावजूद जोखांग के आसपास चक्कर लगाने वाला रास्ता बारखोर अभी भी सलामत है। पुर।ने जमाने में कई तीर्थयात्री पुण्य कमाने के लिए जमीन पर साष्टांग करते हुए पूरे लिंगकोर की लम्बाई नापते थे।

मुर्ति के जुलूस के बाद उत्साह का एक नया वातावरण बन जाता था क्योंकि तब खेलकूद का कार्यक्रम शुरू होता था। इस कार्यक्रम में घोड़ों की दौड़ और लोगों की दौड़ें भी शामिल रहती थीं। घोड़ों की दौड़ कुछ असामान्य किस्म की थी क्योंकि इसमें घोड़ों पर कोई व्यक्ति सवार नहीं होता था। उन्हें द्रेपुंग मठ से भी आगे जाकर छोड़ दिया जाता था और उसके बाद उनके मालिक और तमाशबीन उनके पीछे दौड़ते थे। लेकिन घोड़ों के वहां पहुंचने से कुछ पहले ही दौड़ में हिस्सा लेने वाले एथलीट भी अपनी दौड़ शुरू कर देते थे। ऐसा करने से एक अजीबो गरीब दृश्य पैदा हो जाता था। क्योंकि घोड़े और मनुष्य एक साथ दौड़ते हुए वहां पहुंचते थे। लेकिन एक बार एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घट गई। दौड़ में शामिल कुछ धावकों ने शरारत के लिए दौड़ते हुए घोड़ों की दुम पकड़ ली और उनके पीछे फिसलते हुए मैदान में जा पहुंचे। रेस खत्म होने के बाद मुख्य प्रबंध अधिकारी ने उन लोगों को पकड़वा भेजा जिन पर इस शरारत का आरोप लगाया गया था। पता चला कि इनमें से ज्यादातर मेरे ही कर्मचारी थे। जब मुझे पता चला कि उन्हें सजा दी जाने वाली है तब मुझे काफी चिंता हुई। आखिरकार मुझे उन लोगों के बचाव के लिए दखल करना ही पड़ा।

मोन्लम त्यौहार के कुछ ऐसे पहलू भी थे जिनका ल्हासा की जनता पर सीधा असर होता था। एक पुरानी परंपरा के अनुसार नगर का सारा प्रशासन द्रेपुंग मठ के प्रधान को दे दिया जाता था। नगर की कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए वह अपने भिक्षुओं में से कुछ लोगों को

नियुक्त करता था। इसका कड़ाई से पालन होता था और उल्लंघन करने वालों को जुर्माना देना पड़ता था। जिस एक चीज पर मठ के प्रधान का बहुत ध्यान रहता था वह थी नगर की सफाई। इसका एक नतीजा यह होता था कि पूरे नगर के हर मकान की सफाई और सफेदी होती थी तथा गलियों को एकदम साफ कर दिया जाता था।

एक बच्चे के तौर पर नववर्ष के त्यौहारों का सबसे रोचक पहलू मिठाईयां होती थीं। परंपरा के अनुसार खबसे रोटी तली जाती थी। हर साल त्यौहारों के दौरान मेरा रसोई प्रमुख मेरे लिए कई तरह की पेस्ट्रियां बनाता था और कई तरह के आकार वाले खबसे तले जाते थे। एक बार मैंने भी कुछ चीजें तलने का फैसला किया। यह सब करने में मुझे इतना मजा आया कि मैंने रसोई प्रमुख से कहा कि मैं अगले दिन तलने के लिए फिर आऊंगा।

अगले दिन मेरे लिए जो तेल गर्म किया गया था वह एकदम नया था और पूरी तरह उबला हुआ नहीं था। मैंने ज्योंही तलने के लिए खबसे को कढ़ाई में छोड़ा तो वह ज्वालामुखी की तरह फट निकला। खौलता हुआ तेल मेरी दायीं बांह के ऊपर आ गिरा।

जिसके कारण बांह के ऊपर छाले निकल आए। इस दुर्घटना की जो सबसे मुख्य बात मुझे याद है वह है मेरे एक बुजुर्ग रसोईये का व्यवहार जो ढेर सारी नसवार सूंघा करता था। उसे बहुत जल्दी जोश नहीं आता था। मगर मेरे हाथ पर गिरे तेल को देखकर वह तेजी से भागा आया। उस समय उसके हाथ में शायद क्रीम थी जिसे वह फेंट रहा था। उसने वही क्रीम मेरी बांह पर मलनी शुरू कर दी। आमतौर पर वह बहुत मजाकिया मूड में रहता था। लेकिन उस समय वह बहुत बुरी तरह परेशान दिख रहा था। उसकी नाक में से नसवार की फुटकियां निकल कर लटक रही थी और चेचक के दानों से भरे चेहरे पर गंभीर मुद्रा लिए वह मेरी सहायता

कर रहा था। उसका यह रूप मेरे लिए एकदम नया और हास्यास्पद सा था।

सभी त्यौहारों में से मुझे सबसे रोचक ओपेरा उत्सव लगता था जो एक सप्ताह तक चलता था और उसमें कई तरह के गीतिनाट्य प्रस्तुत किए जाते थे। यह समारोह सातवें महीने के पहले दिन शुरू होता था। इसमें भाग लेने के लिए पूरे तिब्बत से नर्तकों, गायकों और अभिनेताओं के समूह आते थे। वे अपनी ओपेरा तथा दूसरी प्रस्तुतियां पीली दीवार के अहाते से ठीक बाहर खुले मैदान में करते थे। मैं भी इन कार्यक्रमों को देखने जाया करता था। मेरे लिए दीवार से लगे एक मकान में एक विशेष केबिन बना दिया जाता था जहां से मैं समारोह को आसानी से देख सकता था। देखने वालों में सरकार के बड़े अधिकारी और उनकी पत्नियां भी शामिल रहती थीं। यह ऐसा अवसर था जब इन अधिकारियों की पत्नियों में अपने अपने गहने ओर कपड़े दिखाने की होड़ सी लग जाती थी। लेकिन यह होड़ केवल महिलाओं तक ही सीमित हो ऐसी बात नहीं थी। इस मौके पर नोरबूलिंका में काम करने वाले सफाई कर्मचारी भी होड़ में शामिल हो जाते थे। त्यौहार से कई दिन पहले ही वे अपना बहुत सारा समय और ताकत इधर-उधर से कपड़े और गहने आदि उधार लेने में लगाते थे। गहनों में वे मूंगे पर विशेष बल देते थे। उनके लिए एक विशेष अवसर तब आता था जब उन्हें बागवानी के मुकाबले में शामिल फूलों के बड़े-बड़े बर्तन उठाकर परेड में शामिल होना होता था।

मैं अपने सफाई कर्मचारियों में से एक व्यक्ति को कभी नहीं भूल सकता क्योंकि वह हमेशा एक खास किस्म का टोप पहनता था जिस पर उसे बहुत गुमान था। इसमें लाल रेशम का एक बहुत बड़ा दुपट्टा सा था जिसे वह बड़े करीने से अपनी गर्दन और कंधों पर लटकाये रखता था।

समारोह में होने वाले कार्यक्रमों को देखने के लिए आम लोग भी आते थे। लेकिन अधिकारियों की तरह उनके बैठने के लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं होती थी। उन्हें जमीन पर ही बैठना होता था। नाटक आदि देखने के अलावा वे बड़े-बड़े अफसरों की वेशभूषाएं भी देखने आते थे। उनमें से कई लोग इस मौके का फायदा उठाते हुए हाथों में प्रार्थना चक्र मणि लेकर मेरे आवास के आसपास वाली पीली दीवार का चक्कर भी काट लेते थे।

मणि एक घूमने वाला गोल डिब्बा होता है जिसके अन्दर लिखी हुई प्रार्थनाएं रहती हैं। भक्त लोग मंत्र पढ़ते हुए इस चक्र को घुमाते रहते हैं।

इस समारोह में भाग लेने के लिए ल्हासा की जनता के अलावा दूर-दूर से भी लोग आते थे। उदाहरण के लिए खूबसूरत लंबी चोटियां और उनमें लाल फुंदने लटका कर शोख अंदाज में चलने वाले लंबे चौड़े पूरब के खंपा, दक्षिण से आने वाले नेपाली और सिक्किमी व्यापारी तथा छोटे कद वाले और दुबले-पतले बंजारे। इस मौके पर हर कोई आनंद उठाने के मूड में रहता था जिसमें आम तिब्बती को पूरी महारत हासिल है। हम लोग काफी हद तक ऐसे शांत और सीधे साधे लोग है जिन्हें अच्छे तमाशे और अच्छी पार्टियों से ज्यादा कुछ अच्छा नहीं लगता। कई बार ऐसा भी होता था कि मठों से कुछ भिक्षु कपड़े बदलकर सामान्य लोगों की तरह भीड़ में शामिल हो जाते थे। लेकिन ऐसा करने की उन्हें मनाही थी।

कैसे खुशी भरे दिन थे वे ! ओपेरा चलता रहता और दर्शक बैठे आपस में लगातार बतियाते रहते। उन्हें हर गीत और हर नृत्य की एक-एक चाल मुंह जुबानी याद हो चुकी थी। सभी लोग अपने साथ पिकनिक वाले बर्तनों में चाय और छंग भरकर लाते थे और पीते रहते थे। जब मर्जी आती थी वे वहां आकर बैठते थे और जब मन हुआ उठकर चल देते थे। युवा माताएं वहीं बैठकर बच्चे को दूध पिलाती रहती थीं। बच्चे इधर-उधर चीखते चिल्लाते हुए दौड़ते फिरते थे तथा बीच-बीच में रुक कर किसी नए नर्तक को आंखें फाड़कर हैरानी से देख लेते थे। जब भी कोई जोरदार और रंगबिरंगी वेशभूषा वाला नर्तक मंच पर आता तब चुपचाप और गुमसुम बैठे हुए कुछ बुजुर्ग दर्शकों के चेहरों पर भी रौनक आ जाती। औरतें भी अपनी बातों को कुछ क्षणों के लिए रोककर उसकी तरफ देखने लगतीं। लेकिन थोड़ी ही देर में सब कुछ पहले जैसा हो जाता। यह सब चलता रहता और सूरज पहाड़ी हवाओं में से धीरे-धीरे नीचे उतरता रहता।

सभी दर्शकों का ध्यान रंगमंच पर पूरी तन्मयता के साथ लगा रहे ऐसा

केवल तभी होता था जब मंच पर कोई हास्य नाटक चलता। कलाकार लोग भिक्षुओं, भिक्षुणियों, बड़े-बड़े सरकारी अफसरों और यहां तक कि सरकारी भविष्य-वक्ता जैसी वेशभूषा में मंच पर उतरते और एक-एक करके सब की जमकर खिल्ली उड़ाते।

एक और महत्वपूर्ण त्यौहार महाकाल का त्यौहार होता था जो तीसरे महीने के आठवें दिन आता था। यह वह दिन होता था जिस दिन गर्मी की शुरूआत मानी जाती थी। उसी दिन सरकारी अधिकारी गर्मियों वाले कपड़े पहनना शुरू करते थे। यही वह दिन होता था जब मैं पोताला छोड़कर नोरबूलिंका में रहने जाता था। पांचवें महीने के पंद्रहवें दिन ज़ामलिंग चिशांग का त्यौहार पड़ता था। प्रार्थनाओं वाले इस त्यौहार में भाग लेने के लिए भिक्षुओं, भिक्षुणियों और सरकारी अफसरों को पूरी तरह मनाही थी। एक सप्ताह के लिए ल्हासा के लोग अपने तंबू और पिकनिक का सामान लेकर नगर के बाहर चले जाते थे और मौज मस्ती मनाते थे।

लेकिन मुझे पूरा यकीन है कि ऐसे बहुत सारे लोग जिन्हें इसमें भाग लेने की मनाही रहती थी वे भी चोरी छिपे और रूप बदलकर इसमें शामिल होते थे।

इसके बाद दसवें महीने के पच्चीसवें दिन रोशनियों का एक विशेष त्यौहार होता था। उस दिन तिब्बत में बौद्ध धर्म के एक महान संत सोंग्खापा का निर्वाण हुआ था। वे गेलुग-पा मत के जन्मदाता थे। उस रात घरों में ढेर सारे दीए जलाए जाते थे और मशालों के जुलूस निकाले जाते थे। इस दिन से सर्दी की शुरूआत होती थी और इसी दिन सरकारी अफसर सर्दियों की पोशाक पहनना शुरू करते थे। मैं भी बेमन होकर नोरबूलिंका से पोताला के लिए प्रस्थान करता था। मेरी हमेशा इच्छा रहती थी कि मैं जल्दी ही इतना बड़ा हो जाऊं कि मैं भी तेरहवें दलाई लामा की तरह नोरबूलिंका से पोताला तक की समारोह पूर्वक यात्रा के बाद अगले दिन फिर से नोरबूलिंका में ही रहने के लिए लौट आऊं।

इन सबके अलावा कई ऐसे त्यौहार भी होते थे जो धार्मिक नहीं होते थे। उदाहरण के लिए घोड़ों का मेला जो पहले महीने में ही होता था। इसी तरह पतझड़ के दौरान एक और मेला लगता था जब दूर-दूर से आने वाले बंजारे अपने साथ याक लाते थे जिन्हें वे कसाइयों के हाथ बेचते थे। मेरे लिए यह बहुत उदासी भरा मौका होता था। मुझे यह सोचकर भी बहुत कष्ट होता था कि इन बेचारे जानवरों को मौत के मुंह में धकेला जा रहा है। जब भी कभी मैं इन जानवरों को नोरबूलिंका के पीछे से बाजार की ओर ले जाते हुए देखता तब मैं किसी कर्मचारी को भेजकर इन जानवरों को खरीद लेता। इस तरह से मैंने कई बार कुछ जानवरों की जान बचाई। कुल मिलाकर शायद इनकी संख्या दस हजार या फिर उससे भी कुछ अधिक रही होगी। जब मुझे इसकी याद आती है तो मुझे लगता है कि इस खुराफाती लड़के ने भी आखिर कुछ तो अच्छे काम किए ही।

-3-

विदेशी हमला

1950 की गर्मियों के गीति नाट्योत्सव (ओपेरा-फेस्टिवल) से पहले वाले दिन मैं नोर्बुलिंका में बाथरूम से निकल ही रहा था कि मुझे अपने पांवों तले जमीन खिसकती महसूस हुई। संध्या का वक्त था और मैं सोने से पहले नहाते वक्त अपने एक अनुचर से बतियाता रहा था। यह घटना जब हुई तो मैं बाहर था क्योंकि बाथरूम मेरे आवास से कुछ गज़ बाहर था। तिब्बत में भूगर्भीय हलचलें होती रहती हैं। इसलिए शुरू में मैंने सोचा कि भूकंप ही आया होगा। आश्वस्त हो चुकने के बाद दोबारा भीतर गया तो क्या देखता हूं कि दीवार पर लटकी तस्वीरें अपने स्थान से हिली हुई हैं। उसी समय कुछ दूरी पर एक भयानक धमाका हुआ। मैं तुरन्त बाहर भागा और मेरे पीछे कई कर्मचारी भी भागे। हमने आकाश की तरफ देखा। एक के बाद एक धमाके हो रहे थे। तोप के गोले से छूटते लग रहे थे। हम समझे कि धमाका और थरथराहट इसी कारण हो रही है। हो सकता है तिब्बती सेना कोई परीक्षण कर रही होगी। कुल मिलाकर कोई तीस-चालीस विस्फोट हुए।

अगले दिन हमें पता लगा कि यह कोई सैन्य परीक्षण नहीं था बल्कि यह तो कोई कुदरती घटना थी। जिधर से आवाज आयी थी उधर कुछ लोगों ने अद्भुत लाल चमदा देखने की बात कही थी। बाद में धीरे-धीरे पता लगा कि इस घटना को 400 मील पूर्व में चाम्दो तथा दक्षिण-पश्चिम में 300 मील साक्य समेत पूरे तिब्बत में दूर-दूर तक अनुभव किया गया था। मुझे तो यहां तक बताया गया कि इसे कलकत्ता में भी महसूस किया गया था। धीरे-धीरे जब घटना पर ध्यान कम होता गया तो लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि यह सीधा-सादा भूकंप नहीं था बल्कि यह कोई दैवी संकेत था।

विज्ञान में मुझे शुरू से ही बहुत रुचि रही है। इसलिए मैं इस अतिविशिष्ट घटना का वैज्ञानिक आधार जानना चाहता था। जब कुछ दिनों बाद मुझे हाइनरिश हैरर मिले तो मैंने उनसे न केवल भूकंप बल्कि इस अद्भुत अलौकिक घटना

की व्याख्या बताने को कहा। उन्होंने इन दोनों को आपस में संबंधित बताया। उनके अनुसार पृथ्वी के खिसकने और पर्वतों के ऊपर की तरफ उठने से पृथ्वी की तह टूट गई थी।

भले ही यह संभव हो पर मुझे यह बात जंची नहीं। पृथ्वी की पर्त फटे तो आकाश में चमक और गरज कहां से आई? और फिर इतनी दूर तक कैसे दिखाई दी ? मुझे नहीं लगा कि हैरर की व्याख्या परिपूर्ण थी। आज तक मैं संतुष्ट नहीं हूं। संभव है कि इसकी कोई वैज्ञानिक व्याख्या हो। लेकिन मैं महसूस करता हूं कि यह वाकई रहस्यमय घटना थी और विज्ञान की समझ से बाहर की चीज थी। यही कारण है कि मुझे इसे पराभौतिक घटना मानने में आसानी होती है। ऊपर से चेतावनी आये या नीचे से गड़गड़ाहट हो, हर हाल में बात तो यह थी कि उसके बाद तिब्बत के हालात तेजी से बिगड़ते चले गये।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि यह घटना गीतिनाट्योत्सव से ऐन पहले हुई।

यदि यह दैवी संकेत था तो दो ही दिन बाद इसका असर दिखने लगा। संध्या के समय एक नृत्य के दौरान मैंने एक संदेशवाहक को अपनी दिशा में आते देखा। मेरे केबिन के पास पहुंचने पर उसको राजप्रतिनिधि ताथाग रिंपोछे के कक्ष में ले जाया गया जो मेरे कक्ष के दूसरे आधे हिस्से में था। मैं तुरन्त समझ गया कि कोई गड़बड़ है। सामान्य हालात में सरकारी निर्णय अगले हफ्ते तक नहीं लिए जाने थे। मैं जिज्ञासा से भर गया। इसका क्या अर्थ हो सकता है? शायद कोई भयानक घटना हुई है? फिर भी छोटा होने तथा मेरे पास कोई राजनैतिक शक्ति न होने के कारण मुझे तब तक इन्तजार करना था, जब तक रिंपोछे स्वयं न बताएं कि क्या चल रहा है। मैं यह जानता था कि दीवार के पार एक ऊंची खिड़की से, अलमारी पर चढ़कर झांका जा सकता है। सन्देशवाहक के अन्दर जाते ही मैं ऊपर चढ़ा और सांस रोककर राजप्रतिनिधि की जासूसी करने लगा। वह खत पढ़ रहे थे और मैं उनका चेहरा देख रहा था। उनका चेहरा गंभीर हो गया। कुछ मिनट बाद वह बाहर आए और मैंने सुना कि वह 'काशाग' को बुलाये जाने के आदेश दे रहे थे।

बाद में मैंने पता लगाया कि राजप्रतिनिधि के पास जो पत्र आया था वह उस समय चाम्दो में रह रहे खम के राज्यपाल का तार था और उसमें सूचना दी गई थी कि तिब्बती चौकी पर हमला करके एक वरिष्ठ अधिकारी की हत्या कर दी गई थी। खबर वाकई बहुत गंभीर थी। पिछले पतझड़ में भी सीमा पार करके चीनी साम्यवादी आ घुसे थे जो कह रहे थे कि वे 'साम्राज्यवादी आक्रामकों पता नहीं किस आक्रामक की बात कर रहे थे वे के हाथों से तिब्बत को मुक्त कराने आये हैं। यह सब इस बात के बावजूद था कि ल्हासा में रह रहे चीनी अधिकारियों को 1949 में बाहर निकाल दिया गया था।

ऐसा लग रहा था कि अब वे धमकी को अंजाम दे रहे थे। अगर यही बात थी तो तिब्बत गंभीर खतरे में था क्योंकि हमारी सेना में केवल 8,500 अफसर व सैनिक ही थे। यह सेना हाल ही में विजयी पीपुल्स लिबरेशन आर्मी के मुकाबले कहीं नहीं ठहरती।

आज़ाद शरणार्थी

उस वर्ष के गीतिनाट्य उत्सव की याद मुझे बहुत थोड़ी सी है, सिवाय उस समय दिल में महसूस हुए एकाकीपन के। मेरा मन न तो ढोल की धीमी थाप पर हुए जादुई नृत्य में लगा और न ही सचित्र कपड़ों (कुछ के वस्त्र कंकाल जैसे दिखते थे, जो मौत के प्रतिबिम्ब थे) में सजे और प्राचीन नृत्य पर अकेले तथा लय-ताल से नाचने वाले नर्तकों में।

दो महीने बाद अक्तूबर में हमारी भयावह आशंकाएं सच हो गयीं। ल्हासा में समाचार पहुंचा कि चीनी कम्युनिस्ट सेना पी.एल.ए. के 80 हजार सैनिक चाम्दो के पूर्व में द्रीचू नदी पार कर चुके हैं। चीनी रेडियो पर खबरें प्रसारित हो रही थीं कि चीन में साम्यवाद की वर्षगांठ पर तिब्बत की शान्तिपूर्ण मुक्ति शुरू हो गई है।

तो गाज गिर ही पड़ी थी। और अब शीघ्र ल्हासा पर भी हमला होगा। हम शायद इस मारकाट का मुकाबला भी न कर पाएं। तिब्बती सेना में सैनिकों की कमी तो थी ही, आधुनिक हथियार भी बहुत कम थे। और प्रशिक्षण तो नाममात्र का भी नहीं था। राजप्रतिनिधित्व के दौरान इसकी अनदेखी की जाती रही। अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बावजूद तिब्बती मूलतः शान्तिप्रिय हैं तथा सेना में शामिल होना निकृष्ट काम समझा जाता था। कारण सैनिकों को कसाई समझा जाता था। यद्यपि तिब्बत के दूसरे क्षेत्रों से कुछ रेजीमेन्टें आई और एक नई भी बनाई गई मगर, उनमें चीनियों का मुकाबला करने की क्षमता नहीं थी।

यदि स्थितियां इसके विपरीत होतीं तो परिणाम क्या होता इस बारे में अनुमान लगाना व्यर्थ है। सिर्फ यह कहना ही काफी रहेगा कि तिब्बत पर कब्जा करने में चीनियों ने खूब सैनिक खोये। कुछ क्षेत्रों में उन्हें कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। युद्ध में हताहतों के अलावा उन्हें एक तरफ तो आपूर्ति की कमी से व दूसरी तरफ प्रतिकूल मौसम की वजह से परेशानी हुई। कई सैनिक भूख से मरे होंगे तथा कई ऊंची पहाड़ियों पर होने वाली बीमारियों से। क्योंकि इससे तिब्बत में कई विदेशी इसी कारण मर चुके हैं। लेकिन लड़ाई में तिब्बती सेना चाहे कितनी ही बड़ी होती या बेशक कितनी ही तैयार होती, अन्त में प्रयत्न बेकार हो जाते, क्योंकि

चीनी जनसंख्या हमसे सौ गुना ज्यादा थी।

तिब्बत की आजादी को हुआ यह खतरा संसार की निगाह से अनदेखा नहीं रहा। भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार से समर्थन पाकर चीन सरकार के प्रति विरोध दर्शाते हुए कहा कि हमला शान्ति के हित में नहीं था। 7 नवम्बर, 1950 को 'काशाग' ने संयुक्त राष्ट्र संघ से हमारी तरफ से मध्यस्थता करने की अपील की। अफसोस की बात यह थी कि अपने शान्तिपूर्ण अकेलेपन की नीति के कारण तिब्बत ने कभी इसका सदस्य बनने का प्रयास ही नहीं किया था। अतः इससे कोई फायदा नहीं हुआ न ही साल खत्म होने से पहले भेजे गए दो तारों का।

सर्दियां निकट आ रही थीं और खबरें चिन्तापूर्ण होती जा रही थीं। दलाई लामा को वयस्क के रूप में स्वीकार करने की बात भी शुरू हो गई।

उसे समय से दो साल पहले ही सत्ता देने की बात चल निकली। लोगों ने मुझे समय से दो वर्ष पहले ही सरकारी सत्ता देने का पक्ष लेना शुरू कर दिया। मेरे सफाई कर्मचारियों ने मुझे सूचना दी कि ल्हासा में सरकार की निन्दा तथा मेरे शीघ्र सिंहासन ारोहण कराने के समर्थन में पोस्टर लगे हैं और इस आशय के गीत गाये जा रहे हैं।

दो विचारधाराएं थीं - एक में वे लोग थे जो संकट में मेरे नेतृत्व की बात कर रहे थे जबकि दूसरे वे थे जो महसूस कर रहे थे कि ऐसी जिम्मेवारी के लिए मैं अभी बहुत छोटा हूं। मैं बाद वाली विचारधारा से सहमत था। मगर बदकिस्मती से मुझसे परामर्श नहीं लिया गया। इसके बजाए सरकार ने मामला ओझा को देना तय किया। यह बड़ा तनावयुक्त माहौल था। कूटेन अपनी भारी भरकम वेषभूषा के वजन से लड़खड़ाता वहां आया जहां मैं बैठा था। उसने एक रेशमी सफेद रूमाल मेरी गोद में रख दिया और बोला 'थू-ला बप' यानी 'इसका समय आ गया है'।

तो यह दोर्जी द्राक्देन का आदेश था। ताथाग रिंपोछे तुरन्त राजप्रतिनिधि पद छोड़ने की तैयारी करने लगे। मगर उन्हें मेरा वरिष्ठ शिक्षक बने रहना था। अब मेरे अभिषेक का दिन राज्योतिषियों ने चुनना था। वर्ष खत्म होने से पहले ही 17 नवम्बर 1950 का दिन सबसे शुभ माना गया। मैं इस सबसे उदास हुआ जा रहा था। महीना पहले ही तो मैं एक उत्साही नौजवान की तरह नाट्योत्सव की बाट जोह रहा था। अब मुझे अपने देश का नेतृत्व करना था जो युद्ध को तैयार था। मुड़कर देखता हूं तो सोचता हूं कि इसमें हैरत ही क्या? ओझा कई वर्षों से सरकार की संकेतों से मानहानि कर रहा था और मुझसे बहुत ही विनम्रता से पेश आ रहा था।

मेरे अभिषेक से कोई एक पखवाड़ा पहले यानी नवंबर के शुरू में मेरा सबसे बड़ा भाई ल्हासा आया। मैं उसे जानता नहीं था। दलाई लामा के रूप में खोजे जाने के बाद मैंने शुरू के अठारह महीने अकेले कुम्बुम मठ में गुजारे थे। यही ताक्तसेर रिंपोछे अब वहां के प्रमुख थे। मैं देखते ही जान गया कि उन्होंने बहुत तकलीफें सही हैं। बहुत डरे हुए, बैचेन और तनावयुक्त दिख रहे थे ताक्तसेर रिंपोछे। हकला हकलाकर अपनी व्यथा सुना रहे थे। आम्दो प्रांत जहां हम दोनों जन्मे थे चीनी सीमा के बहुत नजदीक होने के कारण आसानी से चीन के नियंत्रण में आ गया था। इन पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। भिक्षुओं की गतिविधियां भी प्रतिबन्धित हो गई तथा रिंपोछे को एक तरह से अपने मठ में कैदी रखा जा रहा था। साथ ही चीनियों ने उनमें अपनी साम्यवादी विचारधारा ठूंसकर उन्हें मोड़ने की कोशिश की थीं। योजना यह थी कि यदि वह मुझे चीनी शासन स्वीकार करने पर राजी करने के लिए प्रयास करें तो उन्हें बेरोकटोक ल्हासा जाने दिया जाता। मेरे विरोध करने पर उन्हें मेरी हत्या करनी थी और बदले में चीनी सरकार उन्हें ईनाम देती।

यह बड़ा अजीब प्रस्ताव था। पहली बात तो यही है कि हर बौद्ध किसी भी जीव को मारने के विचार को ही शाप मानता है। इसलिए व्यक्तिगत लाभके लिए वह दलाई लामा को मार दे, यह प्रस्ताव ही दर्शाता था कि चीनियों को तिब्बती सोच का कितना कम व सतही ज्ञान था।

आज़ाद शरणार्थी

एक साल तक मेरे भाई ने तिब्बतियों पर चीनियों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों को देखा तो धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ल्हासा भागकर मुझे व सरकार को चेता दे कि यदि चीनियों ने कब्जा कर लिया तो तिब्बत का क्या हाल होगा। वहां से भागने का एकमात्र रास्ता यही था कि वे उन्हें आश्वस्त करें कि वह पूरी तरह उनके साथ हैं। इसीलिए अंततः वे ऊपरी तौर पर उनकी बतायी राह पर चलने को राजी हो गये।

उनकी बातें सुनकर मेरा तो दम ही फूल गया। अब तक मैं चीनियों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। और साम्यवादियों से तो निपट अनभिज्ञ था। हां इतना जरूर आभास था कि चीनी मंगोलिया की जनता को मुसीबत में धकेले हुए हैं। इसके अतिरिक्त थोड़ी बहुत जानकारी मुझे 'लाइफ' पत्रिका में मिली थी। लेकिन अब मेरे भाई ने साफ कर दिया कि वे केवल अधार्मिक ही नहीं थे बल्कि धर्म का नाश करने पर तुले हुए थे। ताक्तसेर ने बताया कि चीनियों से सशस्त्र मुकाबले के लिए विदेशी सहायता व समर्थन ही एकमात्र रास्ता है। उनकी यह बात सुनकर एकबार तो मैं डर सा गया।

भगवान बुद्ध ने हत्या की मनाही की है मगर साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि कुछ विशेष स्थितियों में यह न्यायोचित है। मेरे भाई के ख्याल से वर्तमान हालात में इसका औचित्य था। इसलिए उन्होंने फैसला किया कि वह अपना संन्यास-प्रण छोड़कर चोला उतार देंगे और तिब्बत का दूत बनकर विदेश जाएंगे। उनका विचार अमरीकियों से संपर्क करने का था क्योंकि वे महसूस कर रहे थे कि अमरीकी आजाद तिब्बत के विचार के समर्थक हैं।

मुझे धक्का सा लगा मगर मैं कोई एतराज करता इससे पहले ही उन्होंने मुझे ल्हासा छोड़ देने की सलाह दी। हालांकि कुछ और लोगों ने भी यही बात कही थी मगर ज्यादातर इससे सहमत न थे। ताक्तसेर ने कहा कि बहुमत की चिंता किए बिना मुझे उनकी सलाह माननी चाहिए। उनका कहना था कि खतरा बहुत बड़ा है और मुझे चीनी हाथों में किसी भी हाल में नहीं पड़ना चाहिए।

भाई से मुलाकात हो चुकने पर ल्हासा छोड़ने के पहले मैंने सरकार के कई सदस्यों से बात की। मैंने फिर एक दो बार भाई से बात की मगर उनका मन नहीं बदला। पिछले साल के उनके भयावह अनुभव कहते थे कि और कोई रास्ता नहीं है। मैंने ज्यादा विचार नहीं किया क्योंकि मेरे सामने और भी बहुत काम थे। मेरे अभिषेक का समारोह कुछ ही दिन बाद होना था।

मौके की यादगार के लिए मैंने कैदियों को आम माफी देने का निश्चय किया। अभिषेक वाले दिन सभी कैदी मुक्त किए जाने थे। इसका मतलब था कि अब शोल की जेल खाली हो जायेगी। इस बात से मुझे प्रसन्नता हो रही थी। यद्यपि कभी-कभी मुझे इससे उदासी भी हुई। जब मैंने आंगन पर दूरबीन लगाई तो इसे एकदम सूना पाया। सिर्फ कुछ कुत्ते कचरे में मुंह मार रहे थे। ऐसा लगा मानों मेरी जिन्दगी से कुछ खो गया हो।

विदेशी हमला

17 की सुबह अन्धेरा रहते मैं और दिनों से एक या दो घंटे पहले जाग गया। कपड़े पहनते वक्त मेरे वेषभूषा सलाहकार ने हरा कपड़ा मेरी कमर में बांधने को दिया। हरा कपड़ा ज्योतिषी की सलाह पर था क्योंकि उसने हरा रंग मेरे लिए बहुत शुभ बताया था। मैंने नाश्ता नहीं लेने की सोची क्योंकि समारोह लम्बे समय तक चलना था और मैं नहीं चाहता था कि शौच या पेशाब के कारण मेरा ध्यान बंटे। लेकिन ज्योतिषी ने यह भी फरमान दिया था कि मैं समारोह शुरू होने के पहले एक सेब खा लूं। मुझे याद है यह सेब गले से नीचे धकेलने में मुझे बड़ी दिक्कत हुई थी। खैर, किसी तरह सेब खाकर मैं मन्दिर गया जहां भोर होने पर अभिषेक होना था।

अवसर भव्य होना ही था क्योंकि सारी सरकार उपस्थित थी और ल्हासा में जितने विदेशी प्रतिनिधि थे वे भी रंगबिरंगी सरकारी पोशाकों में थे। दुर्भाग्य से कम रोशनी होने के कारण मैं ज्यादा कुछ नहीं देख पाया। मुझे सुनहरा चक्र दिया गया यानी सत्ता का प्रतीक। लेकिन मुझे ज्यादा कुछ भी याद नहीं क्योंकि मैं पेशाब का दबाव महसूस कर रहा था। मुझे

ज्योतिषी पर गुस्सा आया। उसी ने सेब खिलाकर यह दुर्गत की थी। मेरी तो उनमें यों भी आस्था न थी और अब तो यह और भी पुष्ट हो रही थी।

मैंने हमेशा महसूस किया है कि जिन्दगी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण दिन यानी जन्म और मौत ज्योतिषियों से पूछकर नहीं आते। अतः बाकी दिनों में भी उनकी सलाह लेने का कोई फायदा नहीं। लेकिन यह मेरी व्यक्तिगत राय है। इसका मतलब यह नहीं कि तिब्बतियों को ज्योतिषियों से सलाह लेना बन्द कर देना चाहिए। हमारी संस्कृति के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण है।

मेरी हालत समारोह में बद से बदतर होती गई। मैंने प्रधान लामा को सन्देशा भेजकर समारोह जल्दी खत्म कराने को कहा। मगर, हमारे समारोह काफी लंबे और जटिल होते हैं। मैं डर रहा था कि यह शायद ही कभी खत्म होगा।

अंततः समारोह पूरा हुआ और अब मैं उन साठ लाख लोगों का निर्विवाद नेता था जो युद्ध के खतरे में थे। पर मैं सिर्फ पन्द्रह साल का था। बड़ी मुश्किल थी। मगर मैंने सोचा संभव हुआ तो इस तबाही को टालूंगा। अब मेरा पहला काम दो प्रधानमंत्री नियुक्त करना था।

दो के पीछे कारण यह था कि यही हमारी व्यवस्था थी कि सरकार में हर पद दो-दो होते थे। एक पद पर भिक्षु और दूसरे पर आम नागरिक अधिकारी। इसकी शुरूआत हुई थी पांचवें दलाई लामा से जो उस आध्यात्मिक काल के लिए तो ठीक थी मगर बीसवीं सदी के लिए पर्याप्त न थी। इसके अतिरिक्त, जैसा बता ही चुका हूं कि लगभग बीस वर्ष के राजप्रतिनिधित्व के बाद सरकार बिल्कुल भ्रष्ट हो चुकी थी।

कहने की जरूरत नहीं कि सुधार बहुत कम हो पाये। दलाई लामा भी सुधार नहीं कर सकता था क्योंकि वह जो सुझाव देता वह पहले प्रधानमंत्रियों के पास जाता, फिर 'काशाग' को, तब कार्यकारिणी के हर अधीनस्थ कर्मचारी के पास

और अन्त में नेशनल असेंबली में अगर कोई एक सदस्य भी टांग अड़ा देता तो मामला लटक जाता।

नेशनल असेंबली कोई प्रस्ताव पेश करती तो यही सारी प्रक्रिया उल्टी चलती। यदि दलाई लामा के पास आखिर में पहुंचे विधेयक पर वह कोई संशोधन करता तो एक कागज के पुर्जे को इस दस्तावेज से चिपकाकर उसी तरह नीचे तक भिजवाया जाता। लेकिन सुधार इससे भी ज्यादा मुश्किल इस कारणे थे कि धार्मिक समुदाय को विदेशी प्रभाव का भय था, जो उनके ख्याल में तिब्बत में बौद्धधर्म को नुकसान पहुंचाता।

मैंने लोबसांग ताशी नामक भिक्षु को प्रधानमंत्री चुना तथा दूसरा प्रधानमंत्री चुना एक अनुभवी प्रशासक लुखांग्वा को।

ऐसा करके मैंने इन दोनों तथा 'काशाग' से सलाह कर अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, और नेपाल में प्रतिनिधिमंडल भेजना तय किया ताकि वे इन देशों को हमारी तरफ से मध्यस्थता करने के लिए मना सकें। एक प्रतिनिधिमण्डल चीन इस उम्मीद पर जाना था कि चीनी सेना की वापसी पर विचार हो सके। ये प्रतिनिधिमण्डल साल के आखिर में गये। चीन अपनी सेना पूर्व में इकट्ठी कर रहा था। इसलिए हमने तय किया कि मैं अपनी सरकार के वरिष्ठ मंत्रियों के साथ दक्षिणी तिब्बत चला जाऊं। ऐसा करके हालात बिगड़ने पर मैं आसानी से सीमा पार कर भारत में शरण ले सकता था। इसी बीच लुखांग्वा तथा लोबसांग ताशी ने कार्यकारी क्षमता से वहां रहना था और राज्य की मोहर मैंने अपने साथ ले जानी थी।

-4-

दक्षिण में शरण

बहुत कुछ व्यवस्थित करना था और अभी रवानगी में कई हफ्ते पड़े थे।

और फिर सारी तैयारियां भी तो गुपचुप ढंग से करनी थीं। प्रधानमंत्रियों को यह भय था कि यदि यह बात खुल गई कि दलाई लामा जाने की तैयारी में हैं तो चारों तरफ हड़कंप मच जाएगा। लेकिन, मुझे यकीन है कि कई लोगों को इस बारे में पता चल गया होगा कि क्या हो रहा है क्योंकि कई बड़े भारी सामान वाले पैकेट भेजे जा चुके थे जिनमें से कुछ के बारे में मुझे भी पता नहीं था। इनमें पोताला के खजाने से सोने के बिस्कुट तथा चांदी की छड़ें कोई पचास या साठ मजबूत बक्सों में भरकर भेजे जा रहे थे। यह विचार मेरे वस्त्र प्रमुख से हाल ही में चिकयाब कैंपों के पद पर प्रोन्नत हुए केनराप तेनज़िन का था। जब मुझे इस बारे में पता लगा तो मैं बहुत क्रोधित हुआ। कारण खजाने की बात नहीं बल्कि मेरे स्वाभिमान पर चोट पहुंचना था। मुझे महसूस हुआ कि केनराप तेनज़िन मुझे अभी भी बच्चा ही समझते है इसीलिए इस बारे में मुझे पहले कुछ नहीं बताया गया।

उत्सुकता व बैचेनी से रवानगी के दिन का मैं इन्तजार कर रहा था। एक तरफ तो लोगों को छोड़कर जाने से अप्रसन्नता महसूस हो रही थी क्योंकि मैं उनके प्रति जिम्मेवार भी था। दूसरी तरफ यात्रा की उत्सुकता थी। यह उत्तेजना तब और बढ़ी जब असेंबली के प्रधान ने तय किया कि मुझे साधारण नागरिक वाले वेश में चलना चाहिए। उसका ख्याल था कि वरना लोग हमें रोकने की कोशिश करेंगे। उसने भेष बदलकर चलने को कहा था सो मुझे प्रसन्नता हुई। अब मैं देश के एक आम व्यक्ति की तरह घूमूंगा, दलाई लामा की तरह नहीं।

ल्हासा से हम घनी रात में चले थे और जहां तक मुझे याद है ठंड थी तो सही मगर हल्की। तिब्बत में तारे जितने चमकदार दिखते हैं, वैसे दुनिया में कहीं नहीं दिखते होंगे। पोताला के आंगन से निकलकर हम नोर्बुलिंका व द्रेपुंग मठ को छोड़ते जा रहे थे। अन्धेरे में टट्टू का पांव लड़खड़ाता और मेरा दिल धड़कना भूल जाता। तो भी मैं सचमुच भयभीत नहीं था।

आज़ाद शरणार्थी

हमारी अन्तिम मंजिल थी द्रोमो जो सिक्किम की सीमा पर तथा यहां से

200 मील दूर था। कोई हादसा न हो तो दस दिन की यात्रा थी। अभी ज्यादा दूर नहीं गये थे कि मुसीबत में पड़ गए। ल्हासा से चलकर कुछ दिन बाद हम दूर के गांव जंग पहुंचे जहां शीतकालीन शास्त्रार्थ कैम्प के लिए गंदेन, सेरा तथा ट्रेपुंग मठों के भिक्षु आये हुए थे। काफिला देखते ही वे समझ गए कि यह साधारण काफिला नहीं है। कुल मिलाकर हम दो सौ लोग रहे होंगे जिनमें पचास उच्च कर्मचारी और इतने ही मालवाहक पशु। भिक्षु समझ गए कि मैं भी इन्हीं में कहीं हूं।

सौभाग्य से मैं सबसे आगे था तथा मेरा बदला हुआ वेश काम आ गया। उन्होंने मुझे नहीं रोका। मगर, जाते हुए मैने देखा कि भिक्षु बड़े भावुक हो रहे हैं। कई तो रो रहे थे। मेरे पीछे आ रहे लिंग रिंपोछे को उन्होंने रोक लिया। मैंने पीछे मुड़कर देखा तो समझ गया कि वे उन्हें मेरे साथ वापस लौटने की प्रार्थना कर रहे हैं। माहौल में तनाव हो गया क्योंकि भावुकता चरम पर थी। भिक्षुओं को अपने अमूल्य उपदेशक, यानि मुझमें इतनी आस्था थी कि मेरे जाने की बात सहन नहीं कर पा रहे थे। लिंग रिंपोछे ने बताया कि हम लंबे समय तक दूर नहीं रहेंगे। तब उन्होंने हिचकिचाते हुए हमें आगे जाने दिया। लेकिन रास्ते पर लेट कर उन्होंने प्रार्थना की कि मुझे शीघ्रतिशीघ्र लौट आना चाहिए।

इसके बाद और कोई कठिनाई नहीं आई तथा मैं अभी भी वेश बदले सबसे आगे चलता रहा। जहां भी मौका मिलता रुककर लोगों से बात करता गया। अब मेरे पास यह जानने का अवसर था कि मेरे देशवासियों की असली जिन्दगी कैसी है। मैंने बिना पहचान बताये कई लोगों से बातचीत की। बातचीत के दौरान मैंने जाना कि मेरी जनता के साथ क्या छोटे मोटे अन्याय होते हैं तथा संकल्प किया कि जब भी इस हालत में होऊंगा, मैं इसे ठीक करूंगा।

कोई हफ्ते भर बाद हम ग्यांत्से (तिब्बत का चौथा सबसे बड़ा शहर) पहुंचे। यहां गोपनीयता बनाये रखना मुश्किल था और सैंकड़ो लोग मेरे स्वागत को आये। कुछ उत्साही भारतीय घुड़सवार सैनिकों ने, जो भारतीय व्यापार मिशन की रक्षा करते थे, हमें सलामी दी। मगर ऐसी औपचारिकताओं के लिए ज्यादा वक्त नहीं था। पखवाड़े भर की यात्रा के बाद जनवरी 1951 में हम द्रोमो आ पहुंचे ।

पूरी तरह थक चुके थे हम, मगर मैं बड़ा उत्तेजित था। जगह कोई खास न थी। कई गांव निकट-निकट बसे हुए थे। मगर नजारा देखने लायक था। समुद्री जल से 9,000 फुट ऊंचाई पर आमो-चू घाटी यहां से दो भागों में विभाजित होती है। यहीं शहर था।

घाटी के तल में एक नदी गांव के इतना निकट से बहती थी कि इसकी गर्जना दिन रात सुनाई पड़ती। इसी के पास सीधी खड़ी पहाड़ियां थीं। कुछ जगहों पर सीधी चट्टानें नदी के बीचोंबीच थीं। साथ ही खड़े थे भव्य पहाड़ जो तिब्बत की शान भी हैं और सिरदर्द भी। चरागाहों में जहां-तहां पाईन के वृक्ष व झाड़ियों के झुण्ड थे। पता लगा कि जलवायु नम है। भारतीय मैदानों से सटा होने के

कारण द्रोमो में मानसूनी बारिश होती है। फिर भी सूर्य चमकता है और घाटी को आलोकित किए रखता है। मुझे पहाड़ों पर चढ़ने की इच्छा होती, जंगली फूलों से लदे दुर्गम्य पहाड़ों पर। मगर, अभी कई महीने सर्दियों के बाकी थे।

द्रोमो पहुंचने पर मैं पहले एक स्थानीय कर्मचारी के घर रुका जिसने मुझे खिलौने व सेब भेजे थे। फिर हम द्रोमो घाटी के ऊपर बने ढुंगरवर के मठ में गये। शीघ्र ही हम व्यवस्थित हो गए तथा मेरे प्रार्थना, समाधि, मौन और अध्ययन का रोजमर्रा कार्यक्रम शुरू हो गया। मैं आंतरिक तौर पर कुछ बदलाव महसूस कर रहा था। ल्हासा में खाली समय कुछ अधिक होता था और वहां करने के लिए कई रोचक काम भी होते थे। यह बदलाव शायद भारी भरकम तामझाम व अन्य औपचारिकताओं से मुक्ति मिल जाने के कारण था। मुझे सफाई कर्मचारी दोस्तों का विछोह खलता मगर यह खालीपन अतिरिक्त जिम्मेवारियों के कारण महसूस नहीं होता था। बस इस यात्रा से एक ही संकल्प की जरूरत महसूस हुई थी कि जितना पढ़-सीख सकूं पढ़ूं। जितना सर्वोत्तम व्यक्ति मैं हो सकता था, होना चाहता था क्योंकि जनता ने मुझ पर भरोसा कर मेरी जिम्मेदारी बढ़ी दी थी।

यहां एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि श्रीलंका से एक भिक्षु आ पहुंचा जिसने मुझे समारोह में बुद्ध का एक महत्वपूर्ण अस्थिअवशेष भेंट किया।

लुखांग्वा व ताशी ल्हासा में छूट गए थे। अब मेरे मुख्य सलाहकार थे, 'काशाग', असेंबली के प्रधान, लिंग रिंपोछे जो अब मेरे वरिष्ठ शिक्षक थे, त्रिजांग रिंपोछे, वरिष्ठ त्सेनशप जो पिछले दिनों मेरे कनिष्ठ शिक्षक नियुक्त किए गए थे। मेरे सबसे बड़े भाई ताक्तसेर रिंपोछे भी वहीं थे। वह भारत जाते वक्त कुछ ही हफ्ते पहले यहां आए थे।

पहनी बुरी खबर यह आई की ल्हासा से चलने से पहले हमने जितने प्रतिनिधिमण्डल भेजे थे, उनमें से सिर्फ एक ही लक्ष्य पर पहुंचा और वह था चीन वाला। बाकी सब लौटा दिए गए थे। यह बहुत सदमे भरी बात थी। आखिर भारत और नेपाल हमारे निकटतम पड़ोसी देश थे। जहां तक ब्रिटेन की बात है। यंग हसबेंड मिशन की वजह से एक ब्रिटिश व्यापार मिशन कोई आधी सदी से तिब्बत में रह रहा था। 1947 में भारत की आजादी के बाद भी कुछ समय तक वही अंग्रेज हफ रिचर्डसन इस मिशन को चला रहा था। इसलिए अब ऐसा विश्वास करना संभव नहीं हो रहा था कि ब्रिटिश सरकार अब तिब्बत पर चीन के अधिकार की बात सही मान रही है। लगता था वे भूल गए थे कि जब उक्त अंग्रेज ने तिब्बतियों से सन्धि की थी तो उन्हें तिब्बत को पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के रूप में माना था। क्या 1914 में भी ऐसा ही नहीं हुआ था जब उन्होंने एक कांफ्रेंस (शिमला सम्मेलन) की थी जिसमें तिब्बत और चीन की सरकारों को अलग-अलग से आमंत्रित किया गया था? ब्रिटिश और तिब्बती जनता के अच्छे संबंध रहे हैं। मेरे देशवासी उन्हें हमेशा नफासत पसंद, न्याय व हास्य की भावना वाले पाकर उनका हमेशा सम्मान करते रहे हैं।

रहा अमेरिका, तो वाशिंगटन ने 1948 में हमारे व्यापार प्रतिनिधिमंडल का स्वागत किया था,

जो उपराष्ट्रपति से भी मिला था। तो अब वे भी मुंह मोड़ रहे हैं। जब मुझे

यह बात समझ में आई तो बहुत दु:ख हुआ कि तिब्बत को साम्यवादी चीनी ताकत से अकेले ही मुकाबला करना होगा।

उस एक मिशन के सिवा सबके लौट आने के कुछ ही हफ्तों बाद चाम्दो के राज्यपाल न्गाबो नावांग जिग्मे की लंबी रिपोर्ट आई। चाम्दो का ज्यादातर हिस्सा अब चीनी हाथों में था तथा यह रिपोर्ट क्षेत्र का एक प्रमुख व्यापारी ल्हासा लाया था। उसने इसे सुरक्षित रूप से लुखांग्वा और ताशी तक पहुंचाया और उन्होंने मुझ तक। इसमें चीनी खतरे का दर्द भरा, उदास विवरण था और साफ कह दिया गया था कि यदि कोई समझौता न हुआ तो शीघ्र ही पीपुल्स लिबरेशन आर्मी के सैनिक ल्हासा आ घुसेंगे। ऐसा होने पर लाखों जानें जातीं और मैं किसी भी कीमत पर इसे टालना चाहता था।

न्गाबो ने सुझाव दिया कि बातचीत के अलावा कोई रास्ता नहीं। यदि तिब्बत सरकार तैयार हो तथा कुछ सहायक भेजे जायें तो प्रतिनिधिमंण्डल के साथ वह बीजिंग जाकर चीनियों से खुद भी वार्ता को तैयार था। मैंने ल्हासा संपर्क कर लुखांग्वा और ताशी की राय मांगी। उन्होंने कहा कि बातचीत ल्हासा ही में होनी चाहिए थी मगर चूंकि हालात बहुत खराब हैं अत: बीजिंग ही जाना पड़ेगा।

चूंकि न्गाबो तैयार ही था और मुझे मालूम था कि वह बहुत अच्छा प्रशासक है इसलिए मैंने उसे भेजने का निश्चय किया। साथ ही मैंने दो अधिकारी ल्हासा से व दो अधिकारी द्रोमो से उसके साथ भेजे। मुझे उम्मीद थी कि वह चीनी नेताओं से स्पष्ट कर देगा कि तिब्बत को 'मुक्ति' नहीं चाहिए। वह तो बस अपने इस बड़े पड़ोसी से शान्तिपूर्ण संबंध चाहता है।

इसी बीच वसन्त ऋतु आई और कुदरत पर भी जवानी आ गई। पहाड़ियां फूलों से लहलहा उठीं। घास का रंग निखर आया और हवा में जास्मीन समेत कई फूलों की खुश्बू तैरने लगी। मठ के कमरे से मैं नदी की तरफ उन किंसानों को देखता जो भेड़ें, याक व ज़ोमो चराने आते। नदी के किनारे आकर पिकनिक मनाने वाले आग जलाकर कुछ न कुछ पकाते रहते और मैं ईर्ष्या से ताकता रहता। इन सब बातों को देख-देख एक दिन मैंने भी लिंग रिंपोछे से थोड़ी छुट्टी पा ली। उनका मन भी शायद मेरी ही

तरह हो गया होगा। सो उन्होंने एक दिन की छुट्टी कर दी। मैं इधर-उधर घूमता फिरा। वह वक्त भुलाए नहीं भूलता। एक यात्रा बोन मठ की भी की मैंने। दिक्कत सिर्फ इतनी थी कि आगे आने वाला वक्त मुझे डराये रखता। बीजिंग से न्गाबो की सूचना आने ही वाली थी। मैं आधे मन से बुरी खबर की उम्मीद कर रहा था। लेकिन जो खबर आई मैं उसके सदमे के लिए तैयार नहीं था।

मठ में मेरे पास छह वोल्ट बैटरी से चलने वाला बुश रेडियो था। मैं हर शाम बीजिंग के तिब्बती भाषाई प्रसारण सुनता। कभी-कभार एकाध कर्मचारी और आ जाता लेकिन अक्सर मै अकेला ही होता था। अधिकतर प्रसारणों में 'गौरवमयी मातृभूमि' का प्रचार होता

और मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ता। लगातार औद्योगिक प्रगति और सभी चीनी नागरिकों की समानता की बातें होती रहतीं। भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का यह सही संयोजन नजर आता। एक शाम में अकेला बैठा रेडियो सुन रहा था। आज बड़ा अलग ही किस्म का प्रोग्राम आया। एक तीखी कड़कती आवाज उद्घोषणा कर रही थी कि आज चीन के पीपुल्स रिपब्लिक तथा तिब्बत की 'स्थानीय सरकार' के प्रतिनिधियों के बीच तिब्बत की 'शान्तिपूर्ण मुक्ति' के लिए सत्रह सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर किए गए।

अपने कानों पर विश्वास ही नहीं हुआ। मैं बाहर भागकर हरेक को बुलाना चाहता था। मगर जड़ होकर रहा गया। उद्घोषक बता रहा था कि कैसे 'पिछले सौ या ज्यादा वर्षों से' आक्रामक साम्राज्यवादी सेनाएं तिब्बत में घुसी हुई हैं तथा 'सभी प्रकार के छल व भड़कावे' में लिप्त हैं। इसमें आगे कहा गया कि 'इन परिस्थितियों में तिब्बती राष्ट्रीयता व जनता दासता व कष्टों की गर्त में धंसी है।' मैं इन झूठ व लच्छेदार बातों को सुन-सुनकर बीमार महसूस कर रहा था।

लेकिन अभी बस कहां। 'समझौतें' के अनुच्छेद-एक के अनुसार "तिब्बती

जनता एक जुट होगी तथा साम्राज्यवादी आक्रामक ताकतों को तिब्बत से खदेड़ देगी। तिब्बती जनता मातृभूमि में यानी चीन के पीपुल्स रिपब्लिक में फिर से शामिल हो जाएगी।" मुझे समझ नहीं आया कि इस सबका अर्थ क्या है? तिब्बती भूमि पर अंतिम विदेशी सेना थी मांचू सेना। जहां तक मुझे आभास था (अब तो पता भी है) कि उस समय तिब्बत में सिर्फ मुट्ठी भर यूरोपियन ही थे। तिब्बत के "मातृभूमि में लौटने" का विचार एक बेशर्म खोज थी। तिब्बत कभी चीन का हिस्सा नहीं रहा। बता ही चुका हूं कि असल में तिब्बत का चीन के बड़े हिस्सों पर प्राचीन दावा है और फिर हमारी जनता धर्म व वंश से भिन्न जाति है। न हम चीनियों जैसी भाषा बोलते हैं और न हमारी वैसी लिपी है। इन्टरनेशनल कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट ने भी बाद में अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि:-

"1912 में चीनियों के निकाले जाने पर 'तिब्बत' की स्थिति को वास्तव में आजादी ही कहा जाएगा। कहा जा सकता है कि 1911-12 की घटनाएं तिब्बत के पूर्ण प्रभुसत्ता राज्य के रूप में पुनः उद्गम की निशानी है। तिब्बत वास्तव में आजाद रहा है तथा कानूनन चीनी नियंत्रण से मुक्त।"

ज्यादा गुस्से की बात तो यह थी कि न्गाबों को मैंने सिर्फ वार्ता करने का हक दिया था। मगर मेरी तरफ से हस्ताक्षर करने का उसे अधिकार नहीं दिया गया था। वह हस्ताक्षर कर नहीं पाए इसीलिए तो मैंने अपनी मोहर द्रोमों में रख ली थी। अतः उसके साथ जबरदस्ती हुई होगी। लेकिन मुझे कई महीने बाद पूरी कहानी का पता लगा। इस बीच हमें रेडियो प्रसारणों पर निर्भर करना पड़ा जिन्हें कई बार दोहराया जाता था। इसमें बहुत से आत्म-स्वागती प्रवचन होते साम्यवादी की खुशियों के बारे में, चेयरमैन माओ के गौरव के बारे में, चीन के पीपुल्स रिपब्लिक के आश्चर्यों के बारें में और उन सभी अच्छी बातों के बारे में जो तिब्बती पा सकते थे क्योंकि 'अब हमारी मंजिलें एक हो गई थीं!' बड़ी बेवकूफाना बातें थीं।

आज़ाद शरणार्थी

सत्रह सूत्री 'समझौते' का विवरण सनसना देने वाला था। अनुच्छेद-दो कहता है कि तिब्बत की "स्थानीय सरकार" पी. एल. ए. को तिब्बत में

दाखिल होने तथा राष्ट्रीय सुरक्षा को संघटित करने में सक्रिय सहयोग देगी। इसका मतलब जो मुझे समझ आया वो यह था कि हमारी सेनाओं को एकदम आत्मसमर्पण करना है। अनुच्छेद-आठ इसी विचार को जारी रखे था कि तिब्बती सेना को चीनी सेना में मिला लिया जायेगा मानों यह संभव हो। अनुच्छेद-चौदह में पता लगा कि अब के बाद अपने विदेशी मामलों के संचालन से तिब्बत वंचित हो जायेगा। इन्हीं जैसे कुछ अन्य अनुच्छेद यह विश्वास दिलाते थे कि तिब्बत को धार्मिक आजादी रहेगी तथा मेरी स्थिति व वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था बनी रहेगी। लेकिन इन सब में एक बात बड़ी साफ थी कि अब के बाद 'बर्फ की धरती तिब्बत' चीन के पीपुल्स रिपब्लिक के प्रति जवाबदेह होगी।

जब हमारी स्थिति में यह नागवार सच्चाई बैठने लगी तो कई लोगों ने, खासतौर से कलकत्ता से ताक्तसेर रिंपांछे ने लंबे पत्र लिखकर मुझे तुरन्त भारत आने को कहा। उन्होंने कहा कि अब एकमात्र उम्मीद यही है कि चीनियों से लड़ने के लिए हम नए मित्र ढूंढें और उनकी सहायता लें। जब मैंने उन्हें याद दिलाया कि भारत, नेपाल, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका गए हमारे मिशन लौटा दिए गए थे तो उन्होंने कहा कि जब इन देशों को स्थिति की गंभीरता का ज्ञान होगा तो वे अवश्य ही सहायता देंगे। उन्होंने इंगित किया कि अमेरिका साम्यवादी विस्तारवाद के खिलाफ है तथा वह इसी बात के लिए कोरिया में एक युद्ध लड़ रहा है। उनकी बहस का तर्क तो समझ आ गया मगर मैं महसूस कर रहा था कि अमेरिका एक मोर्चे पर पहले ही युद्धरत है तो इसकी संभावना कम ही है कि वह एक मोर्चा और खोल ले।

कई दिनों बाद बीजिंग वाले प्रतिनिधिमंडल का लंबा टेलीग्राम आया। जितना हम रेडियो पर सुन चुके थे, इसमें उससे ज्यादा कुछ न था। स्पष्ट था कि न्गाबो को सच्चाई बताने से रोका जा रहा था। पिछले दिनों प्रतिनिधिमंडल के कुछ सदस्यों ने अपने संस्मरणों में प्रकट किया है कि उन्हें कैसे दबाव डालकर समझौते के लिए मजबूर किया गया और तिब्बती शासन की जाली मोहर प्रयोग की गई। लेकिन न्गाबो के तार से मैं अनुमान भर ही लगा सका कि क्या हुआ होगा। लेकिन उसने कहा कि तिब्बत का नया गर्वनर जनरल चियांग चिन-वु भारत होकर द्रोमो आ रहा है। वह शीघ्र ही पहुंचेगा।

इन्तजार के अलावा हो ही क्या सकता था। इसी बीच मेरे पास तीन प्रमुख मठीय विश्वविद्यालयों गंदेन, सेरा तथा द्रेपुंग के मठाधीश आये। सत्रह सूत्री 'समझौते' के बारे में बताये जाने पर उन्होंने मुझसे यथाशीघ्र ल्हासा लौटने की प्रार्थना की। उनके साथ ही सन्देश भेजकर लुखांग्वा तथा ताशी ने भी समर्थन किया था।

कुछ दिन बाद एक बार फिर ताक्तसेर रिंपोछे की खबर आई कि उन्होंने कलकत्ता में अमेरिकी वाणिज्य दूत से मुलाकात करके अमेरिका यात्रा की अनुमति ले ली है।

उन्होंने दोबारा कहा कि मैं भारत आऊं क्योंकि अमेरिकी तिब्बत से संपर्क करने को उत्सुक हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि मैं यदि निर्वासन में जाना चाहूं तो दोनों सरकारों के बीच सहायता की बातचीत हो सकती है। मेरे भाई ने खत यह लिखकर खत्म किया था कि द्रोमो जाने वाला चीनी प्रतिनिधिमंडल कलकत्ता पहुंच चुका है और मुझे भारत जरूर आना चाहिए। यहां भाव यह था कि यदि मैंने जल्दी न की तो बहुत देर हो जायेगी।

उन्हीं दिनों कुछ इसी तरह का खत हाइनरिश हैरर से मिला जो मेरे से थोड़ा पहले ल्हासा छोड़कर अब कालिम्पोंग में रह रहा था। उसने दृढ़ता से कहा था कि मुझे भारत में निर्वासन पाना चाहिए और इसका समर्थन मेरे कुछ कर्मचारियों ने किया था। लेकिन लिंग रिंपोछे भी इतने ही अड़े हुए थे कि मुझे नहीं जाना चाहिए।

मैं बड़ी उल्झन में पड़ा था। भाई का खत देखूं तो उम्मीद थी कि शायद किसी तरह विदेशी सहायता मिल जाये। मगर, इसका अर्थ मेरी जनता के लिए क्या होगा? क्या मैं चीनियों से मिले बिना ही चला जाऊं ? यदि गया तो क्या ये नए मित्र हर दुःख-सुख में साथ देंगे? सवाल उठ रहे थे। दो एक

तो यह कि अमेरिका या अन्य किसी से सन्धि का सीधा अर्थ होगा युद्ध। और युद्ध का अर्थ रक्तपात। दूसरी बात अमेरिका बेशक शक्तिशाली देश है मगर है तो हजारों मील दूर। दूसरी तरफ चीन पड़ोसी था और भौतिक रूप से अमेरिका से बेशक कमजोर हो मगर सैन्य संख्या तो ज्यादा है। अतः युद्ध द्वारा झगड़ा सुलझाने में कई साल लग सकते हैं।

और फिर अमेरिका में प्रजातंत्र था तथा मुझे यकीन नहीं होता था कि वे लोग असीमित हताहतों को सह पायेंगे। उस वक्त की कल्पना करना बड़ा आसान था जब हम तिब्बतियों को पुनः इसी हालत में आना होगा। नतीजा वही होता कि चलेगी आखिर में चीन की ही और इस बीच बिना किसी उद्देश्य के असंख्य तिब्बती अमेरिकी व चीनी मारे जायेंगे। अतः अब तो यही रास्ता था कि रुककर चीनी जनरल का ही इन्तजार करूं, आखिर वह भी तो आदमी ही होगा ना।

चीनी प्रतिनिधिमण्डल 16 जुलाई, 1951 को द्रोमो आ पहुंचा। उसकी पहुंच कां सन्देश लेकर एक सन्देशवाहक भागा आया। समाचार सुनकर मुझे बहुत उत्तेजना भी हुई और खौफ भी। वे लोग देखने मे कैसे होंगे ? मेरा आधा मन कहता था कि जरूर उन सभी के सिर पर सींग होंगे। बालकनी पर से दूरबीन लगाकर मैं घाटी में शहर की तरफ देखने लगा। याद पड़ता है कि बरसात के दिन थे मगर मौसम साफ था और धूप में भाप के बगूले हवा में उठ रहे थे। अचानक हलचल दिखाई दी। कर्मचारियों का एक समूह मठ की तरफ आ रहा था। उनमें तीन आदमी हल्के बादामी भूरे सूट पहने थे। वे उन तिब्बतियों के समक्ष बड़े महत्वहीन दिख रहे थे जो उच्च पद वाले लाल और सुनहरी रेशम के वस्त्र पहने थे।

हमारी मुलाकात बड़ी सर्द सी रही। जनरल चियांग चिन-वु ने शुरूआत करते हुए पूछा था कि क्या मैंने सत्रह-सूत्री 'समझौते' के बारे मे सुना है ?

बड़े चुप्पेपन से मैंने कहा- सुना है ? उसने इसकी प्रति व दो अन्य दस्तावेज मुझे दिए। उसके हाथ में मैंने सोने की रोलेक्स घड़ी देखी। इन

दो पूरक दस्तावेजों में से एक तिब्बती सेना के बारे था। दूसरे दस्तावेज में यह समझाया गया था कि यदि मैं निर्वासन में गया तो क्या होगा। इसमें मेरे समझने को यह सुझाव था कि चीनी सच्ची दोस्ती के लिए आये हैं। इसके बाद तो मुझे देश लौटने की इच्छा होनी चाहिए। यदि लौटूं तो मेरा खुली बांहों से स्वागत किया जायेगा। इसलिए छोड़कर जाने में कोई तुक नहीं थी।

फिर जनरल पूछने लगा कि मैं ल्हासा कब लौटूंगा ? मैने यों ही कह दिया 'शीघ्र ही' और अकेलेपन का दिखावा करना जारी रखा। उसके प्रश्न से स्पष्ट था कि वह मेरे साथ ही ल्हासा जाना चाहता था ताकि हम इकट्ठे शहर में दाखिल हों। अन्त में मेरे कर्मचारियों ने किसी तरह उसे एक या दो दिन बाद आने का जुगाड़ कर लिया।

उसका पहला प्रभाव मेरे सन्देह के अनुकूल ही रहा। जो शक व बैचेनी पहले थी उसके बावजूद मुलाकात के दौरान साफ हो गया कि बेशक इसे दुश्मन माना जाये मगर है यह मेरे जैसा ही इंसान। इस बात का मुझ पर काफी देर तक प्रभाव रहा। यह एक और महत्वपूर्ण सबक था।

जनरल चिआंग से मिलकर अब ल्हासा लौटना खुशी भरा लग रहा था। मेरी और हमारे कर्मचारियों की वापसी की तैयारी होने लगी। हम महीने के अन्त में चले। इस बार गोपनीयता की जरूरत न थी और मैं बड़े भव्य ढंग से रवाना हुआ। रास्ते में लगभग हर गांव में रुककर मैं लोगों से बातें और प्रवचन करता आया। इससे लोगों को यह बताने का अवसर मिला कि तिब्बत में क्या हो रहा था, कैसे विदेशी सेना आ घुसी है और यह भी कि चीनी किस तरह दोस्ती का ऐलान कर रहे हैं। साथ ही चुनिन्दा धार्मिक ग्रन्थों से थोड़ा बहुत अवसर के अनुकूल बोलता भी गया। आज तक मैं यही सूत्र इस्तेमाल करता हूं। मेरा विश्वास है कि हम बेशक किसी भी स्थिति में हों, धर्म के पास काफी कुछ है हमें समझाने को। पहले से अब इसमें मैं कहीं ज्यादा अच्छा हूं। उन दिनों आत्मविश्वास की कमी थी जो बोलते-बोलते दूर होती गई। हर शिक्षक की तरह मैंने भी देखा कि सीखना हो तो सिखाने से अच्छा कुछ नहीं है।

मुझे खुशी थी कि इस यात्रा में करने को मेरे पास काफी कुछ था। अन्यथा मुझे उदास होना पड़ता क्योंकि सारा परिवार विदेश में था सिवा मेरे पिता

के जो मेरी बारह वर्ष की उम्र में गुजर गए थे। सिर्फ लोबसंग साम्तेन अब मेरे साथ थे। इसके अलावा परिवार से बाहर के ताथाग रिंपोछे थे। वे द्रोमो में मुझे कुछ जरूरी शिक्षाएं देने आए थे और ल्हासा के बाहर बने अपने मठ को हमारे साथ ही लौट रहे थे। मैंने उन्हें पिछली सर्दियों में देखा था। अब एक बार फिर उससे ज्यादा वृद्ध तथा सत्तर साल के हो चुके थे। उनके साथ एक बार फिर रहकर मैं बहुत खुश था क्योंकि वह न केवल बहुत दयालु थे बल्कि बहुत आध्यात्मिक भी थे। वे निस्संदेह मेरे अति महत्वपूर्ण गुरु थे। उन्होंने मुझे बहुत सी महत्वपूर्ण तथा गुप्त शिक्षाएं दीं

जो उन्हें अपने समय के अति प्रतिभावान शिक्षकों से मिली थीं।

द्रोमो से हम धीरे-धीरे ग्यांत्से की तरफ चले जहां पहले की तरह फिर भारतीय घुड़सवार दस्ता मुझे सलामी देने आया।

लेकिन इस बार मैं भागमभाग में रहने के बजाए वहां कुछ दिन रहा। तब हम अति महत्वपूर्ण बोधिसत्व दोर्जी फाग्मो के मठ सामदिंग मठ के लिए चले। यह तिब्बत के अति सुन्दर मठों मे से एक है। रास्ते में इलाका देखने लायक था। सुन्दर नीली झीलें, हरे चरागाहों में भेड़ें। भला हो गर्मियों की धूप का कि इतना सुन्दर नजारा देख पाया। यदाकदा हिरण और मृगों के झुण्ड दिख जाते, जो उन दिनों तिब्बत में खूब होते थे। वे मुझे बड़े अच्छे लगते थे क्योंकि वे घबराहट से हमें आते देखते रहते और फिर एकदम लंबी-तिरछी टांगों पर भाग खड़े होते।

मुझे इस बार घुड़सवारी का आनन्द आ रहा था वर्ना मैं आमतौर पर घोड़ों से डरता हूं। मुझे खुद नहीं पता ऐसा क्यों होता है कि घोड़ों और टिड्डों के सिवा मैं अन्य सभी पशुओं के साथ निर्वाह कर ही लेता हूं। मैं मकड़ी और बिच्छू को बिना हिचक उठा लेता हूं तथा सांप की भी ज्यादा परवाह नहीं करता। लेकिन घोड़ों का बिल्कुल शौकीन नहीं हूं। लेकिन जाने क्यो घोड़ों और टिड्डों को देख खून जम जाता है। तो भी घुड़सवारी में मजा आ रहा था और सोच रहा था कि यह यात्रा चलती ही रहे। असल में यह एक

खच्चर था जो कभी रेलिंग रिंपोछे के पास था। इसकी गति व शक्ति बहुत अच्छी थी और यह मुझसे हिलमिल गया था। लेकिन साइस को मेरा यह चुनाव पसंद न था। वह नहीं चाहता था कि दलाई लामा इस छोटे से घटिया जानवर पर बैठें।

सामदिंग मठ नारगार्से शहर से ज्यादा दूर न था जो अति भव्य यामद्रोक झील के बिल्कुल पास स्थित है। मैंने इससे सुंदर पानी का नजारा कहीं नहीं देखा। चूंकि इस झील से पानी का लगातार आवागमन नहीं है इसलिए इसका पानी बड़ा प्यारा नीला है, जो चेतना को झनझना देता है। अफसोस की बात यह है कि पिछले दिनों मैंने सुना कि चीनी इसका पानी पनबिजली घर के लिए निकालने जा रहे हैं। यह सोचने का साहस मैं नहीं कर पाता कि इसके दीर्घकालिक प्रभाव क्या होंगे।

उन दिनों सामदिंग समृद्ध समुदाय था। मजे की बात यह कि परम्परानुसार एक औरत इसकी मुखिया होती थी। इसमें हैरानी की बात नहीं है क्योंकि तिब्बत में कोई विशेष लिंग भेद न था। उदाहरण के लिए जब मैं बच्चा था तो ल्हासा के निकट एक कुटी, में महिला आध्यात्मिक शिक्षक होती थी जो तिब्बत भर में प्रसिद्ध थी। यद्यपि वह 'तुल्कू' नहीं थी तो भी आज तक उसका सम्मान होता है। भिक्षुणियों के मठ भी होते थे मगर सिर्फ यही एक ऐसा मठ था जिसकी मठाधीश एक भिक्षुणी थी।

दोर्जी फाग्मों का नाम वज्रवराही से पड़ा है। किंवदंती यह है कि वज्रवराही का धड़ औरत का तथा सिर सुअर का होता है।

आज़ाद शरणार्थी

कथा के मुताबिक अठारहवीं सदी में कुछ मंगोलियाई हमलावार नानगात्सें आये तथा उनके मुखिया ने मांग की कि मठ की महन्त उसके सामने पेश की जाए। उसे विनम्र नकारात्मक जवाब भेज दिया गया। गुस्से में भरकर वह मठ की तरफ चला। योद्धाओं के साथ वह अन्दर घुस गया। भीतर उसने देखा कि हॉल भिक्षुओं से भरा है तथा गद्दी पर एक बड़ा जंगली सुअर बैठा है।

मेरी यात्रा के वक्त सामदिंग मठ की मुखिया मेरी हमउम्र एक युवा लड़की थी। मेरे पहुंचने पर वह सम्मान प्रकट करने आई। मुझे याद है कि वह लंबी चोटियों वाली बहुत शर्मीली युवा लड़की थी। अन्ततः वह पलायन कर भारत चली गई। मगर न जाने क्यों वह अचानक ल्हासा लौट गई जहां कई वर्षों तक हमारे नये स्वामी उसका शोषण करते रहे। मठ व इसके उप भवन पचास के दशक के अन्त में अन्य मठों की तरह ढहा दिए गए और इसकी प्राचीन प्रथा खत्म हो चुकी है।

ल्हासा की यात्रा पर चलने से पहले दो या तीन दिन मैं सामदिंग मठ में ठहरा। नोर्बुलिंका लौटने से पहले मैं नगर द्वार से कुछ घण्टों की यात्रा पर दूर ताथाग रिंपोछे के साथ उसके मठ तक गया। उन्होंने बड़े प्रेम से अपना कमरा मेरे लिए खाली कर दिया और मुख्य भवन के पीछे घास के मैदानों में ले गये जहां शास्त्रार्थ होता रहता था। अगले कुछ दिन हम औपचारिक रूप से कई बार मिले। विदा होते वक्त, उनसे बिछुड़कर मुझे बहुत अफसोस हुआ। मैं उनकी हार्दिक प्रशंसा तथा सम्मान करता हूं। इस बात से मुझे थोड़ी उदासी होती है कि राजप्रतिनिधित्व पद के दौरान उनकी प्रतिष्ठा धूमिल हुई। मैं अब भी सोचता हूं कि वह राजनीति में आने के बजाए लामा ही रहते तो बेहतर होता। आखिर उन्हें सरकार का कोई ज्ञान न था और न प्रशासन का अनुभव। जिस चीज में उन्हें प्रशिक्षण न मिला हो उस क्षेत्र में उनसे उम्मीद करना ठीक भी नहीं। लेकिन यह तो तिब्बत था। चूंकि आध्यात्मिक ज्ञान के कारण उनकी प्रतिष्ठा थी इसलिए स्वाभाविक ही था कि देश का सर्वोच्च दूसरा पद उन्हें दिया जाए।

यह आखिरी अवसर था जब मैं उनसे मिला। अन्तिम मुलाकात में उन्होंने मुझसे कहा था कि उनके द्वारा बचपन में मुझ पर लगाए गए प्रतिबन्धों का बुरा न मानूं। एक वृद्ध और सम्मानित शिक्षक से यह सुनकर मैं द्रवित हो गया। खैर, उनकी बात मैं पूरी तरह समझ रहा था।

लगभग नौ महीने की गैर हाजिरी के बाद मैं अगस्त के मध्य में ल्हासा लौटा। मेरा भारी स्वागत हुआ। ऐसा लग रहा था मानो सारी जनता ही मुझसे मिलने तथा मेरी वापसी पर खुशी प्रकट करने आ गई हो। घर पहुंचकर खुशी भी हो रही थी और दिल में भी कुछ-कुछ हो रहा था। मैं जानता था कि पिछली सर्दियों के बाद बहुत कुछ बदल चुका है और पहले

जैसा कुछ भी नहीं रहा है। यही भावना मेरी जनता की भी थी क्योंकि आनन्द से भरपूर होने के बावजूद उनके उत्साह में थोड़ा उन्माद भी था। जितना समय मैं बाहर रहा आम्दो व खम में तिब्बतियों पर अत्याचारों की खबरें राजधानी पहुंचने लगी थीं।

अतः भविष्य का भय होना स्वाभाविक ही था। मगर कुछ लोग ऐसे भी थे जो सोच रहे थे कि अब मैं आ गया हूं तो सब ठीक हो जाएगा।

यह जानकर भी बड़ी उदासी हुई कि मेरा प्रिय सफाई कर्मचारी नोर्बु थोंडुप साल के शुरु में दिवंगत हो गया था। वह मेरा बहुत ही अच्छा साथी रहा था। मेरे बचपन से वह एक समर्पित दोस्त रहा जिसका सान्निध्य मुझे निरन्तर आनंदित करता था। जब मैं छोटा था तो वह मुखौटे लगा कर मुझे डरा देता और बड़ा होने पर मुश्किल खेलों में साथ देता रहा। हम झूठमूठ की लड़ाई में मुक्केबाजी पर उतर आते थे और मुझे याद है कि मैं उसके प्रति कभी-कभार इतना बुरा हो जाता कि खेल की लड़ाई में जब वह मुझे बाहों में जकड़ने की कोशिश करता तो मैं अपनी तलवार से उसका लहू तक निकाल देता। लेकिन वह मजाक-मजाक से ही बदला ले लेता और कभी मजाक करने से बाज न आता। अब मैं उसके लिए तो कुछ नहीं कर सकता था, हां उसके एक बेटे और एक बेटी की जरूर कुछ मदद कर सकता था। बौद्ध होने के नाते मैं जानता था कि शोक मनाने का ज्यादा फायदा न था। फिर भी महसूस हो रहा था कि नोर्बु थोंडुप की मौत से मेरा बचपन भी खत्म हो गया था। इसे वापिस नहीं लौटाया जा सकता था। कुछ ही दिन में मुझे चीनी प्रतिनिधिमंडल से दोबारा मिलना था। अब अपनी जनता के लिए जो कर सकता था, चाहे थोड़ा बहुत क्यों न हो, यह सोचकर करना ही था कि धर्म का शान्ति से अनुसरण करना जिन्दगी में बड़ा जरूरी है। और मैं अभी सिर्फ सोलह साल का था।

मैं प्रथानुसार जनरल चिआंग चिन-वू से मेरे अंगरक्षक के मुख्यालय में मिला। इस बात से जनरल का पारा चढ़ गया तथा उसने पूछा कि मैं औपचारिक बैठक स्थल के बजाए यहां क्यों भेंट कर रहा हूं। उसने जोर

देकर कहा कि वह विदेशी नहीं है और न ही वह चाहता है कि उससे अजनबियों की तरह मिला जाए। यह तथ्य शायद वह भूल गया था कि वह तिब्बती नहीं बोल सकता था। जब वह मेज पर मुक्के मारकर दहाड़ रहा था तो एकबार तो मैं उसकी बाहर निकली आंखें तथा सिन्दूरी गाल देखकर धक रह गया था। मुझे बाद में पता लगा कि जनरल अफसर इसी तरह गुस्सा झाड़ता रहता है। मैंने खुद को समझाने का प्रयास किया कि ऐसे व्यक्ति का दिल बहुत अच्छा होना चाहिए और असल में वह था भी भीतर से नर्म और बेलाग।

जहां तक गुस्सा दिखाने की बात है, मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि चीनी इस तरह ताव खाते ही रहते हैं। मेरे ख्याल में यही कारण होता है कि कुछ लोग उनसे प्यार से पेश आते हैं। विशेषकर यूरोपियन तथा अमेरिकी जो अपनी भावनाओं पर लगाम रख सकते हैं। सौभाग्य से अपनी धार्मिक दीक्षा के कारण मैं उसके व्यवहार को समझ सका। मुझे लग रहा था कि एक तरह से अपना गुस्सा इस तरह निकाल देना ठीक भी है। हर वक्त भी गुस्सा दिखाना ठीक नहीं मगर गुस्से को छुपाकर शरीफ बने रहने के बजाए यही ज्यादा ठीक रहता है।

शुरू से मेरा चिआंग से ज्यादा वास्ता नहीं पड़ता था।

आज़ाद शरणार्थी

चीनी अधिपत्य के एकाध साल तक तो मैं उससे शायद महीने में एक बार मिलता था। लुखांग्वा, ताशी तथा काशाग को ही उससे ज्यादा काम पड़ता था। और वे शीघ्र ही उसे नापसंद करने लगे थे। वे मुझे बताते कि वह बहुत घमंडी है तथा उसे जिन्दगी के हमारे भिन्न दृष्टिकोण से कोई सहानुभूति नहीं है। हम जब कभी मिलते, मैं स्वयं देखता था कि वह तथा उसके देशवासी किस तरह हर कदम पर हम तिब्बतियों को चिढ़ाते रहते।

द्रोमो से ल्हासा लौटने पर पहले पांच या छह हफ्ते की वह अवधि अब मुझे खुशियों भरी लगती है। यह खुशी उस वक्त 26 अक्तूबर, 1951 को काफूर हुई जब चीन की अठारहवीं रूट आर्मी के 3000 सैनिक

ल्हासा में आ घुसे। ये सैनिक उस डिवीजन के थे जिसने पिछले वर्ष चाम्दो में हमारी सेनाओं को हराया था। उनके साथ जनरल तान कुआनसेन तथा चिआंग कुओ-हा आए। और जब ये जनरल मिलने आये तो इनके साथ राष्ट्रीय परिधान व फर का हैट पहने एक तिब्बती भी था। ज्यों ही ये कमरे में घुसे इस व्यक्ति ने तीन बार दण्डवत किया। मुझे यह बड़ा अजीब सा लगा क्योंकि, वह चीनी प्रतिनिधिमंडल का सदस्य था। पता लगा कि वह दुभाषिया है और साम्यवादियों का निष्ठावान समर्थक। बाद में जब मैंने उससे पूछा कि वह अपने साथियों जैसे माओ सूट क्यों नहीं पहनता तो उसने बड़े मजे से जवाब दिया कि मुझे यह सोचने में भूल नहीं करनी चाहिए कि क्रान्ति वस्त्रों की क्रान्ति नहीं बल्कि विचारों की है।

लगभग इन्ही दिनों ही मेरा भाई ग्यालो थोंडुप ल्हासा लौटा। वह ज्यादा समय तो नहीं ठहरा मगर, जितना वक्त वह रुका इतने में इन चीनी नेताओं से कई बार मिला। तब उसने दक्षिण जाने की मंशा बताई जहां उन्हें मेरे अभिषेक के समय सरकार ने जागीर दी थी। लेकिन जागीर का तो बहाना ही था। बाद में पता लगा कि वह उन दिनों के नेफा में, भारत का उत्तर-पूर्वी सीमा प्रांत नाम से जाना जाने वाला क्षेत्र जो कि अब असम है, खिसक गया है। वह विदेशी सहायता लेने का जुगाड़ कर रहा था। मगर मुझे इसलिए नहीं बता रहा था कि मेरी उम्र छोटी होने के कारण मैं किसी पल उसका राज न खोल बैंठूं।

कुछ ही समय बाद चीनी सेना की एक और बड़ी टुकड़ी ल्हासा आ पहुंची। मुझे उनका आगमन खूब याद है। ऊंचाई के कारण तिब्बत में आवाज काफी दूर तक जाती है जिसकी वजह से उनके दिखाई देने से काफी पहले उनके फौजी ड्रम की थाप मेरे पोताला के कमरे में पहुंचने लगी थी। मैं दूरबीन लेकर छत पर भागा और वहां से मैंने धूल उड़ाती आती सर्पाकार पंक्तियां देखें। जब वे शहर की दीवार के पास पहुंचे तो चेयरमैन माओ तथा उसके डिप्टी चू-ते के चित्रयुक्त लाल बैनरों तथा पोस्टरों की बाढ़ आ गई। उनके पीछे दुंदुभी तथा तुरही बजाने वाले। सब बड़ा शानदार था। और शानदार ही थे सैनिक जो वाकई पिशाचों जैसे लग रहे थे।

उनके लाल झंडों से पैदा होने वाली तकलीफ से उबरने में मुझे कुछ समय लगा। (आखिरकार लाल रंग तो प्रकृति से ही खतरे की निशानी है।) बाद

में क्या देखता हूं कि सैनिक दरअसल बड़ी बुरी हालत में थे। उनकी वर्दियां फट रही थीं

और लग रहा था कि उन्हें भोजन की पूरी खुराक नहीं मिलती थी। एक तो यह बात, ऊपर से तिब्बती मैदानों की धूल उनके चेहरों पर पुती होने से वे डरावने दिख रहे थे।

1951-52 की सर्दी भर मैंने अपना अध्ययन पहले की तरह जारी रखा मगर, इस बार ज्यादा मेहनत से। इसी दौरान मैंने लामरिम साधनाएं शुरू कीं। ये एक ग्रन्थ से जुड़ी हैं जो मानसिक प्रशिक्षण द्वारा क्रमिक अवस्थाओं में ज्ञान का रास्ता दिखाती है। मैंने आठ साल की उम्र से ही मठीय अध्ययन के साथ-साथ इस तरह की तान्त्रिक शिक्षाएं लेनी शुरू कर दी थीं। इनमें ग्रन्थों का अध्ययन तो है ही, सीखने वालों को जुबानी गुप्त शिक्षा भी दी जाती है। वक्त गुजरता गया। मैंने स्वयं आध्यात्मिक पथ पर उन्नति करना शुरू कर दिया।

इस बार वापसी के दौरान मुझे ताथाग रिंपोछे की मृत्यु का समाचार मिला। मैं उनके दाह संस्कार में बहुत चाहकर भी शामिल नहीं हो सकता था। इसलिए मैंने उनकी आत्मा की शांति के लिए विशेष प्रार्थना की।

उसी शीत में मेरा दूसरा काम यह था कि मेरे प्रधानमंत्रियों तथा 'काशाग' का हौसला बढ़ाने के लिए जो कुछ कर सकूं करूं। मैंने उन्हें अस्थायित्व की बौद्ध विचारधारा का ध्यान कराते हुए इशारा किया कि वर्तमान हालात भले ही हमारी उम्र भर रहें मगर ज्यादा देर तक नहीं रहेंगे। लेकिन मन में घटनाओं को लेकर बचैनी थी। अब एकमात्र खुशखबरी बस यही थी कि पंचेन लामा शीघ्र ही ल्हासा आने वाले थे।

इसी बीच 20 हजार सैनिकों का अन्तिम जत्था आ चुकने के बाद भोजन

की किल्लत हो गई। कुछ ही हफ्तों में ल्हासा की जनसंख्या लगभग दोगुनी हो गई थी और हमारे सीमित संसाधन चुकने की कगार पर थे। शुरू में चीनियों ने सत्रह-सूत्री 'समझौते' की इस शर्त को थोड़ा बहुत बनाये रखा कि सेना को सभी खरीद व विक्रय में जायज रहना चाहिए तथा जनता से वह जबर्दस्ती सुई या धागा तक नहीं लेगी। जो अनाज सरकार देती उसकी वे कीमत चुकाते और अपने अफसरों के आवास का किराया मकान मालिकों को देते रहे।

लेकिन शीघ्र ही यह व्यवस्था टूट गई। पैसा देना बन्द करके चीनी भोजन तथा आवास अधिकार से मांगने लगे। जल्दी ही एक संकट पैदा हो गया। जनता को ऐसा अनुभव पहले कभी नहीं हुआ था और वे समझ नहीं पा रहे थे कि रात भर में अनाज की कीमत दोगुनी कैसे हो सकती है। क्रोध भड़क गया और इन हमलावरों के प्रति सुप्त नफरत अब अंगड़ाई लेने लगी। जहां कहीं वे चीनी सैनिकों को देखते, वे ताली बजाते या थूक देते। बच्चों ने उन पर ईंट पत्थर फेंकना शुरू कर दिया और भिक्षु तक भी अपने खुले चोगों को लपेट कर कोड़ा बना लेते और नजदीक फटकने वाले चीनी सैनिकों पर जड़ देते।

साथ ही जनरल चिआंग चिन-वू की सोने की घड़ी का मजाक उड़ाने वाले अश्लील गीत गाये जाने लगे। और जब पता चला कि कई अफसर वर्दी के नीचे फर का कोट पहनते हैं

तो तिब्बती लोगों द्वारा अवमानना की सीमा ही न रही। शायद इसी बात से चीनी बड़े क्रोधित हुए क्योंकि, उन्हें यह तो पता था कि उनका मजाक उड़ाया जा रहा था मगर क्या कह रहे हैं, यह पता न चलता था। इससे उनका दर्प आहत होता। यह तो मुंह छिपाने वाली सी बात हुई। और चीनियों के लिए इससे बुरा क्या हो सकता था ? जनरल चिआंग के साथ बड़ी मजेदार घटना हुई। एक दिन वह मुझसे मिला और कहने लगा कि मैं गीत या पोस्टरों द्वारा चीनियों की आलोचना पर प्रतिबन्ध लगावा दूं क्योंकि ये 'प्रतिक्रियावादी गतिविधियां हैं।

लेकिन चीनियों के विरोध की मनाही के नये कानूनों के बावजूद भी चीनियों की उपस्थिति की निंदा के इश्तिहार गलियों में दिखने शुरू हो गए। यह विरोध आन्दोलन काफी लोकप्रिय हो गया। आखिर में जनता की तकलीफों की सूची बनाकर व चीनी सेना हटाने की मांग समेत एक छह सूत्री ज्ञापन तैयार करके सीधा जनरल चियांग को भेज दिया गया। इससे वह ताव खा गया। उसने कहा कि यह काम 'साम्राज्यवादियों का है तथा उसने दोनों प्रधानमंत्रियों पर षड्यन्त्र में शामिल होने का आरोप लगाया। तनाव बढ़ गया। चीनियों ने यह सोचकर मुझ तक सीधा पहुंचना शुरू कर दिया कि वे लोबसंग ताशी तथा लुखांग्वा को दरकिनार कर सकते हैं। शुरू में इन दोनों प्रधानमंत्रियों की अनुपस्थिति में मैने उनसे मिलने से इनकार कर दिया। मगर एक मौके पर लुखांग्वा ने जनरल को कुछ कह दिया तो वह भड़क उठा और वह यूं चला मानो लुखांग्वा को मार ही डालेगा मैं भयाक्रांत हो गया। मैंने बड़ों को इस तरह व्यवहार करते कभी न देखा था। उसके बाद मैं दोनों धड़ों से अलग-अलग मिलने को सहमत हो गया।

ज्यों-ज्यों चीन से ज्यादा कर्मचारी तथा अफसर आने लगे, मेरे प्रधानमंत्रियों व चीनी नेताओं के बीच तनाव बढ़ता ही गया। सत्रह सूत्री 'समझौतें' के घोषित होने के बावजूद ये लोग तिब्बत को अपने मामले स्वयं देखने देने के बजाए, हर कहीं टांग अड़ाते थे। जनरल चिआंग ने उनके व काशाग के बीच अन्तहीन मुलाकातें इस बात पर कर्की कि इन कर्मचारियों, उनके सैनिकों तथा उनके कई हजार ऊंटों तथा अन्य मालवाहक पशुओं की स्थाई रिहाइश क्या हो। लोबसंग ताशी तथा लुखांग्वा के लिए चीनियों को यह समझाना असंभव था कि ये मांगे न केवल नाजायज़ हैं बल्कि असंभव भी।

जब जनरल ने दूसरी बार 2,000 टन जौ का राशन मांगा तो उन्हें समझाना पड़ा कि इतनी मात्रा में तो अनाज है ही नहीं। तिब्बती जनता पहले ही किल्लत के दौर से गुजर रही है और सरकार के गोदामों में जो थोड़ा बहुत अन्न है उससे सेना का ज्यादा से ज्यादा दो महीने और काम चल सकता है। उन्होंने कहा कि ल्हासा में इतनी ज्यादा सेना बनाए रखने का कोई औचित्य भी नहीं दिखता। यदि देश की रक्षा ही करनी है तो सीमा पर जाना चहिए। कर्मचारी ल्हासा में रहें और उनकी रक्षा के लिए

एकाध रेजीमेन्ट रह ले। उन्होंने मुझे बताया कि जनरल ने चुपचाप सुनकर विनम्र जवाब दे दिया मगर किया कुछ भी नहीं।

सेनाएं और कहीं भेजने के सुझाव पर जनरल इन प्रधानमंत्रियों से खार खाने लगा। इनमें बड़ा लोबसांग था जो थोड़ी चीनी भाषा जानता था। इसकी बातों से जनरल चिढ़ने लगा तथा इस भिक्षु पर हर तरह के अकल्पनीय आरोप लगाने लगा। उसने लुखांग्वा की प्रशंसा शुरू कर दी क्योंकि उससे अच्छे मेलजोल की उम्मीद थी।

लेकिन पता चला कि लुखांग्वा चरित्रावान व्यक्ति था तथा जवानी के बावजूद उसने कभी भी जनरल से अपनी भावनाएं छुपाने की कोशिश नहीं की। यहां तक कि व्यक्तिगत स्तर पर भी वह जनरल की अवमानना करता रहता। मुझे किसी ने बताया कि एक मौके पर चिआंग ने उससे यों ही पूछा था कि वहे कितनी चाय पीता है। लुखांग्वा ने जवाब दिया था 'यह तो चाय की गुणवत्ता पर निर्भर है।' मैं यह सुनकर हंसा था मगर समझ गया कि दोनों के बीच हालात कितने बुरे हैं।

इन नाटक का चरमोत्कर्ष भी शीघ्र ही आ गया जब चिआंग ने दोनों प्रधानमंत्रियों, 'काशाग' तथा अपने सभी कर्मचारी के बीच एक बैठक का संयोजन किया। शुरू होने पर उसने घोषणा की कि हम सब तिब्बती सेना को चीनी सेना में लेने पर विचार विमर्श को एकत्र हुए हैं। लुखांग्वा से यह सहा न गया। उसने तुरंत कहा कि यह विचार अस्वीकार्य है। चाहे यह सत्रह सूत्री समझौते की एक शर्त थी, तो भी। इसकी शर्तें तो चीनियों ने कई बार तोड़ी हैं। अतः यह निरर्थक दस्तावेज है। उसने कहा कि यह तो सोचा भी नहीं जा सकता कि तिब्बती सेना चीनी सेना का साथ देगी।

चिआंग चुपचाप सुनता रहा फिर बोला "तब तो हम बस यहीं करेंगे कि तिब्बती झण्डे की जगह चीनी झण्डा लगा लें। लुखांग्वा ने कहा "यदि

तुमने लगाया तो यह उतारकर जला दिया जायेगा और इससे तुम्हें असुविधा ही होगी"। वह कहता चला गया कि चीनी तिब्बत की राष्ट्रीय अखंडता का उल्लंघन भी कर रहे हैं और दोस्ताना संबंधों की उम्मीद भी कर रहे हैं। उसने कहा "तुमने एक आदमी की खोपड़ी तोड़ दी, उसका घाव भरा ही नहीं है और इतनी जल्दी उम्मीद भी कर रहे हो कि वह तुम्हारा दोस्त बन जाये।" इस पर चिआंग बैठक से चला गया। तीन दिन बाद एक बैठक और होनी थी।

मैं इन बैठकों में से किसी एक में भी नहीं था। लेकिन मुझे हर घटना की सूचना मिलती रहती थी। ऐसा लग रहा था कि यूं ही चलता रहा तो मुझे भी उलझना ही पड़ेगा।

योजना के मुताबिक तीन दिन बाद बैठक हुई। इस बार दूसरे जनरल फैन मिंग ने सभापतित्व किया। उसने कहना शुरू किया कि उसे विश्वास है कि लुंखांग्वा अपने कहे पर खेद प्रकट करेगा। लुखांग्वा ने तुरन्त संशोधन किया कि उसकी ऐसी कोई मंशा नहीं है। उसने जो कुछ कहा उसका अब भी वही विचार है और यह उसका कर्तव्य है कि चीनियों को तिब्बती नजरिए की बराबर जानकारी दी जाए।

आज़ाद शरणार्थी

उसने उन्हें यह भी बताया कि सैनिकों की वजह से लोग बहुत तंग हैं। उन्हें यह भी चिन्ता है कि अभी भी चाम्दो को केन्द्रीय सरकार के प्रशासन में लौटाया नहीं गया और लक्षण ही नहीं दिखते कि चीनी सेना तिब्बत से लौट जायेगी। रही बात तिब्बती सेना पर प्रस्ताव की, इसे मानने से मुसीबत ही आयेगी।

यह सुनकर फैन मिंग भड़क गया। उसने लुखांग्वा पर विदेशी साम्राज्यवादियों के साथ एकजुट होने का आरोप लगाया और कहा कि वह दलाई लामा से उसे पद से हटाने को कहेगा। लुखांग्वा ने कहा कि यदि दलाई लामा कहें तो वह न केवल पद छोड़ देगा बल्कि जान भी दे देगा। इसके बाद बैठक अनिर्णय की स्थिति में ही खत्म हो गई।

इसके शीघ्र बाद मुझे चीनियों की लिखित रिपोर्ट मिली जिसमें यह स्पष्ट लिखा था कि लुखांग्वा एक साम्राज्यवादी प्रतिक्रिवादी है जो तिब्बत और चीन के बीच संबंध सुधरने नहीं देना चाहता और मुझे उसे पद से हटा देना चाहिए। मुझे 'काशाग' से भी मौखिक सुझाव मिला कि यदि में दोनों प्रधानमंत्रियों को इस्तीफा देने को कहूं तो शायद ठीक रहेगा। इससे मैं बहुत उदास. हो गया क्योंकि दोनों ही अपनी जनता के प्रति बड़े निष्ठावान, दृढ़ विश्वासी, ईमानदार और सच्चे थे।

एक या दो दिन बाद वे इस्तीफा देने आये तो दोनों की आंखों में आंसू थे। मेरी भी आंखें भर आई। लेकिन जानता था कि ऐसा न करूं तो दोनों की जान खतरे में है। बड़े भारी मन से दोनों का इस्तीफा स्वीकार कर मैं अपनी चिन्ता में था कि अब संभव हुआ तो चीनियों से स्वयं व्यवहार द्वारा संबंध सुधारने की कोशिश करूंगा। पहली बार मैंने दादागीरी शब्द का अर्थ जाना था।

उन्हीं दिनों पंचेन लामा ल्हासा आ पहुंचे। उनका दुर्योग कि वह चीनियों के नियंत्रण में पले बढ़े थे। वे अपने ताशीलुंपो मठ में अपना स्थान ग्रहण करने आए थे। जब वह आम्दो सूबे से आए तो अपने परिवार और शिक्षकों समेत उसके साथ चीनी 'अंगरक्षक' सैनिकों की बड़ी टुकड़ी भी थी।

उनके आने के बाद मैंने पंचेन लामा के साथ लंच के बाद पोताला में आधिकारिक बैठक की। मुझे याद है कि उनके साथ एक बहुत तेज तर्रार चीनी सुरक्षा अधिकारी था। जब भी हम लोग अकेले में बात करते थे तो वह बीच में आ जाता था। मेरे अंगरक्षक उसे तुरंत हटाने के लिए आगे बढ़े। मगर वह सशस्त्र था। इस कारण अशोभनीय स्थिति पैदा होते-होते बची।

आखिरकार मुझे पंचेन लामा के साथ अकेले में कुछ वक्त मिल ही गया। और वह मुझे बहुत ईमानदार और विश्वासपात्र युवक लगा। वह मुझसे तीन वर्ष छोटा था और उसके पास अभी आधिकारिक पद नहीं था। वह मुझे बहुत निर्दोष और खुशदिल लगा। हम काफी घुलमिल गए। उस वक्त हमें क्या पता था कि उसका जीवन कैसा त्रासदी भरा होगा।

पंचेन लामा की यात्रा के कुछ बाद ही मुझे तथाग मठ में पुनः निमन्त्रित किया गया जहां मैनें पन्द्रह घण्टे तक चले समारोह में अपने गुरू को समर्पित स्तूप को पवित्र किया।

इसके सामने पूरा दण्डवत करते समय मैं उदास था। इसके बाद मैं पहाड़ों व आसपास के क्षेत्र के भ्रमण पर निकल गया ताकि इस अरुचिकर स्थिति से कुछ - मुक्ति मिले। इस यात्रा का एक विशेष पहलू यह रहा कि मैंने दाह संस्कार के बाद बची हुई ताथाग रिंपोछे का कपाल देखा। इस पर उनके संरक्षक आराध्य का चिन्ह बना हुआ था। दरअसल उच्च लामाओं में ऐसी रहस्यमयी घटनाएं आम हैं। दाह संस्कार में हड्डियां इस तरह पिघलती हैं कि कई बार विशेष प्रतीक के चित्र बन जाते हैं। कुछ अन्य मामलों में, जैसा कि मेरे पूर्वाधिकारी के मामले में हुआ ऐसे निशान स्वयं शरीर पर भी देखे जा सकते हैं।

1952 में बसन्त की शुरूआत में लुखांग्वा व ताशी के जबरन इस्तीफे के बाद चीनी अधिकारियों के साथ असुविधाजनक विराम संधि बनी रही। इस अवसर का प्रयोग करके मैंने सुधार कमेटी की स्थापना की जो एक वर्ष पहले द्रोमो यात्रा के वक्त से दिमाग में थी। मेरी एक और मुख्य महत्वाकांक्षा थी स्वतन्त्र न्यायपालिका स्थापित करना।

जैसा कि मैं रेलिंग रिंपोंछे के मामले में बता चुका हूं, सरकार के अन्याय का शिकार होने वालों की मैं चाहकर भी सहायता नहीं कर पाता था, क्योंकि मैं अव्यस्क था। उदाहरण के लिए मुझे प्रशासन में काम कर रहे एक व्यक्ति का मामला ध्यान आता है जिसके पास 'थांका' बनाने के लिए प्रयुक्त होने वाले सोने की धूल का भण्डार पाया गया था। मैंने दूरबीन से देखा था कि उसके हाथ बांधकर खच्चर पर उल्टा बिठाकर शहर से निकाल दिया गया था। उन दिनों ऐसे अपराधों की यहीं पारम्परिक सजा होती थी।

कई बार मुझे महसूस होता था कि मैं दखल दे सकता था। पोताला में मैंने

एक और ऐसी ही घटना देखी। बहुत शुरू से ही मैंने कई जगहें ढूंढ ली थीं जहां मैं खिड़कियों व रोशनदानों से उन कमरों में झांक सकता जो अन्यथा न दिखाई पड़ते। एक बार मैंने रोशनदान से देखा कि जमींदार व किरायेदार की एक शिकायत सुनने के लिए राजप्रतिनिधि सचिवालय लगा हुआ था।

मुझे याद है कि किरायेदार बहुत दुखी लग रहा था। वह बहुत बूढ़ा, ठिगना, झुका हुआ, सफेद बालों और पतली मूंछों वाला व्यक्ति था। दुर्भाग्य से जमींदार के सम्बन्ध राजप्रतिनिधि (इस वक्त भी रेलिंग रिंपोछे ही था।) के साथ दोस्ताना थे और मामला खारिज कर दिया गया। मैं चाहकर भी कुछ न कर पाया। इसलिए जब मैंने अन्याय के ऐसे अन्य मामले सुने तो न्यायिक सुधारों के प्रति मेरा विश्वास सदृढ़ हो गया।

मैं शिक्षा के मामले में भी कुछ करना चाहता था। उस समय सार्वभौमिक शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। ल्हासा में कुछेक स्कूल थे और ग्रामीण क्षेत्रों में भी एकाध थे मगर अधिकतर हिस्सों में शिक्षा के केंद्र मठ ही थे। लेकिन वहां सिर्फ भिक्षु समुदाय को ही प्रवेश मिलता था। तदानुसार मैंने अच्छी शिक्षा व्यवस्था के विकास के लिए 'काशाग' को प्रस्ताव लाने का निर्देश दिया।

मैं संचार के क्षेत्र में भी कुछ करना चाहता था।

आज़ाद शरणार्थी

उन दिनों पूरे तिब्बत में एक भी सड़के न थी और पहियों वाले वाहन के नाम पर तेरहवें दलाई लामा की तीन कारें थीं। अतः सड़कों व यातायात की सुचारू व्यवस्था से जनता को बहुत फायदा होता। लेकिन शिक्षा की तरह यह भी लंबी अवधि की योजना थी और मुझे लगा कि इसमें कोई प्रगति होने में कई साल लग जायेंगे।

यद्यपि कुछ चीजें थी जिनके करने से तुरन्त कुछ परिणाम आ सकते थे। इनमें से एक था पैतृक कर्ज को खत्म करना। मेरे सफाई कर्मचारियों से

तथा द्रोमो जाते वक्त रास्ते में मुझे पता चला था कि यह कर्ज ही तिब्बत के ग्रामीण समुदाय तथा किसानों का कोढ़ है। इसका अर्थ था कि अकाल या किसी अन्य कारण से इकट्ठा हुआ जींदार का कर्ज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जारी रहता है। परिणाम स्वरूप मुक्त होने की बात तो दूर रही, कई परिवार ढंग से जी भी नहीं पाते थे । और लगभग इतनी ही दुष्ट वह व्यवस्था थी जिसमें छोटे जमींदार वक्त-जरूरत सरकार से उधारी ले सकते थे। लेकिन कर्ज यहां भी पैतृक था। इसलिए पहले तो मैंने पीढ़ी पर पीढ़ी कर्ज चलने की व्यवस्था समाप्त की और फिर वह ऋण माफ कर दिया जो चुकाया नहीं जा सकता था।

यह जानकर कि ये सुधार शायद नवाबों तथा कुत्सित हितों वाले व्यक्तियों को पसंद न आयें, मैंने असेंबली अध्यक्ष को मनाया कि इन कानूनों को सार्वजनिक जगहों पर इश्तिहार लगाकर आम तरीके के बजाए सार्वजनिक रूप से जारी किया जाए। मैंने इन्हें उन कागजों पर प्रचारित कराया जो धर्म-ग्रन्थ छापने के लिए प्रयुक्त लकड़ी के ब्लाकों की छपाई वाला तरीका प्रयोग करके छापे गए थे। इस तरह सूचना दूर-दूर तक फैलने की संभावना ज्यादा थी। अन्यथा कोई न कोई हस्तक्षेप करता। मगर अब किसी को भान हो इससे पहले तो काम हो जाएगा।

सत्रह-सूत्री समझौते की साफ शर्त थी कि "तिब्बत की स्थानीय सरकार अपनी इच्छानुसार सुधार लागू करेगी" और ये सुधार अधिकारियों अर्थात चीनियों की बाध्यता के अधीन नहीं होंगे। लेकिन, ये शुरूआती सुधार कई हजार लोगों के लिए लाभकारी थे तो भी साफ हो गया कि हमारे 'मुक्तिदाताओं' की कृषि व्यवस्था अलग तरीके की है। चाम्दो में पहले ही सामूहिक खेती शुरू की जा चुकी थी। अन्ततः यह सारे तिब्बत में लागू कर दी गई और यही सर्वव्यापक अकाल, भुखमरी तथा हजारों तिब्बतियों की मौत का कारण बनी। यद्यपि 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के बाद सरकार ने इसमें कुछ नरमी कर दी थी मगर इसके प्रभाव आज तक देखे जा सकते हैं। तिब्बत जाने वाले कई यात्रियों की टिप्पणी थी कि कुपोषण के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में लोग कितने छोटे और अविकसित दिखते हैं। मैंने इसी बीच सरकार से आग्रह किया कि वह इस पुरानी तथा अनुत्पादक प्रक्रिया की समाप्ति के लिए जो कुछ कर सके करे। मैं यथाशक्ति तिब्बत को बीसवीं सदी में ले आने को दृढ़-निश्चियी था।

जहां तक मुझे याद पड़ता है मैंने 1953 की गर्मियों में लिंग रिंपोंछे से 'कालचक्र' दीक्षा ली। यह प्रमुख तान्त्रिक संस्कार है और विश्व शान्ति में इसका विशेष महत्व है।

अन्य तान्त्रिक संस्कारों से विपरीत यह दीक्षा जनता के बीच दी जाती है। इसकी तैयारी में ही हफ्ता दस दिन लग जाते है। और संस्कार कराने में तीन दिन। इसके त्रि-आयामी संकेतों में से दो को विभिन्न रंगों से रंगे रेत के दानों को प्रयोग करके एक बड़ा मण्डल बनाया जाता है। जब मैंने पहली बार इन में से एक मण्डल देखा तो सुधबुध खो बैठा था क्योंकि ये बहुत सुन्दर दिखते हैं।

दीक्षा के बाद एक महीने का मौन हुआ। मेरे तथा लिंग रिंपोंछे दोनों के लिए यह एक विशेष अनुभव था। जिस प्रथा को असंख्य पीढ़ियों से उच्च ज्ञानी आध्यात्मिक स्वामी किए जा रहे थे उसी में भाग लेकर मुझे बड़ा गर्व हुआ। समर्पण प्रार्थना का अन्तिम पद बोलते हुए मैं भाव-विहल हो गया था। यह एक शुभ संकेत था, हालांकि उस वक्त मेरे दिमाग में यह बात नहीं थी। यह इस बात का पूर्व-सचेतक था कि मेरे बहुत ज्यादा सुयोग्य न होने के बावजूद मैं अपने पूर्वाधिकारियों से तथा दुनिया में औरों से बहुत ज्यादा 'कालचक्र' दीक्षा दे पाया।

अगले वर्ष 'मोनलम' के दौरान जोखांग मन्दिर में चेनरेज़ी की प्रतिमा के सामने मैं पूर्ण दीक्षित बौद्ध भिक्षु हुआ। यह संस्कार लिंग रिंपोंछे करा रहे थे और यह पल भी बड़ा मर्म-स्पर्शी था। तब साधारण औरतों के एक समूह की प्रार्थना पर गर्मियों में मैंने अपनी जिन्दगी की पहली 'कालचक्र' दीक्षा दी।

चीनी अधिकारियों के साथ खींचतान के दौरान पूजा की इस अवधि से मुझे बहुत खुशी हुई। इस दौरान मैंने अपना ध्यान धार्मिक कर्तव्यों पर लगाया तथा बड़े व छोटे दोनों समूहों को नियमित उपदेश देने लगा।

परिणामस्वरूप जनता के साथ मेरे व्यक्तिगत संबंध बने। शुरू में मेरा आत्मविश्वास बहुत तेजी से बढ़ा। मुझे पता था कि चीनियों ने ल्हासा के बाहर मेरी जनता का जीना मुश्किल कर रखा है। साथ ही अब दिखाई दे रहा था कि मेरे दोनों प्रधानमंत्री चीनियों के साथ इतने कड़वे क्यों होते थे। उदाहरणार्थ जब कभी जनरल चिआंग चिन-वू मुझसे मिलने आया तो उसने कमरे के बाहर अंगरक्षक तैनात कर दिये यद्यपि उसे पता रहा होगा कि जीवन की पवित्रता बौद्धधर्म का एक प्रमुख नियम है।

तो भी बुद्ध की एक शिक्षा का मैंने ध्यान रखा कि एक प्रकार से दुश्मन भी दोस्त से ज्यादा अमूल्य है क्योंकि दुश्मन हमें वो चीजें सिखाता है जो दोस्त अक्सर नहीं सिखाता। मसलन सहनशीलता। और इसमें मैंने अपना दृढ़ विश्वास तो शामिल कर ही लिया था कि हालात चाहे कितने भी बुरे क्यों न हो जाएं, अन्ततः वे बेहतर होंगे ही। आखिरकार अज्ञान तथा तथा निराशा के मुकाबले जनता की सत्य, न्याय तथा मानवीय समझ की इच्छा ही विजय पाती हैं। इसलिए चीनी हमारा दमन भी करते हैं तो इससे हमें ताकत ही मिलेगी।

-5-

कम्युनिस्ट चीन में

लोबसांग ताशी व लुखांग्वा के कार्यालय से विदा होने के एक साल बाद चीनियों ने सुझाव दिया कि सरकार कुछ कर्मचारियों को चीन भेजे ताकि वे स्वयं देख लें कि गौरवपूर्ण मातृभूमि में जिन्दगी कितनी शानदार है। एक समूह भलीभांति गठित करके पीपुल्स रिपब्लिक की यात्रा पर ले जाया गया। जब कई महिनों बाद वे वापस लौटे तो उन्होने जो रिपोर्ट दी वह प्रशंसा, सराहना और झूठ से भरी थी। मैं तुरन्त समझ गया कि यह रिपोर्ट किसी दबाव में लिखी गई है क्योंकि अब तक मैं इस तथ्य का आदी हो गया था कि हमारे नए आकाओं के सामने सच बोलना प्रायः असंभव है। मुझे भी बातचीत का ऐसा ही रूप सीखना पड़ा कि कठिन परिस्थितियों में चीनियों से व्यवहार करते समय नकली दिखावा कैसे किया जाये।

ज्यादा समय नहीं बीता था कि 1954 के शुरू में मुझे खुद को चीन जाने

का न्योता मिला। यह विचार बड़ा शानदार लगता था। इस यात्रा के दौरान मैं न केवल चेयरमैन माओ से मिल सकता था बल्कि इससे मुझे बाहरी दुनिया की कुछ बातें समझने देखने का अवसर भी मिलता। लेकिन ज्यादातर तिब्बती इस विचार से खुश नहीं थे। उन्हें भय था कि मुझे कहीं बीजिंग में ही जबरन न रख लिया जाये और वापस आने की आज्ञा न दी जाये। कुछ यह भी महसूस कर रहे थे कि वहां मेरी जिन्दगी को खतरा हो सकता है तथा उन्होंने मुझे जाने से रोकने का खूब जोर लगाया। यद्यपि मुझे खुद को कोई भय नहीं था और मैंने मन बना लिया कि कोई चाहे कुछ भी कहे मैं जाऊंगा ही। यदि मैं इतना निश्चयी न होता तो इस प्रस्ताव से कुछ भी न हासिल हुआ होता।

अन्त में मैं अपने काफिले के साथ चल ही दिया जिसमें मेरा परिवार, मेरे दो शिक्षक, मेरे दो त्सेनशप (त्रिजंग रिंपोछे के कनिष्ठ शिक्षक बनने के बाद एक नया नियुक्त किया गया था), काशाग तथा भारी संख्या में अन्य कर्मचारी थे। कुल मिलाकर हमारी संख्या पांच सौ थी। जब एक सुबह तेज गर्मी में हम विदा हुए तो संगीतमय धुनों व कर्मचारियों की परेड के बीच एक औपचारिक विदाई कयीचू नदी के तट पर हुई।

दसियों हजार लोगों ने भाग लिया जिनमें कुछ धार्मिक बैनर लिए हुए थे। उन्होंने मेरी सुरक्षित यात्रा और खुशी-खुशी वापसी की कामना के लिए सुगन्ध जलाई।

उन दिनों कयीचू नदी पर कोई पुल नहीं था और हमने दूसरी तरफ खड़े नामग्याल भिक्षुओं के मंत्रोंच्चारण की संगत में, पशु की खाल से बनी छोटी नाव में नदी पार की। मैं अपनी विशेष नाव में चढ़ा जो दो छोटी नावों को इकट्ठा सिलकर बनाई गयी थी और अपनी जनता को अलविदा कहने के लिए मुड़ा। मैंने देखा कि वे बहुत ज्यादा भावुक हो गए थे। बहुत से लोग रो रहे थे और ऐसा लग रहा था कि कुछ तो यह मानकर मानो वे मुझे अन्तिम बार देख रहे हैं खुद को नदी में गिरा देंगे। मैंने स्वयं भी उदासी व उत्तेजना का वैसा ही मिश्रण महसूस किया जैसा चार साले पहले द्रोमो के

लिए रवाना होते वक्त हुआ था। जनता को इतना व्याकुल देखकर मेरा दिल टूटा जा रहा था। साथ ही आगे के रोमांच की संभावना मुझ उन्नीस वर्षीय नवयुवक को बहुत रोमांचित किए जा रही थी।

ल्हासा-से पीकिंग का फासला करीबन दो हजार मील है। 1954 में भी दोनों देशों को मिलानी वाली सड़कें नहीं थीं। यद्यपि चीनियों ने तिब्बती श्रमिकों की बेगार से किंघाई राजपथ पर काम शुरू कर दिया था। इसका पहला हिस्सा पूरा हो चुका था जिस पर मैं तेरहवें दलाई लामा की डाज़ कार में कुछ दूरी तय कर पाया। यह कार भी नदी पार करवाकर लाई गयी थी।

पहला पड़ाव ल्हासा से कोई पैंतीस मील दूर गंदेन मठ में हुआ जहां मुझे कुछ दिन रहने का अवसर मिला। मेरे लिए यह एक और मर्मस्पर्शी अवसर था। गंदेन तिब्बत के मठीय विश्वविद्यालयों में तीसरा सबसे बड़ा मठ है। यात्रा पुनः शुरू करने के लिए रवाना होते वक्त मैंने एक बड़ी अद्भुत बात देखी। तिब्बत के एक संरक्षक आराध्य की प्रतिमा जिसमें भैंस का सिर होता है, साफ तौर पर हिला था। जब मैंने इसे पहले देखा था तो यह चेहरे पर दयनीय भाव लिए नीचे की तरफ सिर झुकाए थी। लेकिन अब भयावह हावभाव लिए इसका मुख पूर्व की तरफ हो गया था। (इसी प्रकार मैंने सुना है कि निर्वासन में मेरे पलायन के समय, गंदेन के पूजाघर की एक दीवार से लहू बहना शुरू हो गया था।) मैंने कार से दोबारा यात्रा शुरू की। लेकिन ज्यादा समय नहीं हुआ होगा कि मुझे यातायात का यह शाही साधन खच्चर से बदलना पड़ा। जब हम कांग्पो क्षेत्र में पहुंचे तो वहां पाया कि सड़क बह गई थी और कई पुल गिरे हुए थे। पिघली हुई बर्फ लिए पर्वतीय धाराओं से निरन्तर बाढ़ आ रही थी और जगह-जगह जमीन खिसक रही थी। गर्मियों का आखिर होने के कारण कुछ भारी वर्षा हो रही थी। और कभी-कभी ऐसे हिस्से भी आए जहां कीचड़ घुटनों के आधे तक होती थी। मुझे बुजुर्ग लोगों के लिए अफसोस हो रहा था, जिन्हें साथ चलने के लिए कभी कभार बहुत संघर्ष करना पड़ता था।

कुल मिलाकर हालात बहुत बुरे थे। हमारे तिब्बती गाइडों ने हमें लिए जा रहे चीनियों को रास्ता बदलने के लिए मनाने की भरपूर कोशिश की ताकि हम सड़क के प्रस्तावित मार्ग के बजाए,

आज़ाद शरणार्थी

जिसे वे बहुत बेकार मान रहे थे, पारंपरिक ज्यादा ऊंचाई का मार्ग ले सकें। लेकिन चीनी यह कहते हुए अड़े रहे कि यदि हम उस रास्ते गए तो वहां कोई सुविधा नहीं मिलेगी। सो हम चलते रहे। यह भी कोई चमत्कार ही था। तीन से ज्यादा लोगों की मौत नहीं हुई। मरने वाले तीन मासूम युवा चीनी सैनिक थे जो हमें हिम स्खलन से बचाने के लिए रास्ते के साथ-साथ कतार में खड़े किए गए थे। मुझे इन लोगों की मौत का काफी अफसोस हुआ। उनके पास कोई चारा भी तो न था। कगारों पर गिरकर बहुत से खच्चर अपनी आंतें फटवा बैठे।

तब एक शाम जनरल चिआंग चिन-वू, जो वहां मौजूद था मेरे टेन्ट में आया और समझाने लगा कि कल की यात्रा और भी मुश्किल रहेगी। हमें उतरकर पैदल चलना होगा। इसलिए सेन्ट्रल पीपुल्स गवर्नमेन्ट के प्रतिनिधि के नाते वह स्वयं मेरी भुजाएं थामेगा और रास्ते भर सुरक्षित ले जायेगा। जब उसने यह कहा तो मुझे ऐसा लगा कि जनरल इस प्रभाव के अधीन है कि वह न केवल मेरे दो प्रधानमंत्रियों पर अपनी सत्ता थोप सकता है बल्कि वह कुदरत को भी धमका सकता है। मैंने अगला दिन चिआंग के साथ बंधे बंधे बिताया। मुझसे वह काफी बड़ी उम्र का और बेदम था। इसलिए यह बड़ा थकाऊ प्रबन्ध था। और फिर मुझे यह चिन्ता थी कि अंत जनरल का आया हो और ऊपर से लगातार गिर रही चट्टानें मुझमें और उसमें फर्क ही न कर पायें तो क्या होगा ?

यात्रा में हम जब भी कहीं रुके, हम चीनी पीपुल्स लिबरेशन आर्मी द्वारा संचालित और लाल झण्डों से ढकी सैनिक चौकियों में ही रुके। चीनी सैनिक आते और हमें चाय पेश करते। एक बार तो मैं इतना प्यासा था कि मैंने अपना पीने का पात्र ढूंढने परवाह किए बिना उनका पात्र ले लिया। प्यास बुझा चुकने पर मैंने ध्यान दिया कि जिस मग में मैं पी रहा था वह किनारों पर लगे लार व भोजन के टुकड़ों से गन्दा था। मुझे उबकाई आने लगी। मुझे याद आया कि बचपन में मैं कितना ध्यान देता था। परन्तु अब जब कभी उस घटना को याद करता हूं तो हंसे बिना नहीं रह पाता।

लगभग दो हफ्तों बाद हम देमो नामक एक छोटे से कस्बे में पहुंचे जहां हमने रात को एक नदी के पास पड़ाव डाला। मौसम खूब अच्छा था। मुझे याद आता है नदी के किनारों को देखकर ठगे रह जाना जो पीले बटर कप और चटकीले लाल-गुलाबी फूलों से ढके हुए थे। इस दिन बाद हम पोयूल क्षेत्र में पहुंचे। अब आगे सड़क पर मोटर चलाई जा सकती थी और हमारी टोली ने जीप व ट्रक से यात्रा की। इससे बड़ी राहत मिली क्योंकि खच्चर की सवारी से मैं काफी परेशान हो गया था। हालांकि परेशान मैं सिर्फ अकेला ही नहीं था। मैं अपने एक कर्मचारी का दृश्य कभी नहीं भूल पाऊंगा। उसकी कमर इतनी दुख रही थी कि वह अपनी काठी पर टेढ़ा लेटा रहा। इस प्रकार उसने अपने एक के बाद दूसरे गाल को आराम देने का उपाय खोज लिया था।

ल्हासा से इतनी दूरी पर चीनियों का तिब्बत पर काफी प्रभावशाली नियन्त्रण था।

कम्युनिस्ट चीन में

वे अपने सैनिकों के लिए कई बैरकें तथा कर्मचारियों के लिए घर पहले ही बना चुके थे। और प्रत्येक कस्बे व गांव में लाउडस्पीकर थे जो चीनी सैन्य धुन बजाते तथा लोगों को "मातृभूमि के गौरव के लिए" काम और सख्त मेहनत करने को प्रोत्साहित करते। हम शीघ्र ही खम की राजधानी चाम्दो पहुंचे जहां मेरा भव्य स्वागत हुआ। यहां चूंकि इस स्थान को चीनी प्रत्यक्ष प्रशासित करते थे अतः कामकाज में एक अजीब महक थी। सैन्य बैण्ड चेयरमैन माओ व क्रान्ति की प्रशंसा में गीत गा रहे थे तथा तिब्बती लाल झंडियां लहरा रहे थे।

चाम्दो से मुझे चीनी मुख्यभाग के पहले शहर चेंग्दू में ले जाया गया। रास्ते में हमने धारत्से-धे नामक एक जगह से पहाड़ी पार की जो तिब्बत व चीन के बीच ऐतिहासिक सीमा की निशानदेही करती है। ज्यों ही हम दूसरी तरफ के मैदानों में उतरे तो मैंने पाया कि यह देश कितना भिन्न है। जिस तरह यह देश हमसे भिन्न है, कहीं उसी तरह ये चीनी लोग भी हमसें भिन्न

न सिद्ध हों ? मैं चेग्दू को ज्यादा नहीं देख पाया क्योंकि पहुंचते ही मुझे बुखार हो गया तथा मुझे कई दिन बिस्तर में रहना पड़ा। ज्यों ही मैं थोड़ा ठीक हुआ मुझे और मेरे काफिले के वरिष्ठतम सदस्यों को शिंगांग ले जाया गया, जहां मुझे पंचेन लामा मिले जो कुछ महीने पहले शिगात्से गए थे। तब हमने ज़ियान की हवाई यात्रा की।

जिस जहाज में हम गए वह काफी पुराना था और मैं यह भी बता सकता हूं कि इसने कभी अच्छे दिन भी देखे होंगे। भीतर सीटों के नाम पर असुविधाजनक स्टील फ्रेम थे और वो भी बिना किसी गद्दी के। लेकिन मैं हवाई यात्रा की इस उम्मीद से इतना उत्तेजित था कि मैंने इन कमियों को नजर अन्दाज कर दिया और कोई डर महसूस नहीं किया। हालांकि उसके बाद से मैंने हवाई यात्रा के प्रति काफी ज्यादा चौकस दृष्टिकोण बना लिया है। आजकल मैं इसे ज्यादा पसंद नहीं करता तथा एक बेकार सहयात्री हूं।

ज़ियान में हमने यातायात का तरीका पुनः बदला तथा यात्रा का अन्तिम हिस्सा रेलगाड़ी से पूरा किया। यह भी एक और अद्भुत अनुभव था। मेरे व पंचेन लामा के लिए आरक्षित प्रत्येक बोगी बिस्तर व बाथरूम से लेकर शानदार डायनिंग-कक्ष तक, प्रत्येक कल्पनीय सुविधा से सुसज्जित थी। सिर्फ जिस बात ने मेरी यात्रा का मजा किरकिरा कर दिया वह यह थी कि ज्यों-ज्यों हम चीनी राजधानी के करीब पहुंचते जा रहे थे मुझमें एक भय की भावना बलवती होती जा रही थी। आखिरकार जब हम पीकिंग रेलवे सटेशन पर पहुंचे तब मैंने काफी घबराहट महसूस की। यह घबराहट तब थोड़ा कम हो गई जब मैंने युवाओं की विशाल भीड़ को हमारे स्वागत के लिए आए देखा। लेकिन मुझे यह जानने में ज्यादा वक्त नहीं लगा कि उनकी मुस्कुराहटें व खुशियां पूरी तरह झूठी हैं और वे आदेशों के तहत यह कर रहे हैं। और बस यहीं से मेरी बेचैनी पुनः लौट आई।

ज्यों ही हम ट्रेन से उतरे, हमारा स्वागत किया प्रधानमंत्री चाउ ऐन-लाई तथा पीपुल्स रिपब्लिक के वाइस चेयरमैन चू ते ने। मुझे दोनों ही काफी दोस्ताना लगे। उनके साथ वही अधेड़ तिब्बती था जिसे मैंने ल्हासा में ने जनरल तान कुआन सेन के साथ देखा था।

आज़ाद शरणार्थी

शिष्टाचार के आदान-प्रदान के बाद यह आदमी जिसका नाम फुत्सो वांग्याल था, मेरे निवास तक साथ गया जो कि सुन्दर बगीचों वाला एक बंगला था। इससे पहले यह जापानी कूटनीतिज्ञ मिशन का बंगला था। यहां उसने मुझे अगले कुछ दिनों का कार्यक्रम समझाया।

समय पाकर मैं फुत्सोक वांग्याल का पक्का दोस्त हो गया। वह कई वर्ष पहले साम्यवादी पक्ष की तरफ हो गया था। चीन आने से पहले वह ल्हासा में चीनी मिशन द्वारा संचालित एक स्कूल में अध्यापन करने के साथ साम्यवादियों के लिए एजेन्ट का काम करता रहा था। जब 1949 में इसके सदस्यों के निकाले जाने के कारण मिशन बन्द हो गया तो उसने तथा उसकी पत्नी ने भी, जो तिब्बती मुसलमान थी, ल्हासा छोड़ दिया। वह खुद खम का रहने वाला था। बचपन में उसने अपने गृह-कस्बे बाथांग के एक ईसाई मिशनरी स्कूल में पढ़ाई की थी जहां उसने थोड़ी बहुत अंग्रेजी सीखी थी। हमारे परिचय होने तक वह चीनी भाषा पर भी अधिकार पा चुका था और वह चेयरमैन माओ तथा मेरे बीच एक उत्कृष्ट दुभाषिया बना।

फुत्सोक वांग्याल एक योग्य आदमी, शान्त तथा बुद्धिमान व अच्छा विचारक भी निकला। वह लगन का पक्का और ईमानदार भी था तथा मैंने उसकी संगति का खूब आनन्द उठाया। उसे मेरे दुभाषिये के रूप में मिले इस काम से खुशी इसलिए नहीं थी कि इससे उसे चेयरमैन माओ के करीब जाने का मौका भी मिल रहा था जिसकी वह पूजा करता था बल्कि मेरे प्रति उसकी भावनाएं भी मजबूत थीं। एक बार जब हम तिब्बत के बारे में बातें कर रहे थे तो उसने कहा कि उसे भविष्य के बारे में पूरी उम्मीदें महसूस हो रही है क्योंकि उसके विचार से मैं काफी खुले दिमाग का आदमी था। उसने मुझे बताया कि कैसे कई वर्ष पहले वह नोबूलिंका की जनसभा में गया था और उसने एक छोटे से लड़के को सिंहासन पर देखा था। "और अब तुम यहां पीकिंग में मेरे साथ हो और छोटे बच्चे नहीं. रहे।" उसका यह विचार मर्म को स्पर्श कर गया और वह रोने लगा। कुछ मिनट तक रोते रहने के बाद वह फिर एक सच्चे साम्यवादी की तरह बातें करने लगा। उसने मुझसे कहा कि देश पर शासन के हथियार के रूप में दलाई

लामा को ज्योतिष पर ज्यादा निर्भर नहीं करना चाहिए। उसने मुझसे यह भी कहा कि जीवन का आधार बना लेने के लिए धर्म कोई विश्वसनीय चीज नहीं है। उसकी साफगोई के कारण मैं ध्यानपूर्वक सुनता रहा। जिस विषय को उसने अन्धविश्वासी कामकाज कहा था मैंने उस बारे में उसे समझाया कि किसी चीज को सच या झूठ मानने से पहले खुद भगवान बुद्ध ने पूर्ण जांच पड़ताल की जरूरत पर बल दिया है। मैंने उसे यह भी बताया कि मैं इस बात पर संतुष्ट हूं कि धर्म आवश्यक है, खासकर उन लोगों के लिए जो राजनीति में उलझे हैं। हमारी वार्ता के अन्त में मैंने महसूस किया कि हमारे मन में एक दूसरे के प्रति काफी सम्मान है। हममें जो अन्तर थे वे व्यक्तिगत मामले थे। इसलिए विवाद का कोई आधार न था। अन्तिम विश्लेषण में हम दोनों अपने देश के भविष्य पर गहराई से विचार करने वाले दो तिब्बती थे।

मैं जब छोटा बच्चा था

शारदा पुस्तकालय
(संजीवनी शा. द. केंद्र)
क्रमांक...252...

मेरे पूर्ववर्ती तेरहवें दलाई लामा :
थुप्तेन ग्यात्सो

मेरे पहले रिजेंट : रेतिंग रिपोछे

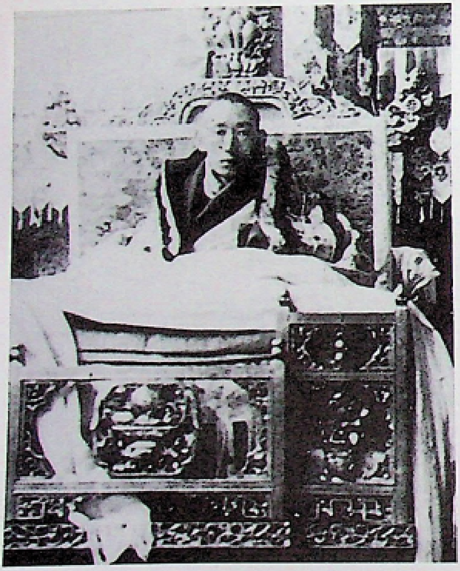

करूणा के बुद्ध : सहस्त्र भुजा वाले
अवलोकितेश्वर (चेनरेज़ी)

पोताला महल और
नीचे शोल गांव

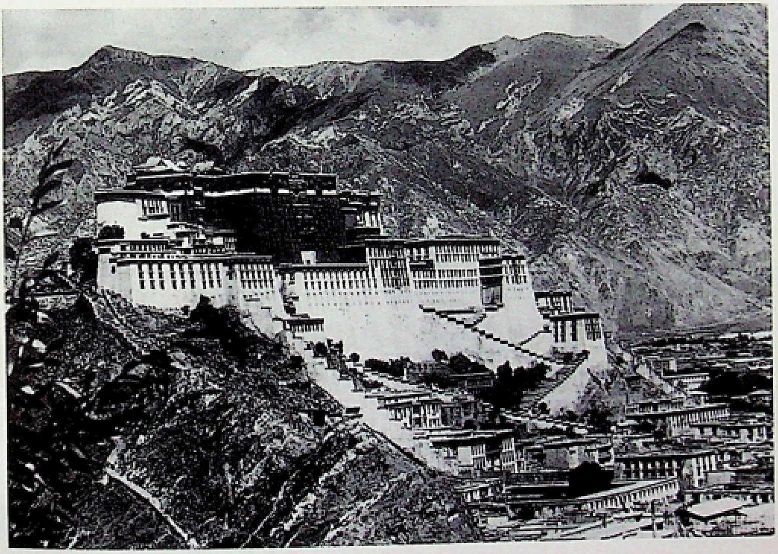

मेरी मां अपनी आयु के साठ वाले दशक में

मैं जब किशोर था

द्रोमो का समारोह जिसमें मुझे भगवान बुद्ध का एक अवशेष भेंट किया गया

गर्मियों के ओपेरा
समारोह में मुखौटे
पहने दो नर्तक

एक धार्मिक समारोह में
भिक्षु और आम नागरिक

(बाएं) 1954 में बीजिंग रेलवे स्टेशन पहुंचने पर मैं और पंचेन लामा। एकदम बाएं चू-ते, दाएं चाऊ एन-लाई और हमारे बीच में फुंत्सोक वांग्याल

(नीचे बाएं) बीजिंग में मैं, मेरे अध्यापक, काशाग के सदस्य, मेरे कर्मचारी और मेरे परिवार के सदस्य। मेरी मां, तेनजिन चोग्याल और बड़ी बहन सेरिंग दोलमा दायीं ओर हैं।

(दाएं) गंगतोक में मैं और सिक्किम के महाराज कुमार थोंडुप नामग्याल। हम दोनों को फोटोग्राफी का शौक था।

(नीचे)1956-57 में भारत में मेरे परिवार का दुर्लभ चित्र जिसमें केवल मेरे पिता नहीं हैं। बायें से : मां, सेरिंग दोलमा, ग्यालो थोंडुप, ताक्सेर रिंपोछे, लोबसांग साम्तेन, मैं, जेत्सुन पेमा और तेनजिन चोग्याल

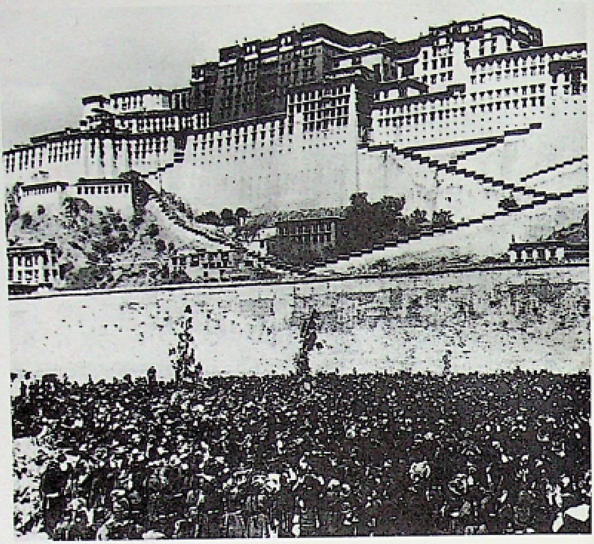

12 मार्च 1959 का वह दिन जब पोताला के नीचे शोल गांव में तिब्बती महिलाओं ने राष्ट्रीय क्रांति की अलख जलाई

निर्वासन के लिए यात्रा

मेरे आगमन के एक या दो दिन बाद मुझे बताया गया कि तिब्बती प्रतिनिधिमण्डल के सभी सदस्य एक दावत पर आमन्त्रित हैं। उस दोपहर हमें शाम के क्रियाकलापों का पूर्वाभ्यास कराया गया। मालूम हुआ कि हमारे मेजबान शिष्टाचार के प्रति बहुत ध्यान देते हैं। बाद में मैंने जाना कि पीपुल्स रिपब्लिक के प्रत्येक अधिकारी की यह सामान्य विशेषता है। हमारे संपर्क अधिकारियों ने हर काम को बुखार जैसा बना दिया था। वे आतंकित थे कि हम मामला बिगाड़ देंगे और वे मूर्ख दिखाई देंगे। इसलिए उन्होंने हमें सभी सख्त तथा विस्तृत निर्देश दिए कि क्या करना है। और यहां तक कि हमने कितने कदम चलना है। और बाएं या दायें मुड़कर कितने कदम रखने हैं। यह सब सैन्य परेंड जैसा था। एक खास क्रम था जिसमें प्रत्येक को आना था। मुझे सबसे आगे जाना था, मेरे पीछे पंचेन लामा, तब मेरे दो शिक्षक, उसके बाद वरिष्ठता के क्रम में कालोन (काशाग के चार सदस्य) उसके बाद पदानुक्रम से सब लोग। हममें से प्रत्येक को उपहार पकड़े रखना था और ये उपहार भी ले जा रहे व्यक्ति की हैसियत के अनुकूल होने थे। सारी प्रक्रिया हम ऐसे तिब्बतियों को भी बहुत जटिल लग रही थी जिनकी कुलीनता शिष्टाचार के प्रति प्यार के कारण विख्यात है। लेकिन मेजबानों की घबराहट संक्रामक थी और शीघ्र ही हम भी कांपने लगे सिर्फ लिंग रिंपोछे के सिवा, जौ औपचारिकताएं नापसंद करते थे। उन्हें इससे कुछ लेना देना नहीं था।

अगले दिन, जहां तक मुझे याद है, मेरी चेयरमैन माओ के साथ पहली मुलाकात हुई। यह एक सार्वजनिक सभा थी जो दावत वाली व्यवस्था के समान थी और हम सभी पदानुसार पंक्तिबद्ध थे। ज्यों ही हम हॉल में घुसे मैंने स्पॉटलाइट्स की एक व्यूह रचना देखी जिसे सरकारी फोटोग्राफरों की पूरी फौज के लिए खड़ा किया गया था। इनके नीचे स्वयं माओ खड़े बहुत शान्त तथा शिथिल दिखाई दे रहे थे। उनमें विशिष्ट बुद्धिमान व्यक्ति जैसी आभा नहीं थी। यद्यपि जब हमने हाथ मिलाए तो मैंने महसूस किया जैसे मैं किसी शक्तिशाली चुंबकीय शक्ति के पास होऊं। वह अवसर की औपचारिकता के बावजूद स्वेच्छा से व मैत्रीपूर्ण ढंग से आगे बढ़े। ऐसा

लग रहा था कि मेरी जो आशंका थी वह निराधार थी। कुल मिलाकर मैंने माओ के साथ दर्जनों मुलाकाते कीं जिनमें अधिकतर बड़ी भीड़ के सामने हुई लेकिन उनमें से कुछ निजी मुलाकातों में फुत्सोक वांग्याल के अलावा कोई न था। कोई भी अवसर चाहे यह दावत हो या कान्फ्रेंस, वह मुझे अपने पास बिठाते और एक अवसर पर उन्होंने मुझे भोजन भी परोसा। इससे मुझे थोड़ी चिन्ता भी हुई क्योंकि मैंने अफवाह सुनी थी कि वह क्षय रोग (टी.बी.) से पीड़ित हैं। मुझे यह बहुत प्रभावपूर्ण व्यक्ति लगा। शारीरिक रूप से वह अतिविशिष्ट थे। उसका रंग बहुत काला था लेकिन साथ ही उसकी चमड़ी बहुत ही चमकदार थी। लगता था मानो वह किसी मल्हम का प्रयोग करते हों। उनके हाथ सुन्दर उंगलियों और विशेष गठन वाले अंगूठे के कारण बहुत सुन्दर थे और इनमें उत्सुकता भरी चमक भी थी।

मैंने यह भी ध्यान दिया कि उन्हें सांस लेने में कुछ कठिनाई होती है और वह काफी हांफते हैं। इसी से उनकी आवाज पर प्रभाव पड़ता था जो धीमी तथा सही होती थी। शायद इसी कारण से वह छोटे-छोटे वाक्य बोलते थे। इसी प्रकर उनकी गतिविधियां तथा हाव-भाव भी सुस्त थे। यदि वह अपनी गर्दन बाएं से दायें घुमाते तो उसमें कई सेकेंड लग जाते, जिससे उसमें मान व विश्वास की झलक आती। उनके तौर-तरीकों की विशिष्टता के विपरीत उनके कपड़े थे जो पूरी तरह जीर्ण दिखाई देते। उसकी कमीजें अस्तीनों पर हमेशा फटी होतीं तथा जो जैकेट वह पहनते, वे फटी पुरानी होतीं। ये अन्य लोगों जैसी ही होती थीं सिवा रंग के जो हल्के बादामी रंग से थोड़ा सा भिन्न होता था। उनके जूते हमेशा पालिश किए हुए होते थे। लेकिन उन्हें ऐश्वर्यपूर्ण वस्त्रों की जरूरत नहीं थी। इतना फूहड़ दिखने के बावजूद भी उनमें अधिकतर व सच्चाई की जबरदस्त ओज आती। उनकी उपस्थिति भर से ही सम्मान मिलने लगता। मैंने भी महसूस किया कि वह बहुत निश्चयी और पूरी तरह स्पष्ट भी थे।

आज़ाद शरणार्थी

चीन में अपने प्रवास के पहले कुछ हफ्तों के दौरान, हम सब तिब्बतियों के बीच वार्ता का स्वभाविक विषय यही था कि हम चीन की इच्छाओं के साथ अपनी जरूरतों का सर्वोत्तम तादात्मय कैसे करें। मैंने काशाग व साम्यवादी नेतृत्व के बीच मध्यस्थ का काम किया। बहुत सी प्रारम्भिक मुलाकातें हुई, जो बहुत अच्छी रहीं। वर्ताओं को थोड़ा ज्यादा बल तब मिला जब मैंने माओ के साथ पहली निजी मुलाकात की। इस मुलाकात के दौरान उन्होंने मुझे बताया कि वह इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि अभी सत्रह सूत्री 'समझौतें' की सभी धाराओं को लागू करना बहुत जल्दबाजी होगी। उन्होंने महसूस किया कि इनमें से विशेषकर एक को तो कुछ समय के लिए अनदेखा किया जा सकता है। यह धारा तिब्बत में "सैन्य मामलों का आयोग" स्थापित किए जाने से संबंधित थी जिससे देश पीपुल्स लिबरेशन आर्मी द्वारा प्रभावशाली ढंग से शासित होना था। उन्होंने कहा कि तिब्बत के 'स्वायत्त क्षेत्र' के लिए एक तैयारी समिति का गठन करना बेहतर रहेगा। यह संगठन ध्यान रखेगा कि सुधार की गति स्वयं तिब्बती जनता की इच्छानुसार संचालित हो। वह इस बात पर खूब जोर दे रहे थे कि 'समझौतें' की शर्तें उतनी धीमी रफ्तार से प्रभावी की जायें जितनी हम आवश्यक समझें। जब मैंने यह सूचना काशाग को भेजी तो उन्हें बहुत राहत मिली। अब वास्तव में ही ऐसा लग रहा थ कि हम शायद काम चलाऊ समझौता करने में सफल हो जायें क्योंकि हम उस देश के सर्वोच्च व्यक्ति से प्रत्यक्ष बात कर रहे थे। माओ के साथ एक निजी मुलाकात में उन्होंने मुझे कहा कि वह इस बात पर बहुत खुश हैं कि मैं बीजिंग आया हूं। वह कहते चले गए कि तिब्बत में चीन की उपस्थिति का कुल उद्देश्य हमारी सहायता करना था। उन्होंने कहा "तिब्बत महान देश है। आपका इतिहास बड़ा अद्भुत है। अरसा पहले आपने काफी सारा चीन भी जीत लिया था। लेकिन अब आप पिछड़ गए हैं और हम आपकी सहायता करना चाहते हैं। बीस वर्ष के समय में आप हमसे आगे भी हो सकते हैं और तब चीन की सहायता करने की बारी आपकी होगी।"

मैं अपने कानों पर बड़ी मुश्किल से विश्वास कर पाया लेकिन वह सिर्फ प्रभावित करने के लिए नहीं बल्कि दृढ़ विश्वास के साथ बोलते दिखाई दे रहे थे।

मैंने पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चाइना से जुड़ाव की संभावनाओं पर बहुत ज्यादा उत्साहित होना शुरू कर दिया। मैं जितना मार्क्सवाद की तरफ निहारता, मुझे यह उतना ही पसंद आना। यह प्रत्येक के लिए समानता और न्याय पर आधरित व्यवस्था थी जो दुनिया की सभी बुराईयों की रामबाण होने का दावा करती थी। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इसकी एकमात्र बुराई जो मुझे नजर आती वह थी इसका मानव अस्तित्व के सिर्फ भौतिकवादी नजरिए पर जोर देना। इससे मैं सहमत नहीं था। अपने आदशों की प्राप्ति हेतु चीनियों द्वारा प्रयुक्त तरीकों से भी मैं चिंतित था। मुझे इसमें कठोरता का तीव्र प्रभाव लगा। लेकिन साथ ही मैंने पार्टी का सदस्य बनने की इच्छा व्यक्त की। मैंने आश्वस्त महसूस किया और अब भी करता हूं कि बौद्ध व मार्क्सवादी विचारधाराओं का संश्लेषण करना संभव हो सकेगा जो राजनैतिक संचालन का सचमुच ही प्रभावी तरीका सिद्ध होगा।

साथ ही मैंने चीनी भाषा सीखना शुरू कर दिया और मेरे नए चीनी सुरक्षा अधिकारी के सुझाव पर जो कोरियाई युद्ध का एक अनुभवी सैनिक और प्रसन्नचित व्यक्ति था कुछ शारीरिक व्यायाम भी शुरू कर दिए। वह प्रत्येक सुबह आता और मेरा निरीक्षण करता। कुल मिलाकर वह जल्दी उठने का आदी नहीं था और समझ नहीं पाता था कि मैं प्रार्थना करने के लिए पांच बजे से पहले ही क्यों उठ खड़ा होता हूं। अक्सर वह बिखरे बाल लिए और बिना नहाये आ जाता। जहां तक आहार-विधान की बात है, इसमें कुछ असर लगता था। मेरी छाती, जो अब तक कुछ तंग व छरहरी थी, काफी फैलनी शुरू हो गई। आगमन के बाद हमने कुल मिलाकर कोइ दस हफ्ते बीजिंग में गुजारे। अधिकतर समय राजनैतिक मुलाकातें ओर कान्फ्रेंसों ने ले लिया और असंख्य दावतों की तो बात ही जाने दीजिए। इन विशाल भोजों का आहार मुझे कुल मिलाकर बहुत अच्छा लगा यद्यपि मैं उन सैकड़ों वर्षों पुराने अण्डों के विचार पर अब भी थर्रा जाता हूं जिन्हें व्यंजन समझा जाता था। इसकी गन्ध चढ़ जाती। यह मुंह में ही अटकी भी रहती। भोजन कर चुकने के बाद भी आप नहीं बता सकते थे कि आप

अभी उन्हें मुंह में ही चख रहे हैं, या यह सिर्फ उनकी गन्ध ही है। वे आपकी इन्द्रियों पर छा जाते। मैंने देखा है कि कुछ यूरोपियन पनीरों में भी ऐसा ही गुण होता है। इन दावतों को मेजबानों द्वारा काफी महत्वपूर्ण समझा जाता, जो इस विचार के लगते थे कि लोगों के खाने की मेज पर इकट्ठे बैठ कर ही सच्ची मित्रता पनप सकती है। यह बिल्कुल गलत है।

जब इन्हीं दिनों में कम्युनिस्ट पार्टी की पहली असेंबली हुई तो मुझे चीन के पीपुल्स रिपब्लिक की मार्गदर्शक कमेटी का उपाध्यक्ष बनाया गया। यह नाममात्र की नियुक्ति थी जिसमें कोई वास्तविक राजनैतिक सत्ता नहीं पर सम्मान तो था ही। मार्गदर्शक कमेटी नीतियों को पोलितब्यूरो, जहां असली शक्ति निहित है, के सामने पेश करने से पहले विचार विमर्श करती।

84

आज़ाद शरणार्थी

मार्गदर्शक कमेटी की राजनैतिक बैठकें व कान्फ्रेंस दावतों के बजाए ज्यादा लाभदायक अनुभव था। यद्यपि वे हमेशा चलते रहने जैसी लगतीं। कई बार एक वक्ता इकट्ठा ही पांच, छह या सात घंटे तक बोलता रहता जो बहुत बोर करने वाला होता। मै गर्म पानी के घूंट भरता रहता और समापन के लिए तरसता रहता। लेकिन माओ की उपस्थिति में होने वाली सभाओं की अलग ही बात थी। वह मंत्रमुग्ध कर देते। सबसे अच्छी बात तो यह थी कि बोल चुकने के बाद वह श्रोताओं की राय मांगते। वह किसी भी विषय पर लोगों की हार्दिक भावनाएं कहलाने का प्रयत्न करते और जो कुछ भी कहा जाता, सुनते। वह कई अवसरों पर अपनी आलोचना भी कर डालते। और एक बार, जब उन्हें वांछित परिणाम नहीं मिला तब उन्होंने एक पत्र प्रस्तुत किया जिसमें स्थानीय पार्टी अधिकारियों के व्यवहार की शिकायत थी जो स्वयं उनके गांव से भेजा गया था। कुल मिलाकर यह प्रभावी था लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया मैंने जानना शुरू कर दिया कि इन मीटिंगों में से अधिकतर कितनी कृत्रिम थीं। लोग अपनी बात कहने से डरते थे। खासकर गैर-पार्टी सदस्य जो पार्टी सदस्यों को खुश करने के

लिए उतावले थे।

धीरे-धीरे मुझे पता चलने लगा कि चीन में राजनैतिक जीवन विरोधाभासों से भरा था भले ही मैं अच्छी तरह तय नहीं कर पाया कि इसका कारण क्या था। जब कभी मैं माओ से मिलता वह मुझे पुनः प्रेरित करते। मुझे एक मौका याद है जब वह बिना सूचना दिए मेरे निवास पर आ गये थे। वह किसी मामले पर मुझसे निजी तौर पर बात करना चाहते थे। मुझे याद नहीं कि ठीक बात क्या थी। लेकिन हमारी बातचीत के दौरान उन्होंने भगवान बुद्ध के पक्ष में बातें करके मुझे चकित कर दिया। उन्होंने बुद्ध के "जाति-विरोधी, भ्रष्टाचार विरोधी व शोषण-विरोधी" होने की प्रशंसा की। उन्होंने सुपरिचित नारी बुद्ध देवी तारा की भी चर्चा की। अचानक ही वह बिल्कुल धर्म के पक्ष में दिखाई देने लगे।

एक अन्य अवसर पर मैं 'महान नेता' (उन्हें यही कहकर पुकारा जाता था) के सामने एक बड़ी मेज पर बैठा जिसके दोनों तरफ दो जनरल बैठे थे। उन्होंने दोनों व्यक्तियों की तरफ इशारा करके मुझसे कहा था कि वह उन्हें तिब्बत में तैनात कर रहे हैं। तब उन्होंने मुझे घूरा और कहा "इन आदमियों को मैं आपकी सेवा करने को भेज रहा हूं। यदि ये आपकी बात न सुनें तो मुझे बता देना। मैं इन्हें वापस बुला लूंगा।" फिर भी इन उचित प्रभावों को ग्रहण करते हुए साथ ही मैं वह पागलपन भी देखा सकता था जिसमें पार्टी कर्मचारियों का बड़ा बहुमत अपना दैनिक कार्य निबटाता था। वे अपनी जिन्दगी के लिए नहीं तो अपनी नौकरी के लिए निरन्तर भयग्रस्त रहते थे।

माओ के साथ वक्त गुजारने रहने के साथ-साथ मैंने चाउ एन-लाई व साथ ही लू राउ-ची को भी काफी देखा। लू राउ-ची मितभाषी था और बहुत कम हंसता था। संक्षेप में वह काफी सख्त था। एक मौके पर मैं लू तथा बर्मा के प्रधानमंत्री ऊनू के साथ एक बैठक में मौजूद था।

शुरू होने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को उन विषयों की थोड़ी जानकारी दी गई, जिनका उन्हें ध्यान रखना था। मेरा विषय धर्म था और यदि बर्मी नेता धर्म के बारे में पूछना चाहते तो मुझे उत्तर देना था। यह असंभव दिखाई देता था और उससे काफी परे था जो ऊनू सोचे हुए थे। इसकी अपेक्षा वह लू से अपने देश में साम्यवादी क्रान्तिकारियों को चीनी समर्थन के बारे में पूछना चाहते थे। लेकिन जब वह बोले और यह बात शामिल की कि गुरिल्ले उसकी सरकार के लिए परेशानी पैदा कर रहे हैं तो लू बगलें झांकने लगा। उसने बातचीत में शामिल होने से इन्कार कर दिया और ऊ नू का प्रश्न अनुत्तरित रह गया। मुझे धक्का लगा मगर इस विचार से संतोष हुआ कि कम से कम लू ने झूठ बोलने या धोखा देने की कोशिश नहीं की। इस मौके पर चाउ एन-लाई निस्संदेह ही चतुराई की बात कह देता।

चाउ बहुत ही अलग किस्म का व्यक्ति था और लू यदि शान्त व गंभीर था तो चाउ मुस्कुराहट व आकर्षण से भरपूर कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति था। दर असल वह अति-विनम्र था, यह ऐसे आदमी की निशानी होती है जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वह बड़ी तेज आंखों वाला भी था। मुझे याद आता है कि एक विशेष दावत में जिसमें मैं शामिल था, वह कुछ विदेशी कुलीन व्यक्तियों को मेज तक ले जा रहा था कि अचानक उसके मेहमान का पैर छोटी सीढ़ी पर लड़खड़ा गया। चाउ की एक बाजू बेकार थी लेकिन ज्यों ही वह आदमी लड़खड़ाया उसने अच्छे वाली बाजू उसे पकड़ने के लिए फैला दी। इस दौरान भी उसकी बातचीत सामान्य तरह से जारी रही।

उसकी जुबान भी बड़ी पैनी थी। बीजिंग में ऊनू की यात्रा के बाद, चाउ ने एक हजार कर्मचारियों को संबोधित किया, जिसके दौरान उसने बर्मी प्रधानमंत्री के प्रति सरे आम अपमानजनक टिप्पणियां कीं। मुझे यह बड़ा अद्भुत लगा क्योंकि वह लोगों के बीच उसी आदमी के प्रति विनम्र और सम्मानजनक रहा था।

बीजिंग में रहते हुए ही मुझे कुछ चीनी बौद्धों को शिक्षा देने को कहा गया। इस बार मेरा अनुवादक एक चीनी भिक्षु था जिसके बारे में मुझे बताया गया कि उसने तिब्बत में अध्ययन किया था और एक तिब्बती लामा से

शिक्षा ली थी। पुराने समय में कई चीनी भिक्षुओं को तिब्बत में अध्ययन करना पड़ता था। मैं उससे बहुत ज्यादा प्रभावित हुआ। वह मुझे अपने धर्म का सच्चा पालन करने वाला व बहुत समर्पित व्यक्ति लगा।

कुछ साम्यवादी जिनसे मैं मिला, बहुत अच्छे आदमी थे। दूसरे की निस्वार्थ सेवा करने वाले और मेरे लिए अच्छे व्यक्तिगत सहायक। मैंने उनसे काफी कुछ सीखा। अल्पसंख्यकों के दफ्तर का लिउ का-पिंग नामक एक उच्च कर्मचारी ऐसा ही था। जिसे मुझे मार्क्सवाद व चीनी क्रान्ति पर शिक्षा देने हेतु नियुक्त किया गया था। दरअसल वह मुसलमान था और मैं उसे यह पूछ कर चिढ़ाया करता कि क्या वह सूअर का मांस खाता है। मुझे याद आता है कि उसकी एक उंगली गायब थी। वह एक प्रसन्न चित्त व्यक्ति था। हम बहुत अच्छे दोस्त बन गए।

85

आज़ाद शरणार्थी

उसकी पत्नी जो उससे इतनी छोटी थी कि उसकी बेटी हो सकती थी, मेरी मां और बड़ी बहन की अच्छी सहेली बन गई। जब मैं चीन छोड़कर आया तब वह बच्चों की तरह रोने लगा।

मैं अक्तूबर समारोहों के हो जाने तक बीजिंग में रहा। वह साल पीपुल्स रिपब्लिक की स्थापना की पांचवीं वर्षगांठ का था और उस मौके पर राजधानी में बहुत से विदेशी कुलीन व्यक्तियों के आने की उम्मीद थी। इनमें खुश्चेव व बुल्गानिन भी थे जिनसे मेरा परिचय कराया गया। इन दोनों ने ही मुझे ज्यादा प्रभावित नहीं किया। और पण्डित नेहरू की तुलना तो वाकई किसी से नहीं हो सकती, जिन्होंने मेरे बीजिंग में होने के दौरान यात्रा की थी। चाउ एन-लाई की अध्यक्षता में हो रही दावत के वे सम्माननीय अतिथि थे और उनसे परिचय कराये जाने के लिए अन्य मेहमान पंक्तिबद्ध थे। कुछ दूरी से वे काफी मिलनसार दिखाई दे रहे थे और पास आने वाले के लिए कुछ शब्द कहने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। यद्यपि जब मेरी बारी आई और मैं खड़ा उनसे हाथ मिला रहा था

तो ऐसा लगता था कि वे जड़ हो गये। उनकी आंखें सामने स्थिर थीं और वे पूर्णतया चुप थे। मैंने इस पर कुछ परेशानी महसूस की ओर यह कहकर चुप्पी तोड़ी कि मैं उनसे मिलकर बहुत खुश हुआ हूं तथा तिब्बत काफी दूरस्थ देश होने के बावजूद मैंने उनके बारे में काफी कुछ सुना है। अन्त में वे बोले लेकिन सिर्फ बहुत ही असावधानी पूर्ण ढंग से।

मैं बहुत निराश हुआ क्योंकि मैं उनसे बातचीत करना चाहता था और तिब्बत पर उसके देश के दृष्टिकोण के बारे में पूछना चाहता था। कुल मिलाकर यह भेंट बड़ी अजीब रही।

बाद में मैंने भारतीय राजदूत की प्रार्थना पर उससे बातचीत की लेकिन यह भी लगभग उतनी ही असफल रही जितनी असफल भेंट मेरी नेहरू जी के साथ रही थी। यद्यपि मेरे साथ एक कर्मचारी था जो अच्छी खासी अंग्रेजी बोलता था लेकिन चीनियों ने जोर दिया कि मैं उसके बजाए उन्हीं का एक दुभाषिया अपने साथ ले जाऊं। इसका मतलब था कि भारतीय राजदूत जो कुछ अंग्रेजी में कहता उसे बड़ी मेहनत से चीनी में अनूदित किया जाता और फिर तिब्बती में। यह बड़ी असुविधाजनक भेंट थी। कुछ बातें थीं जिन पर मैं चर्चा करना चाहता था लेकिन वे चीनियों की उपस्थिति के कारण नहीं उठाई जा सकीं। दोपहर बाद का सर्वोत्तम हिस्सा वह आया जब एक नौकर ने हमारे लिए चाय डालनी शुरू की और फलों के एक बड़े बर्तन को गिरा बैठा, जो काफी महंगे दामों पर खरीदे गए होंगे। फर्श पर लुढ़कते इन खुमानी, आडुओं और बेरों को देखकर मेरा गंभीर दुभाषिया और उसका सहायक (कोई कर्मचारी कभी अकेला नहीं जाता था) हाथों और घुटनों के बल होकर उन्हें उठाने के लिए रेंगने लगे। इस सब को देखकर मैं अपनी हंसी नहीं रोक पाया।

मुझे काफी बेहतर वक्त मिला सोवियत राजदूत के साथ, जिसके साथ मैं एक दावत में बैठा था। उन दिनों में सोवियत संघ और चीन पक्के दोस्त थे अतः हस्तक्षेप का कोई खतरा न था।

राजदूत बहुत ही मैत्रीपूर्ण था और उसने समाजवाद के बारे में मेरे विचारों में काफी रुचि ली। जब मैंने जवाब दिया कि मैं इसमें काफी संभावनाएं देखता हूं तो उसने कहा कि मुझे आना चाहिए और सोवियत संघ की यात्राा करनी चाहिए। यह बहुत श्रेष्ठ विचार लगा और उसके देश की यात्रा की एक बलवती इच्छा मुझमें विकसित हुई लेकिन प्रतिनिधिमण्डल के एक साधारण सदस्य के रूप में। उस तरह यह संभावित प्रतिनिधिमण्डल जहां कहीं भी जाता, वहां मैं भी जाता, लेकिन बिना किसी जिम्मेवारी के। मैं अपना सारा वक्त अपनी काम करने में और सैर सपाटे में व्यतीत कर सकता था। दुःख की बात है कि इस विचार का कुछ नहीं बना। कोई बीस वर्ष से भी ज्यादा बाद मैं सोवियत संघ की यात्रा की इच्छा पूरी कर पाया। यह कहने की जरूरत नहीं है कि परिस्थितियां उससे बहुत भिन्न थीं जिनकी मैंने शौक से कल्पना की थी।

कुल मिलाकर चीनी अधिकारी मुझे विदेशियों से मिलने देने से हिचकिचा रहे थे। मेरा ख्याल है कि मैं उनके लिए कोई परेशानी वाली चीज रहा होऊंगा। तिब्बत पर चढ़ाई के समय, दुनिया भर के कई देशों ने कम्युनिस्टों की खूब भर्त्सना की थी। यह उनके लिए चिढ़ने का एक स्त्रोत था ओर वे वह सब कुछ करने में लगे थे जो उनकी छवि सुधार सकता और दिखा सकता था कि ऐतिहासिक रूप से भी उचित थी और एक बड़े देश द्वारा कमजोर देश की सहायता के रूप में भी तिब्बत पर उनके कब्जे का पूरा औचित्य था। लेकिन मैं ध्यान दिए बिना न रह सका कि कितना भिन्न व्यवहार हमारे मेजबान करते जब कोई विदेशी मेहमान मौजूद होता। आदतन तो वे विदेशियों के प्रति अपने दृष्टिकोण में घमंडी थे लेकिन उनकी उपस्थिति में वे बहुत ही नम्र और दबे रहते।

एक हंगेरियन 'नर्तक मंडली समेत जिसके सभी सदस्य मेरे आटोग्राफ चाहते थे जो मैंने दिए कई विदेशियों ने मुझसे मिलने में रुचि प्रकट की। हजारों मंगोलियन भी मुझे तथा पंचेन लामा को देखने की उम्मीद में चीनी राजधानी आए। इससे चीनी अधिकारी खुश न हुए। शायद इसलिए कि तिब्बती व मंगोलियन दोनों मिलाकर इस बात के असुविधाजनक अवशेष थे कि भूतकाल में चीजें कितनी भिन्न रही थीं। न केवल तिब्बती सेनाओं ने आठवीं सदी में चीनियों से कर वसूला था बल्कि मंगोलियाई युद्ध-सम्राट

कुबलाई खान के सफल आक्रमण के बाद मंगोलिया ने चीन पर सन 1279 से लेकर 1368 तक वास्तविक शासन भी किया था।

उस समय एक मनोरंजक ऐतिहासिक वाकया हुआ। कुबलाई खान बौद्ध बन गया और उसने एक तिब्बती गुरू बनाया। इस लामा ने मंगोलियन राजा को चीनी जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए हजारों चीनियों को समुद्र में डुबोकर मारने की प्रक्रिया को बन्द करने के लिए मनाया। ऐसा करके इस तिब्बती ने कई चीनी जिंदगियां बचाई।

1954 की सर्दियों के दौरान मैं, मेरी मां व मेरे सबसे छौटे भाई तेनजिन चोग्याल समेत सारे काफिले के साथ औद्योगिक व भौतिक प्रगति के गौरव देखने हेतु

चीन के विस्तृत भ्रमण पर गये। मैंने इसका खूब आनन्द उठाया। लेकिन मेरे बहुत से तिब्बती कर्मचारियों को उससे एकदम अरुचि थी जो उन्हें पेश किया जा रहा था। वे उस वक्त बड़ी चैन की सांस लेते जब कभी यह घोषणा होती कि आज घूमने नहीं जाना है। विशेषकर मेरी मां ने चीन में आनन्द नहीं उठाया। उसकी नाखुशी बढ़ गई जब भ्रमण के दौरान उसे बुखार हो गया जो बाद में फ्लू का गंभीर केस हो गया। सौभाग्य से हमारा व्यक्तिगत चिकित्सक, मेरे बचपन का 'मोटू डॉक्टर' हमारे साथ था। वह बहुत विद्वान व्यक्ति था और मेरी मां का मित्र। उसने उनके लिए कुछ दवाईयां लेने की सलाह दी जिन्हें उन्होंने तुरन्त ले लिया। दुर्भाग्य से उन्होंने उसके निर्देशों को गलत समझा और जिन्हें दो दैनिक खुराकों में लिया जाना था, वह उसे एक साथ ले बैठी। इससे खूब तेज प्रतिक्रिया हो गई जिसने इस ज्वर के ज्वार में उसे वास्तव में ही बहुत बीमार कर दिया। कई दिनों तक उन्होंने खूब कमजोरी महसूस की और मुझे सचमुच ही उनकी चिन्ता हो गई। लेकिन हफ्ते भर बाद उनमें सुधार आना शुरू हुआ और वह पच्चीस साल से ज्यादा तक जिन्दा रहीं। लिंग रिंपोछे भी बहुत बीमार हुए लेकिन वह उन्हें इतनी अच्छी तरह सुधार नहीं कर पाया। निर्वासन में आने के बाद ही वह पूरी ताकत पुनः पा सके।

तेनज़िन चोग्याल, जो मुझसे बारह साल छोटा है, चीनियों समेत जो कि उसके बहुत शौकीन थे, प्रत्येक के लिए खुशी व भय का निरान्तर स्त्रोत था। वह बड़ों को तंग करके बहुत खुश होता। यदि कभी मेरी मां या और कोई हमारे मेजबानों के बारे में निन्दात्मक टिप्पणी कर देता तो मेरा छोटा भाई इसे बिना हिचकिचाहट के उन तक पहुंचा देता। उसके सामने कोई बात कहते वक्त हम सभी को बड़ा ध्यान रखना पड़ता। तो भी वह तुरन्त भांप जाता जब कोई अस्पष्ट या टालमटोल वाली बात करता। लेकिन वह इतना प्रसन्नचित था कि मेरे कनिष्ट गुरु त्रिजांग रिंपोछे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो उसके साथ बहुत कम बोलते। और मैं सोचता हूं कि इसका मुख्य कारण था कि तेनज़िन चोग्याल मेज-कुर्सियों पर कूदता रहता और उन्हें चीनियों को यह बताने की चिन्ता रहती कि फर्नीचर कैसे टूटा। दूसरी तरफ लिंग रिंपोछे उसके लिए एक उत्साही साथी थे। मैंने व्यक्तिगत रूप से अपने भाई को ज्यादा नहीं देखा लेकिन उसने पिछले दिनों ही मुझे एक अवसर की याद दिलाई जब मैंने पाया था कि उसने एक सजावटी तालाब से सारी मछलियां निकाल ली थीं और उन्हें घास पर सजाकर रख दिया था। अब वह मुझे बताता है कि मैंने इस बात के लिए उसके कान पर भारी घूंसा दिया था।

यद्यपि चीन की भौतिक तरक्की की मेरी रूचि में कई कर्मचारी शामिल नहीं थे तो भी मैं साम्यवादियों की भारी औद्योगिकी के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों से खूब प्रभावित हुआ। मैं व्यग्र था कि मेरा देश भी इतनी ही तरक्की करे। मुझे वह हाइड्रो-इलेक्ट्रिक पावर स्टेशन (पनबिजलीघर) तो बहुत अच्छा लगा जिसे दिखाने हमें मांचूरिया ले जाया गया था। इसमें ज्यादा दिमाग लगाने की जरूरत नहीं है कि तिब्बत में इस प्रकार की ऊर्जा पैदा करने की अन्तहीन संभावनाएं हैं।

लेकिन जिस चीज ने मेरी इस यात्रा को स्मरणीय बनाया वह था उस कर्मचारी के चेहरे के हावभाव जो सयंत्र दिखाते वक्त मेरे सवाल पूछने पर उसके चेहरे पर आये थे। भला हो ल्हासा के पुराने डीजल जनरेटर पर मेरे काम का जो मैं इसके सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ पाया। मैं सोचता हूं कि एक युवा विदेशी भिक्षु द्वारा किलोवाट घण्टे व टर्बाइन के आकार पर प्रश्न पूछना उसे बेतुका लगा होगा।

इस भ्रमण का मुख्य आकर्षण तब आया जब हमें मंचूरिया में ही एक पुराने युद्धपोत पर ले जाया गया। मैं जड़ रह गया। चाहे यह बहुत प्राचीन था और मैं किसी यंत्र या डायल का सिर-पैर भी नहीं समझ पाया तो भी इस विशाल स्लेटी धातुई वस्तु व तेल तथा समुद्री पानी की गन्ध वाले जहाज पर चढ़ना ही मेरे लिए काफी था।

नकारात्मक पहलू यह रहा कि मुझे पता लगा कि चीनी अधिकारियों की मुझे आम चीनी जनता से मिलने की अनुमति देने की कोई मंशा न थी। जब कभी मैं प्रोग्राम से हटता या स्वयं स्थानों को देखने को निकलता तो मेरा ध्यान रखने वाले कर्मचारी 'सुरक्षा, सुरक्षा' का बहाना बनाकर मुझे ऐसा करने से रोक देते। मेरी सुरक्षा लगातार बहाना बनी रही। सिर्फ मुझे ही आम जनता से दूर नहीं रखा जा रहा था बल्कि बीजिंग के सभी चीनियों को भी मुझसे दूर रखा जा रहा था। उन्हें भी कोई चीज स्वतन्त्राता पूर्वक करने की मनाही थी।

लेकिन मेरा एक त्सेनशाप सेरकोन रिंपोछे हमेशा ही इधर-उधर निकल जाता। वह चीनियों की कही कोई बात न सुनता और वही करता जो उसे उचित लगता। और चूंकि शायद वह लंगड़ा तथा ध्यान में न आने योग्य था इसलिए किसी ने उसे रोकने की न सोची। इस प्रकार सिर्फ वही था जो इस नए पीपुल्स रिपब्लिक की अन्तरंग तस्वीर देख पाया। मैंने उससे काफी कुछ जाना। उससे जनता के मन में बैठे भय और भीषण गरीबी की एक बहुत अन्धेरी तस्वीर बनती थी।

फिर भी एक औद्योगिक क्षेत्र की यात्रा के दौरान मैं एक होटल के बैरे से बातचीत करने में सफल रहा जो बहुत रोचक रही। उसने मुझे बताया कि ल्हासा से मेरी विदाई की तस्वीरें उसने देखी हैं और यह जानकर बहुत खुश है कि मेरी जनता चीन की मेरी इस यात्रा से खूब खुश है। जब मैंने

उसे बताया कि यह हकीकत से बहुत दूर की बात है तो वह हैरान रह गया। उसने कहा "लेकिन ऐसा तो अखबार में कहा गया है"। इस पर मैंने कहा कि स्थितियों की गलत व्याख्या की गई क्योंकि सच्चाई तो यह है कि मेरी जनता का बहुमत तो बहुत ज्यादा बेचैन है। इस पर मेरे उस दोस्त को धक्का लगा। वह हैरान रह गया। मैंने पहली बार जाना कि कम्युनिस्ट अखबार किस हद तक घटनाओं को तोड़-मरोड़ देते हैं। ऐसा लग रहा था मानो झूठ बोलना तो अधिकारियों के खून में शामिल है।

चीन के इस भ्रमण के दौरान ही मैं सीमा पार मंगोलिया गया जहां मैंने 'सरकोन रिंपोछे के साथ उसकी जन्म-स्थली की यात्रा की। यह बड़ा मर्म-स्पर्शी अनुभव था जिससे मैंने जाना कि वह देश मेरे देश के कितना करीब है।

हम बीजिंग में वापस 1955 की जनवरी के आखिर में तिब्बत का नववर्ष त्यौहार

'लोसार' मनाने के लिए पहुंचे। इसकी महत्ता के प्रतीक स्वरूप मैंने एक दावत के आयोजन का निश्चय किया जिसमें मैंने चेयरमैन माओ व चार बड़े नेताओं की मंडली 'बिग फोर' के सदस्यों यानी चाउ एन-लाई, चू-ते व लू राउ-ची को आमन्त्रित करना था। उन सभी ने स्वीकार कर लिया। शाम के समय माओ बहुत मैत्रीवत रहे। एक मौके पर वह झुके और पूछने लगे कि मैं क्या कर रहा हूं क्योंकि मैं हवा में 'त्साम्पा' की एक चुटकी फेंक रहा था। मैंने समझाया कि यह प्रतीकात्मक अर्पण है जिस पर उन्होंने भी थोड़ा सा उंगलियों में लेकर हवा में फेंका। तब उन्होंने थोड़ा ज्यादा लिया और चेहरे पर शरारती भाव लिए उसे फर्श पर फेंक दिया।

इस जरा से व्यंग्यात्मक भाव ने ही एक स्मरणीय संध्या खराब कर दी जो हमारे दोनों देशों के बीच सच्चे भ्रातृत्व का आधार बन सकती थी। यकीनन ही चीनी घटनाओं को इस का तरह का रंग दे रहे थे। इसके लिए उन्होंने बहुत से फोटोग्राफर जमा कर रखे थे जिन्होंने इन दृश्यों को रिकार्ड करना

था। एक दो दिन बाद दिन गए भाषणों पर जोर देते हुए कुछ रिपोर्ट अखबारों में चमक दमक वाले फोटो के साथ छीं। ये तस्वीरें तिब्बत में भी गई होंगी क्योंकि जब मैं ल्हासा लौटा तो मैंने इन्हें चीन द्वारा चलाए जा रहे एक स्थानीय चीनी अखबार में भी देखा। इसमें मुझे और चेयरमैन माओ को इकट्ठे बैठे दिखाया गया था। मेरा सिर उनकी तरफ मुड़ा हुआ था और मेरे हाथ जटिल हाव भाव बनाए हुए थे। समाचार पत्र के संपादक ने खुद का दिमाग दौड़ाया कि क्या हो रहा होगा और इस आशय का शीर्ष दे दिया कि यह तस्वीर परमपावन दलाई लामा द्वारा 'महान नेता' को यह समझाते वक्त की है कि 'खाबसे' (लोसर का पकवान) कैसे बनता है।

1955 के बसन्त में जिस दिन मैंने चीन से तिब्बत कि लिए चलना था उस से एक दिन पहले मैं मार्गदर्शक कमेटी की सभा में भाग ले रहा था। लू राउ-ची जो इसकी अध्यक्षता कर रहा था, एक लंबे व्याख्यान के बीच में ही था कि अचानक मेरा सुरक्षा अधिकारी अन्दर घुसा और मुझ तक दौड़कर आया। उसने कहा "चेयरमैन-माओ तुरन्त आपसे मिलना चाहते हैं, वह आपका इन्तजार कर रहे हैं।" मुझे पता नहीं था कि क्या कहूं। मैं एकदम मीटिंग छोड़कर नहीं उठ सकता था और उधर लू था कि वह सांस लेने को तैयार नहीं था। मैने जवाब दिया "उस हालत में तो हमें चलना ही होगा"। और हम वहां से चल दिए, तुरन्त ।

हम सीधे माओ के कार्यालय गए, जहां वह सचमुच मेरा इन्तजार कर रहे थे। यह हमारी अन्तिम मुलाकत होनी थी। उन्होंने घोषणा की कि मेरे तिब्बत जाने से पहले वह मुझे सरकार के बारे में कुछ सलाह देना चाहते हैं तथा उन्होंने समझाना शरू किया कि कैसे मीटिंग की जानी चाहिए, कैसे लोगों की राय जानी जाए और फिर महत्वपूर्ण मुद्दों पर निर्णय कैसे लिया जाता है। यह बहुत उत्कृष्ट सूचना थी और मैं बैठा नोट्स लेता रहा जैसा कि हमारे मिलने पर मैं हमेशा करता था। वह मुझे बताते चले गए कि संचार किसी भी प्रकार की भौतिक प्रगति का मुख्य तत्व है और इस बात का ध्यान रखने पर बल दिया कि कितने युवा तिब्बतियों को

संभवतया इस क्षेत्र में प्रशिक्षित किया जा सकता है। उन्होंने यह भी जोड़ा कि वह जब भी मुझ तक कोई बात पहुंचाना चाहेंग तो वह ऐसा किसी तिब्बती के माध्यम से करना चाहेंगे। आखिरकार वह मेरे करीब खिसक आये और बोले "आप जानते हैं कि आपका दृष्टिकोण अच्छा है। लेकिन धर्म जहर है। पहली बात तो यह जनसंख्या घटाता है क्योंकि भिक्षुओं और भिक्षुणियों को कुंवारा रहना होता है। दूसरी बात यह भौतिक प्रगति को अनदेखा करता है।" इस पर मैंने अपने चेहरे पर एक उग्र, जलती हुई उत्तेजना महसूस की और अचानक मैं बहुत डर गया। मैंने सोचा "तो तुम भी आखिरकार धर्म के विनाशक ही हो।"

अब तक काफी शाम ढल चुकी थी। जैसे ही माओ ने वे घातक शब्द बोले मैंने आधा चेहरा छुपाया और जैसे कोई चीज लिख रहा होऊं इस तरह आगे झुका। मेरी कोशिश थी कि जो भय मैं महसूस कर रहा था, उसे वह भांप नहीं पाएं। वरना इससे उनका मुझमें विश्वास टूट गया होता। सौभाग्य से किसी कारणवश उस अवसर पर फुत्सोक वांग्याल हमारे बीच दुभाषिया नहीं था। यदि वह होता तो मुझे पूरा भरोसा है कि उसने मेरे विचार खोज निकाले होते क्योंकि हम रोज ही प्रत्येक बात पर विचार-विमर्श किया करते थे।

तो भी मैं लंबे समय तक अपनी भावनाएं नहीं छुपा पाया। सौभाग्य से माओ ने कुछ और मिनटों के बाद वह मुलाकात खत्म कर दी। जब वह हाथ मिलाने को खड़े हुए तो मैंने भारी राहत महसूस की। उनकी आंखें जीवन से भरपूर थीं और देर रात होने के बावजूद वह चौकस थे। रात की खामोशी में हम इकट्ठे बाहर गए। मेरी कार इन्तजार कर रही थी। उन्होंने मेरे लिए दरवाजा खोला और बंद किया। मैंने अन्तिम बार जब माओ को देखा तो वह बिना हैट या कोट के ठण्ड में बाहर खड़े हाथ हिला रहे थे।

भय और हैरानी असमंजस में बदल गए। उन्होंने मुझे इतना गलत कैसे समझा ? वह कैसे सोच सकते हैं कि मैं अपने अस्तित्व के रोम-रोम से धार्मिक नहीं था? उन्होंने अन्यथा किस कारण से सोचा होगा? यह मैं जानता था कि मेरी प्रत्येक हरकत रिकार्ड की जाती थी मैं कितने घंटे सोता हूं, प्रत्येक मीटिंग में मैने क्या कहा ? निस्संदेह मेरे व्यवहार की साप्ताहिक रिपोर्ट का विश्लेषण करा कर माओ को दिया गया होगा। ऐसा

होने से वह निश्चित ही यह ध्यान देने से नहीं चूके होंगे कि मैं प्रतिदिन चार घंटे प्रार्थना व मनन में व्यतीत करता था। और फिर, जितने समय में चीन में रहा, मैं अपने धार्मिक शिक्षकों से निर्देश लेता रहा। उन्हें यह भी पता होना चाहिए था कि मैं अपने आखिरी मठीय इम्तिहानों के लिए सख्त मेहनत कर रहा हूं जो अब छह या सात साल से अधिक दूर नहीं थे। मैं उलझा हुआ था।

इसकी एकमात्र संभावित व्याख्या यही थी कि उन्होंने वैज्ञानिक मामलों व भौतिक प्रगति में मेरी भारी रुचि का गलत अर्थ लगाया होगा। यह सच था कि मैं पीपुल्स रिपब्लिक की तरह तिब्बत का आधुनिकीकरण चाहता था और यह भी सच है कि मेरे दिमाग का रुझान मुख्यत: वैज्ञानिक है। सो यही हो सकता है कि

बौद्ध विचारधारा के अज्ञानवश माओ ने बुद्ध की इस शिक्षा को अनदेखा कर दिया कि जो धर्म का पालन करता है उसे स्वयं इसकी वैधता का परीक्षण करना चाहिए। यही कारण है कि मैंने आधुनिक विज्ञान की खोजों और सच्चाईयों का स्वागत किया है। शायद इसी से माओ यह समझ बैठे कि मेरा धार्मिक कार्यकलाप मेरे लिए सहारा या सुविधा से ज्यादा कुछ भी नहीं है। चाहे उसका कोई भी कारण हो, मैं अब जानता था कि उन्होंने मुझे पूरी तरह गलत समझा था।

अगले दिन मैं तिब्बत की वापसी यात्रा के लिए बीजिंग से चल दिया। तरक्की पिछले वर्ष से इतनी तेज थी कि किंघाई राजमार्ग पूरा हो चुका था। रास्ते में मैंने विभिन्न जगहों पर एक साथ दो या तीन दिनों के लिए रहने का अवसर उठाया ताकि मैं यथासंभव काफी ग्रामीणों से मिल सकूं और चीन में मेरे अनुभवों के बारे में कोई बात बता सकूं। यह भी कि भविष्य के लिए मुझे क्या उम्मीदें हैं। माओ के बारे में अपनी धारणा बदलने के बावजूद मैं अभी भी महसूस कर रहा था कि वह एक महान नेता और इससे उपर सच्चे व्यक्ति थे। वह धोखेबाज नहीं थे। इसलिए, मैं संतुष्ट था कि जब तक तिब्बत में उनके कर्मचारी उनका कहा मानें, बशर्ते

कि वह उन पर सख्त नियन्त्रण रखें, तो यह आशावादी होने का अच्छा कारण था। इसके अतिरिक्त, जहां तक मेरा संबंध था, सकारात्मक पहलू लेना ही जायज था। नकारात्मक होने में कोई फायदा नहीं था क्योंकि उससे तो स्थिति और भी बदतर हो जाती है। मेरे काफिले के कई लोग मेरे इस आशावाद में शामिल नहीं थे। उनमें से बहुत कम पर चीन का अच्छा प्रभाव पड़ा था और उन्हें शक था कि साम्यवादियों के कठोर तरीकों से तिब्बत का उपकार होगा। वे उस समय चीनी सरकार के गान कुंग नामक एक उच्चाधिकारी के बारे में फैली एक कहानी से भी बेचैन थे। यह अफवाह थी कि वह लू राउ-ची का आलोचक था और उसे बड़े भयावह तरीके से कत्ल कर दिया गया था।

अभी ज्यादा समय नहीं बीता था कि मैं खुद नए संदेह करने लगा। जब मैंने दूरस्थ पूर्वी तिब्बत के ताशीखेल की यात्रा की थी तो विशाल संख्या में लोग आए थे। हजारों लोग मुझसे मिलने व सम्मान देने आए थे। उनका महान समर्पण मेरा मर्म स्पर्श कर गया। यद्यपि कुछ समय बद मैं यह जानकर सुन्न रह गया कि चीनी अधिकारियों ने लोगों को यह बताया था कि मैं हफ्ते बाद पहुंचूंगा। वे तारीख के बारे में इसलिए झूठ बोले ताकि लोगों को मुझसे मिलने से रोक सकें। परिणामस्वरूप हजारों लोग तब पहुंचे जब मैं रवाना हो चुका था।

मेरी नाखुशी का एक और कारण था मेरी व्यक्तिगत सुरक्षा को लेकर चीनियों का पागलपन। जब मैंने अपने गृह नगर की यात्रा की तो उन्होंने जोर दिया कि मुझे अपने रसोइयों के अलावा किसी अन्य से भोजन नहीं स्वीकर करना चाहिए। इसका मतलब था कि मुझे लोगों द्वारा ली गई भेंट स्वीकार नहीं करनी थी। यद्यपि उनमें से कुछ तो मेरे परिवार के ही थे जो अभी भी ताक्तसेर में रहते थे। मानो ये सीधे-सादे समर्पित बेचारे लोग कभी दलाई लामा को जहर देने की बात सोचेंगे। मेरी मां बहुत ज्यादा बेचैन थी। उसे क्या पता वह उन्हें क्या कहे।

कम्युनिस्ट चीन में

और जब मैंने लोगों से जीवन यापन के बारे में पूछताछ करते हुए उनसे बात की तो उन्होने जवाब दिया " कम्युनिस्टों और चीन के पीपुल्स रिपब्लिक की मेहरबानी से हम बहुत खुश हैं" लेकिन उनकी आँखों में आंसू थे।

अपनी ल्हासा वापसी के रास्ते भर मैं यथासंभव बहुत से लोगों से मिला। चीन के विपरीत यह मुश्किल नहीं था। हजारों लोग अपने बूढ़ों और बीमारों को लेकर सिर्फ मेरी एक झलक पाने आये। साथ ही बहुत से चीनियों ने भी उन समूहों में भाग लिया। इससे मुझे उन्हें तिब्बती मानसिकता समझने की जरूरत पर बल देने की सलाह देने का मौका भी मिला। ऐसा करके मैंने यह पता लगाने का प्रयास किया कि कौन पार्टी मैम्बर है और कौन नहीं। अनुभव ने मुझे सिखा दिया था कि पार्टी मैम्बर कुल मिलाकर ज्यादा स्पष्टवादी थे।

तिब्बत में चीनी अधिकारियों का मेरे प्रति रवैया भी बहुत रोचक था। एक अवसर पर एक कर्मचारी बोला "चीनी लोग चेयरमैन माओ को उतना प्यार नहीं करते, जितना तिब्बती लोग दलाई लामा से करते हैं।" एक अन्य मौके पर एक गार्ड जो इधर-उधर बड़े क्रूर ढंग से कार्य कर रहा था, मेरी जीप के पास आया और पूछने लगा कि दलाई लामा कहां है। यह बताने पर कि मैं यहां हूं उसने टोप उतारा और आशीर्वाद मांगा। और जब मैंने चेंगदू छोड़ा तो कई चीनी कर्मचारी जो यात्राा भर मेरे साथ रहे थे, मुझे जाते देख रोने लगे। इसी प्रकार मेरी भावनाएं भी उनके प्रति गर्मजोशी की थीं। हमारे विचारों में अन्तर के बावजूद हमारे बीच मजबूत व्यक्तिगत संबंध विकसित हो गए थे।

कई महीनों बाद अपने देश तिब्बत के लोगों को देखकर मुझे उनके व उनके चीनी प्रतिरूपों के बीच अन्तर को नए सिरे से देखने को मिला। शुरू में तो आप उनके चेहरे की तुलना करके ही बता सकते हैं कि तिब्बती ज्यादा खुश थे। मैं महसूस करता हूं कि यह विभिन्न सांस्कृतिक तथ्यों के कारण था। पहली बात तो जमींदार व दास के बीच संबंध चीन की अपेक्षा काफी बेहतर थे और गरीबों के लिए स्थितियां बहुत कम कठोर थीं। दूसरी बात तिब्बत में पांव बांधने या बधिया कर देने जैसी नृशंसता बिल्कुल नहीं थी जो, पिछले दिनों तक पूरे चीन भर में फैली थी। मैं सोचता हूं कि चीनी

लोग यह तथ्य भूल गए थे। इसलिए वे हमारी सामंती व्यवस्था को अपनी नकल मानते थे।

ल्हासा पहुंचने से थोड़ा पहले मैं चाउ एन-लाई से मिला जो उस समय भूकंप से ग्रस्त खम के एक इलाके में आए थे। यह एक उत्सुकता भरी मुलाकात थी जिसमें उन्होंने धर्म के बारे में कुछ सकारात्मक बातें कहीं। मैं अभी भी हैरान हूं कि उन्होंने ऐसा क्यों किया क्योंकि यह उनके चरित्र के विरुद्ध बात थी। शायद वह माओ के निर्देश पर बोल रहे थे और हमारी अन्तिम मुलाकात में हुए नुकसान की भरपाई करने की कोशिश कर रहे थे।

-6-

नेहरू जी को सदमा

जब मैं 1955 की जून में वापस ल्हासा पहुंचा तो हजारों लोगों ने मेरा स्वागत किया। मेरी लंबी अनुपस्थिति से तिब्बतियों को काफी दुःख था और बड़ी राहत थी कि अब दलाई लामा उनके बीच वापस आ गया है। यह मेरे लिए भी राहत थी। स्पष्टतः चीनी पूर्वी तिब्बत की अपेक्षा यहां ज्यादा नियंत्रित व्यवहार कर रहे थे। चीन से वापसी यात्रा में मैंने कई आम लोगों के अलावा स्थानीय सरदारों के असंख्य शिष्टमंडलों से भी मुलाकात की थी जिन्होंने प्रार्थना की थी कि मैं उनके ग्रामीण क्षेत्रों में नीति बदलने के लिए हमारे नए स्वामियों से कहूं।

स्वयं. शहर में भी मैंने पाया कि चीजें अपेक्षाकृत सामान्य थीं, सिवा इसके कि इतिहास में पहली बार कारें तथा ट्रक ज्यादा संख्या में शहर को शोर व प्रदूषण दे रहे थे। भोजन सामग्री की हालत भी सुधर गई थी। चूंकि अब मैं वापस आ गया था, इसलिए आशावाद भी जागा। रही मेरी बात, मैंने महसूस किया कि चीनी अधिकारियों के बीच मेरी हैसियत माओ द्वारा मुझमें विश्वास के सार्वजनिक प्रदर्शन से बढ़ी होगी और मैं भविष्य के लिए

सावधानी से आशावादी रहा।

तो भी मैं सजग था कि तिब्बत से बाहर दुनिया ने हमसे मुख मोड़ लिया है। इससे बदतर बात यह थी कि हमारे सबसे करीबी पड़ोसी और आध्यात्मिक गुरु भारत ने भी चुपचाप तिब्बत पर चीनी दावे को मान लिया था। अप्रैल 1954 में नेहरू ने एक नई चीनी-भारतीय संधि पर हस्ताक्षर किए थे जिसमें पंचशील नामक एक ज्ञापन शामिल था। इसमें भारत और चीन इस बात पर सहमत हो गए कि किसी भी हालत में वे एक दूसरे के 'आन्तरिक' मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इस सन्धि के अनुसार तिब्बत चीन का एक अंग था।

चीनी अधिकारियों व मेरे तिब्बती प्रशासन के बीच सुविधाजनक सह-अस्तित्व के दशक के दौरान हमने 1955 की गर्मियों का निस्सदेह सर्वोत्तम अनुभव करना था। लेकिन तिब्बत में गर्मियां कुछ समय ही रहती हैं और ज्यादा हफ्ते नहीं गुजरे थे कि खम और आम्दो में चीनी अधिकारियों की गतिविधियों के बारे में गड़बड़ी वाली खबरें मेरे कानों तक पहुंचने लगीं।

नेहरू जी को सदमा

वहां के लोगों को बख्शना तो दूर, 'सुधार' के सभी तरीकों के लिए एक तरफा दबाव डालना शुरू कर दिया गया। घरों, जमीनों और पशुओं पर नए कर लादे गए तथा जले पर नमक छिड़कने के लिए मठीय संपत्ति पर भी कर निर्धारण किया गया। बड़ी जागीरें जब्त कर ली गई और जमीनों का स्थानीय चीनी कैडरों ने अपनी खुद की राजनैतिक विचारधारा के अनुसार पुनः वितरण किया। जमींदारों को सरेआम पंक्तिबद्ध किया गया और उनके 'जनता के विरूद्ध अपराधों के लिए उन्हें सजा दी गई। (मुझे भय है कि कइयों को मार भी दिया गया। साथ ही चीनी अधिकारियों ने उन हजारों घुमन्तू बंजारों की धर-पकड़ शुरू कर दी जो इन उर्वर इलाकों में विचरते रहते थे। हमारे नए स्वामियों के लिए खानाबदोशी प्रतिकूल थी

क्योंकि इससे उन्हें 'वहशीपन' की बू आती थी । वास्तव में 'तिब्बती' के लिए एक आम चीनी शब्द 'मांत्जे' का अर्थ भी 'वहशी' ही है।

यह खबर भी चिन्ता पैदा कर देने वाली थी कि मठों के काम में भारी हस्तक्षेप हो रहा है तथा स्थानीय जनता में धर्म के विरुद्ध जहर घोला जा रहा है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों को सख्त सजा दी जाती व सरेआम अपमानित किया जाता। उदाहरण के लिए उन्हें कीट पतंगों, चूहों, पक्षियों व सभी प्रकार के जीवों के नाश कार्यक्रम में शामिल होने को मजबूर किया जाता। हालांकि चीनी अधिकारी जानते थे कि किसी भी रूप में जान लेना बौद्ध शिक्षाओं के विरूद्ध है। यदि वे इन्कार करते तो उन्हें पीटा जाता। इसी बीच ल्हासा में चीनी यूं चलते रहे मानो कुछ भी गलत नहीं था। यहां राजधानी में धर्म में दखल न देकर वे साफ तौर पर उम्मीद कर रहे थे कि मैं सुरक्षा की एक झूठी भावना से तुष्ट रहूंगा जबकि अन्य जगहों पर वे मनमानी करते रहेंगे।

1955 के अन्त में माओ के सैन्य कमीशन द्वारा शासन की जगह "प्रिपेरेटरी कमेटी फॉर आटोनोमस रिजन आफ तिब्बत" (तिब्बत के स्वायत्त क्षेत्र के लिए तैयारी समिति) पी.सी.ए.आर.टी. के उद्घाटन की तैयारियां शुरू की गई। परन्तु ज्यों ही पतझड़ सर्दी में बदला, पूर्व से और बदतर खबरें आने लगीं। खंपाओं ने, जो बाहरी हस्तक्षेप के अभ्यस्त नहीं थे, चीनी तरीकों को सुहृदयता से नहीं लिया। अपनी सभी चीजों में से जिसे वे सबसे ज्यादा मान देते थे, वह था उनके व्यक्तिगत हथियार। इसलिए जब स्थानीय कैडरों ने उनके व्यक्तिगत हथियार जब्त करना शुरू किया तब इन खंपाओं ने हिंसात्मक प्रतिक्रिया की। सर्दियों के पूरे महीनों में स्थिति तेजी से बिगड़ती गई। ऐसा होने पर चीनी दमन से शरणार्थी ल्हासा में अपने साथ क्रूरता और अपमान की कहानियां लेकर आने शुरू हो गए। चीनियों ने खंपाओं के प्रतिरोध को बुरी तरह निबटा। न केवल सरेआम पिटाई की गई व फासियां दी गई बल्कि अक्सर यह सजा उन्हें अपने बच्चों के माध्यम से ही दिलवाई जाती थी। सार्वजनिक आलोचना का अभियान भी शुरू किया गया। इस तरीके का चीनी कम्युनिस्टों द्वारा समर्थन किया जाता है। 'अपराधी' को रस्सियों से इस तरह कसकर बांध कर खींचा जाता है कि कन्धे उतर जाते हैं।

आज़ाद शरणार्थी

इस प्रकार जब आदमी पूरी तरह असहाय हो जाता है और दर्द से चीखने लगता है तब बच्चों व औरतों समेत आम जनता को उन्हें और चोट पहुंचाने के लिए बुलाया जाता है। प्रकटतया चीनियों का मानना है कि इस सबसे वे जनता के दिमाग बदल सकते हैं और इससे राजनैतिक पुनःशिक्षा की प्रक्रिया में भी सहायता मिलती है।

1956 की शुरुआत में 'लोसार' के दौरान, मेरा नेचुंग भविष्यवक्ता से बड़ा मनोरंजक सामना हुआ जिसने घोषणा की थी कि 'इच्छा पूर्ण करने वाले जवाहर (वह नाम जिससे दलाई लामा तिब्बतियों में जाना जाता है) की ज्योति पश्चिम में चमकेगी। मैंने इसका अर्थ यह समझा कि उस वर्ष भारत की यात्रा करूंगा। मैं अब देखता हूं कि भविष्यवाणी का इससे भी गहरा भाव निहित था।

चिन्ता का गम्भीर विषय था खम और आम्दो के शरणार्थी जो पिछले दिनों ल्हासा पहुंचे थे। शहर उफन रहा था। पहली बार नव वर्ष समारोहों में प्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक गंध थी। राजधानी भर में चीनियों की निन्दा के पोस्टर लगे थे और इश्तहार बांटे गए। लोगों ने आम सभाएं कर्की और अपने लोकप्रिय नेता चुने। तिब्बत में ऐसी बातें इससे पहले कभी नहीं देखी गयी थीं। स्वामविक तौर पर चीनी क्रोधित हो गए। उन्होंने शीघ्र तीन आदमी गिरफ्तार कर लिए जिनके बारे में उनका कहना था कि वे लोकतंत्र विरोधी अपराधों को प्रेरित करने के जिम्मेवार हैं। लेकिन इससे उनके शासन के प्रति लोकप्रिय प्रतिक्रिया में कमी नहीं हुई।

मोन्लम त्यौहार के दौरान आम्दो व खम के व्यापारी वर्ष में बाद में किए जाने वाले समारोह से त्रि-चेन्मो के लिए धन इकट्ठा करने लगे। इसमें दलाई लामा को लंबा जीवन व समृद्धि देने की प्रार्थना करते हुए तिब्बत के संरक्षक आराध्यों को अर्पण किया जाता है। उनकी धन उगाही इतनी सफल रही कि इस अवसर पर मुझे कीमती रत्नों से जड़ा एक स्वर्ण सिंहासन दान में दिया गया। यद्यपि मुझे बाद में पता लगा कि इस गतिविधि का एक पहलू और था। इसके कारण खम व आम्दो के

पारंपरिक संयुक्त नाम 'चार नदियां, छह श्रृखलाएं' यानि 'चुशी गांगद्रुक'' नामक गठजोड़ बना। अन्ततः इस संगठन ने एक व्यापक गुरिल्ला आन्दोलन चलाया।

मोन्लम के बाद आने वाले पी.सी.ए.आर.टी. के उद्घाटन, जिसका मुझे चेयरमैन होना था, की तैयारियां शुरू हो गई। कुछ ही महीनों में तिब्बती मजदूरों का प्रयोग करके चीनियों ने तीन विशाल भवन बना लिए थे। आने वाले चीनी कर्मचारियों के लिए एक विश्रामगृह, एक स्नानगृह और एक म्युनिसिपल हॉल। यह तीसरा भवन एक आधुनिक, लहरियादार लोहे की छत वाला दो मंजिला भवन था, जिसमें एक चबूतरे के सामने बारह सौ व ऊपर गैलरी में तीन सौ लोग बैठ सकते थे। यह पोताला के बिल्कुल सामने था।

1956 में उपप्रधानमंत्री मार्शल चेन यी व पीपुल्स रिपब्लिक के विदेश मंत्री अपनी पत्नी व पेइचिंग से एक बड़े प्रतिनिधिमंडल समेत चेयरमैन माओ का प्रतिनिधित्व करने आये। मुझे अपनी चीन यात्रा से चेन यी की याद आ गई। यूं तो वह बहुत अच्छा आदमी था मगर, वक्ता के रूप में उसकी प्रसिद्धि बड़ी भयानक थी।

नेहरू जी को सदमा

एक बार उसने पूरे सात घण्टे का भाषण दे डाला था। मार्शल ल्हासा में टाई बांधकर आया था, जिस पर उसे बहुत गर्व था। हालांकि यह नहीं लगता था कि वह इसे बांधना जानता है। और जो कमीज वह पहने था, वह बड़ी मुश्किल से उसकी तोंद को संभाल पा रही थी। लेकिन उसे इनकी कोई चिन्ता न थी। वह मजाकिया, आराम का शौकीन तथा आत्मविश्वास वाला था। उसके ल्हासा पहुंचने के साथ ही प्रभावशाली दिखावा शुरू हो गया। चीनियों ने उसके मनोरंजन का महंगा प्रबन्ध किया था और उसके सम्मान में कई दावतें व भाषण रखे गए। जब नए म्युनिसिपल हॉल में पी.सी.ए.आर.टी. का औपचारिक उद्घाटन हुआ तब भवन को चेयरमैन माओ और उसके मुख्य सहयोगियों को दर्शाते हुए

बैनरों व झण्डों से सजाया गया था। एक चीनी सैन्य धुन बजी और साम्यवादी गीत गाये गए। यह सब बहुत समारोहिक था। चेन यी ने तब एक अपेक्षाकृत छोटा भाषण दिया जिसमें उसने घोषणा की कि "तिब्बत को इसकी पिछड़ी स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए 'आवश्यक सुधार' लागू किया जायेगा हुए कि तिब्बतियों को 'उन्नत' चीनी राष्ट्रीयता के स्तर तक लाने के लिए यह जरूरी है। उसके बाद चीनी व तिब्बती दोनों द्वारा ही, समाजवाद व पार्टी की प्रशंसा करते हुए और तिब्बत में चीनियों की उपस्थिति की प्रशंसा करते हुए चापलूसी भरे भाषणों की श्रृंखला शुरू हो गई। स्वयं मुझे भी एक भाषण देना पड़ा, विशेषकर यह जोड़ते हुए कि मैं आश्वस्त हूं कि लोग जिस रफ्तार से चाहेंगे उस से सुधार लागू करके चीनी अपने कार्यभार का सम्मान करेंगे और पूजा की आजादी देंगे। यह समझाते

पी.सी.ए.आर.टी. के संविधान में प्रशासन में वित्त, शिक्षा, संचार, औषध, धर्म व सुरक्षा इत्यादि विभिन्न नये सरकारी विभागों के सृजन की बात थी। इनका संचालन तिब्बतियों को करना था। चाम्दो का प्रशासन भी ल्हासा को लौटाया जाना था। संयुक्त रूप से उन्होंने तथाकथित 'तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र' बनाया। शेष खम व सारा आम्दो बीजिंग के सीधे नियन्त्रण में रहना था। कमेटी स्वयं भी इक्यावन क्षेत्रीय प्रतिनिधियों से और सिर्फ पांच चीनियों से बननी थी। साथ ही काशाग व राष्ट्रीय अंसेबली बने रहने थे, यद्यपि यह स्पष्ट था कि चीनी अन्ततः पारंपरिक तिब्बती सरकार के सभी चिन्ह खत्म करना चाहते थे और उसे अर्थहीन बनाना चाहते थे।

पी.सी.ए.आर.टी. कागजों में स्वायत्ता की तरफ महत्वपूर्ण बढ़त का वचन दे रही थी लेकिन सच्चाई इससे बहुत भिन्न थी। जब चेन यी ने नियुक्तियों की घोषणा की तो पता लगा कि इन इक्यावन प्रतिनिधियों में से, जिनमें से चुनाव एक का भी नहीं हुआ था, सिर्फ मुट्ठी भर लोगों को छोड़ बाकी सभी पद चीनियों द्वारा मनोनीत थे। उन्हें अपनी सत्ता व संपत्ति तब तक रखने का अधिकार था जब तक वे विरोध का स्वर न निकालें। दूसरे शब्दों में यह सब नाटक था।

तो भी कुछ हैरानियां भी थीं। इनमें से एक थी नव-सृजित सुरक्षा विभाग के सदस्य के रूप में लोबसंग सामतेन की नियुक्ति।

आज़ाद शरणार्थी

इतना दयालु और भला व्यक्ति होने के नाते, उनके अलावा कोई और इस पद के इतना नाकाबिल नहीं हो सकता था। मैं उनके चेहरे के हाव भाव कभी नहीं भूल सकता था। वह अपने चीनी सहयोगी से मिलकर आ रहे थे। सब ठीक ठाक चल रहा था जब तक वह आदमी लोबसंग सामतेन (जो थोड़ी चीनी भी बोलता था) की तरफ नहीं मुड़ा और पूछा कि "उसकी हत्या कर दो" को तिब्बती में क्या कहते हैं। उस पल तक मेरा भाई उस अफसर को बहुत अच्छा व सीधा सच्चा समझ रहा था। लेकिन इस प्रश्न से वह भौंचक्का रह गया। किसी पतंगे को भी मारने का विचार उसके दिमाग से बहुत दूर था। वह बोल नहीं पा रहा था। उसी शाम जब वह नोर्बुलिंग्का पहुंचे तब उनके चेहरे पर घबराहट दिख रही थी। उन्होंने पूछा "अब मैं क्या करूं?" यह कहानी चीनी और तिब्बती दृष्टिकोणों के बीच अन्तर की एक और तस्वीर है। एक के लिए मानव को मारना जीवन का तथ्य था। दूसरे के लिए यह अविचारणीय।

पी.सी.ए.आर.टी. के उद्घाटन के शीघ्र बाद मैंने सुना कि खम में चीनी अधिकारियों ने सभी स्थानीय नेताओं को अपने साथ मिलाने की कोशिश की थी। ऐसा उन्होंने उन सबको इकट्ठा बुलाकर "लोकतान्त्रिक सुधारों" की स्थापना, जिसका विशेषकर अर्थ था कई हजार कृषि सहकारिताओं जिसे गार-चू और कर्जे क्षेत्रों के एक लाख परिवारों को मिलाकर बनाया जाना, पर वोट डालने को कहा। जब मैंने और मेरी केबिनेट ने उन्हें सहमति दे दी तो जमा किए गए 350 लोगों में से 200 सुधारों के साथ चलने को तैयार हो गए। चालीस ने कहा कि वे इन्हें सीधे ही मानने को तैयार हैं और शेष ने कहा कि वे ऐसे तथा कथित सुधार कभी नहीं चाहेंगे। उसके बाद, घर जाने की आज्ञा दी गई।

एक महीना बाद, मत विरोधियों को पुनः बुलाया गया। इस बार उन्हें जोमदा जोंग नामक किले में, जो चामदो के उत्तर-पूर्व में था, बुलाया गया था। ज्योंही वे अन्दर पहुंचे, भवन को 5 हजार चीनी जवानों ने घेर लिया और बन्धकों को बताया गया कि उन्हें तब तक नहीं छोड़ा जायेगा जब तक

कि वे सुधारों को स्वीकार करने को सहमत नहीं होते और वचन नहीं देते कि वे इनके लागू करने में सहायता करेंगे। दो सप्ताहों की कैद के बाद, खंपाओं ने हाथ खड़े कर दिए। और कोई चारा भी तो नहीं दिख रहा था। उस रात किले की सुरक्षा घटा दी गई। मौका पाकर उनमें से प्रत्येक खिसक गया और वे पहाड़ियों में जा छिपे। एक ही झटके में चीनियों ने इन खंपाओं को अपना दुश्मन बना लिया था, जिन्होंने आगामी कई वर्षों में उनके लिए कई कठिनाइयां पैदा कीं।

जोमदा ज़ोंग घटना लगभग उन्हीं दिनों में हुई जिन दिनों मुझे खम के करजे में चीनी अधिकारियों द्वारा प्रकाशित अखबार की एक प्रति दी गई। मुझे देखकर यह विश्वास ही नहीं हुआ कि इसमें कटे हुए सिरों की कतार का एक फोटो था। शीर्षक कुछ इस आशय का था कि ये सिर सभी "प्रतिक्रियावादी अपराधियों" के थे। यह चीनियों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों का पहला ठोस सबूत था, जो मैंने देखा था। उसके बाद मैंने जाना कि हमारे नए स्वामियों के व्यवहार के बारे में जो भयावह बातें सुनी थीं, सच थीं।

नेहरू जी को सदमा

चीनियों ने अपनी तरफ से यह जानकर कि अखबार का जनता पर काफी बुरा प्रभाव पड़ रहा है, इसे वापिस लेने की कोशिश की। इसकी प्रतियां तक खरीदने की कोशिश की गई।

यह नई सूचना पाकर व यह जानकर कि पी.सी.ए.आर.टी. तो दिखावे से ज्यादा कुछ नहीं है, मैं हैरान था कि क्या भविष्य के लिए भी कोई उम्मीद है। मेरे पूर्वाधिकारी की भविष्यवाणी पूरी तरह सत्य सिद्ध होनी शुरू हो गई थी। मेरा दिल डूब रहा था। यद्यपि बाहरी तौर पर मेरा जीवन वैसा ही चल रहा था। मैं प्रार्थना, मनन करता और अपने शिक्षकों के अधीन कड़ा अध्ययन करता। मैंने प्रायः सभी धार्मिक त्यौहारों और उत्सवों में भाग लेना तथा समय-समय पर शिक्षा लेना और देना जारी रखा। कभी-कभार मैं यात्रा करने के अपने अधिकार के तहत विभिन्न मठों की यात्रा करता।

ऐसे ही एक भ्रमण पर में भूतपूर्व राजप्रतिनिधि की गद्दी रेलिंग मठ गया जो ल्हासा के उत्तर में कुछ दूरी पर था। विदा होने से थोड़ा पहले मुझे पहले से ही निर्वासन में रह रहे एक महत्वपूर्ण तिब्बती का पत्र मिला। परिस्थितियां ल्हासा में इतनी गंभीर हो गई थी कि मैंने संदिग्ध महसूस करना शुरू कर दिया और इसे खोलने की अपेक्षा, मैंने इसे अपने पास रखा और रेलिंग के लिए रवाना होने तक रात को इसे तकिए के नीचे सावधानीपूर्वक रखे रखा।

शहर से बाहर निकलने में और चीनी अधिकारियों के साथ काम करने के पागलपन व साथ ही उनके द्वारा किए गए नुकसान को रोकने की कोशिश करने से दूर जाने में बड़ी राहत थी। हमेशा की तरह मैं यथासंभव लुक छिपकर व गुप्त भेष में रहकर यात्रा करता रहा। इस तरीके से मैं स्थानीय लोगों से मिल पाता और सुन पाता कि उन्हें क्या कहना है। एक विशेष अवसर पर रेलिंग के पास, मैं एक गड़रिये से बातें करने लगा। उसने पूछा "तुम कौन हो?" वह याक जैसे उलझे बालों वाला एक लंबा तगड़ा आदमी था। मैंने उत्तर दिया "दलाई लामा का नौकर" हमने उसके वहां ग्राम्य जीवन और भविष्य के प्रति उसकी उम्मीदों और डर की बातें कीं। उसने चीनियों के बारे में बहुत कम सुना था और कभी ल्हासा नहीं गया था। वह हल्की बेकार भूमि से अपनी आजीविका कमाने में इतना व्यस्त था कि उसे चिन्ता ही नहीं थी कि शहरों में व उससे दूर क्या हो रहा है।

उसके सीधेपन के बावजूद मैं यह जानकर बहुत खुश था कि उसकी गहरी धार्मिक आस्था है और यह भी कि इस दूरस्थ क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म समृद्ध है। वह प्रकृति और वातावरण के अनुसार सामान्य कृषक जीवन बिता रहा था लेकिन, उस दुनिया में बहुत कम रूचि के साथ जो उसके उस समय के क्षितिज से दूर थी। मैंने उसे स्थानीय सरकारी कर्मचारियों के साथ उसके अनुभवों पर सवाल पूछे। उसने बताया कि उनमें ज्यादातर निष्पक्ष हैं यद्यपि उनमें से काफी अफसरशाह हैं। मैंने बातचीत का बहुत आनन्द लिया। इसने मुझे लाभदायक अन्तर्दृष्टि दी। इनसे भी अधिक मैंने जाना कि यह आदमी शिक्षा से पूरी तरह वंचित होने के बावजूद संतुष्ट है और यद्यपि उसके पास थोड़ी सी भी भौतिक सुविधा नहीं थी तो भी उसे पूरा ज्ञान था कि उसकी जिन्दगी वैसी ही रहेगी जैसी कि उसके असंख्य पूर्वजों की रही है और,

निस्संदेह उसके बेटे व पोतों के लिए भी वैसी ही बनी रहेगी। साथ ही मैंने जाना कि दुनिया का यह दृष्टिकोण कोई ज्यादा उचित नहीं है कि तिब्बत अपने शान्तिपूर्ण अकेलेपन में बहुत देर अस्तित्व में नहीं रह सकता, चाहे साम्यवादी चीनियों के साथ कोई भी परिणाम हो। आखिरकार जब हम विदा हुए तो ऐसा लगा कि हम पक्के दोस्त थे।

लेकिन कहानी जारी है। ऐसा हुआ कि अगले दिन मुझे रास्ते में पड़ने वाले अगले गांव में जनता को संबोधित करने व उन्हें आशीर्वाद देने हेतु बुलाया गया। जुगाड़ करके मेरे लिए एक सिंहासन बनाया गया और सैकड़ों लोग जमा हुए। शुरू में तो सब ठीक चला लेकिन इधर उधर देखने पर मैंने कल वाले दोस्त को श्रोताओं में चेहरे पर घबराहट के भाव लिए देखा। वह अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर पा रहा था। मैं उसे देखकर मुस्कुराया मगर वह सूनी निगाहों से घूरता रहा। उसको बुद्ध बनाने पर आज मुझे खूब अफसोस हो रहा था।

जब मैं वास्तव में रेलिंग मठ पहुंचा और इसकी अति महत्वपूर्ण प्रतिमा के सामने सम्मान प्रकट करने आया तो मुझे याद आया कि मैं बिना किसी खास कारण के बहुत ज्यादा भावुक हो गया था। मैंने इस जगह के साथ एक शक्तिशाली जुड़ाव महसूस किया। उसके बाद से मैं अक्सर ही रेलिंग में एक कुटिया बनाने और अपनी बाकी जिन्दगी वहां बिताने के बारे में सोचता रहा।

1956 की गर्मियों के दौरान एक घटना घटी जो मेरे लिए ज्यादा नाखुशी लेकर आई। 'खम्पा-आम्दोवा स्वतन्त्रता सेनानी' गठजोड़ ने कांफी सफलता प्राप्त करनी शुरू कर दी। मई जून तक बहुत ज्यादा पुलों के साथ-साथ चीनी सैन्य सड़क के असंख्य हिस्से नष्ट कर दिए गए। परिणामस्वरूप चीनी सेना ने 40 हजार और सैनिक लाने की योजना

बनायी। और इसी का मुझे भय था। मुकाबला चाहे कितना ही सफलतापूर्वक क्यों न हो आखिर में चीनी सिर्फ ज्यादा संख्या और श्रेष्ठ हथियारों के बल पर जीत सकते थे। मैं खम के लिथांग में मठ पर हवाई बमबारी का अनुमान नहीं लगा पाया था। जब मैंने इसके बारे में सुना तो मैं रो पड़ा। मैं सोच भी नहीं सकता था कि मानव आपस में ऐसी क्रूरता कर सकते थे।

इस बमबारी के बाद शुरू हुआ उन औरतों और बच्चों का निर्दयी उत्पीड़न जिनके पिताओं और पतियों ने प्रतिरोध आंदोलन में भाग लिया था। विश्वास नहीं होता कि भिक्षुओं और भिक्षुणियों का घृणापूर्ण दुरूपयोग किया गया। गिरफ्तारी के बाद इन सीधे-साधे धार्मिक व्यक्तियों को सरेआम एक दूसरे का कौमार्य भंग करने और लोगों की हत्या करने को भी मजबूर किया गया। मुझे मालूम नहीं था कि क्या करूं ? मगर कुछ न कुछ तो मुझे करना ही था। मैंने तुरन्त जनरल चिआंग कुओ-हा के साथ एक मुलाकात की मांग की। उसे मैंने बता दिया कि मैं स्वयं चेयरमैन माओ को पत्र लिखने की सोच रहा हूं। मैंने पूछा कि "यदि यही आपका व्यवहार है तो आप तिब्बतियों से चीनियों पर विश्वास की उम्मीद कैसे कर सकते हैं?" मैंने उसे साफ-साफ शब्दों में बता दिया कि उनके लिए ऐसा काम करना बेहद गलत था। लेकिन इससे सिर्फ विवाद की शुरूआत ही हुई।

नेहरू जी को सदमा

मेरी आलोचना 'मातृभूमि' का अपमान थी। चीन तो सिर्फ मेरी जनता को सुरक्षा और सहयोग देना चाहता था। यदि मेरे देश के कुछ लोग सुधारों को नहीं चाहते ऐसे सुधार जो बड़े समूह का फायदा करेंगे और उन्हें शोषण से बचाएंगे तब तो वे सजा पाने के अधिकारी हैं। उसके तर्क बेहूदा थे। मैंने उसे बता दिया कि इससे निर्दोष जनता के उत्पीड़न का किसी तरह औचित्य नहीं बनता, उन पर हवाई बम गिराने की बात तो दूर ठहरी।

यह निस्संदेह ही निरार्थक कसरत थी। जनरल अड़ा हुआ था। मेरी

एकमात्र उम्मीद थी कि चेयरमैन माओ देखेंगे कि उनके अधीनस्थ अधिकारी उनके निर्देशों की अवज्ञा कर रहे हैं।

मैंने सीधे ही एक खत भेज दिया। कोई जवाब नहीं आया। इसलिए मैंने सरकारी माध्यम से एक और खत भेजा। साथ ही मैंने फुत्सोक वांग्याल को तीसरा खत व्यक्तिगत रूप से माओ को भिजवाने को मनाया। लेकिन यह भी बिना रसीद आए चला गया। ज्यों-ज्यों हफ्ते गुजरते गए और मुझे फिर भी बीजिंग से कोई जवाब न मिला तो मैंने पहली बार वास्तव में ही चीनी नेतृत्व की मंशा पर शक करना शुरू कर दिया। इसने मुझे हिला दिया। मेरी चीन यात्रा के बाद और जो नकारात्मक प्रभाव मुझ पर पड़े थे उनके बावजूद भी कम्युनिस्टों के प्रति मेरा दृष्टिकोण अभी भी मूलतः सकारात्मक ही था। यद्यपि अब मैं चेयरमैन माओ के शब्दों को इन्द्रधनुष की तरह देखने लगा था सुन्दर मगर अर्थहीन ।

फुत्सोक वंग्याल पी.सी.ए.आर.टी. के उद्घाटन के समय ल्हासा पहुंच चुका था। मैं उसे दोबारा मिलकर बहुत खुश हुआ। वह हमेशा साम्यवाद के प्रति प्रतिबद्ध था। अप्रैल समारोहों के बाद वह कुछ महत्वपूर्ण चीनी कर्मचारियों के साथ बाहरी जिलों की यात्रा पर गया। वापस आने पर उसने मुझे एक मुग्ध कर देने वाली कहानी सुनाई। दूरस्थ कृषि समुदाय में रह रहे एक किसान से एक उच्च चीनी कर्मचारी ने पूछा था कि वह नई शासन पद्धति के बारे में क्या सोचता है? आदमी ने जवाब दिया कि वह बिल्कुल खुश है " सिवा एक नई चीज के। यह नया कर है न।" कर्मचारी ने पूछा "कौन सा नया कर ?" उसने कहा "तालियां बजाने का कर। जब कभी कोई चीनी अफसर यात्रा पर आता है तब हम सभी को मजबूरन आना पड़ता है और तालियां बजानी पड़ती हैं।"

मैंने हमेशा महसूस किया कि जब तक फुत्सोक वांग्याल में चेयरमैन माओ का विश्वास है, तिब्बत के लिए उम्मीद है। जब वह एक बार फिर बीजिंग के लिए रवाना हो चुका तो मैने जनरल चिआंग चिन वू से प्रार्थना की कि उसे पार्टी सचिव के रूप मे तिब्बत में तैनात किया जाये। पहले-पहले तो सैद्धान्तिक तौर पर मान लिया गया लेकिन काफी प्रतीक्षा के बावजूद कोई उत्तर नहीं आया।

1957 के आखिर में एक चीनी कर्मचारी ने मुझे सूचित किया कि

फुत्सोक वांग्याल अब तिब्बत नहीं आयेगा क्योंकि, वह खतरनाक आदमी है। मैं यह सुनकर हैरान रह गया क्योंकि मैं जानता था कि चेयरमैन माओ उसकी काफी इज्जत करता है। कर्मचारी ने कई कारण बताये। उनमें प्रथम और सबसे प्रधान तो यही था कि

आज़ाद शरणार्थी

ल्हासा आने से पहले, जब वह खम में रह रहा था तो उसने एक अलग तिब्बती कम्युनिस्ट पार्टी का गठन किया था जिसकी सदस्यता चीनी राष्ट्रीयता वालों के लिए नहीं थी। इस अपराध के लिए उसे पदानवतं कर दिया गया है और तिब्बत लौटने से रोक दिया गया है। मुझे यह सुनकर अफसोस हुआ। और अगले वर्ष यह सुनकर और उदास भी हुआ कि मेरे वृद्ध दोस्त को पद छीनकर बन्दी बना लिया गया है। अन्ततः वह जेल गया जहां वह 1970 के दशक के अन्त तक सरकारी रूप से संज्ञाविहीन रहा। यह सब उसके सच्चे व समर्पित कम्युनिस्ट होने के बावजूद हुआ, जैसा कि हर कोई जान सकता है। इससे मुझे भान हुआ कि चीनी नेता सभी के लिए बेहतर दुनिया को समर्पित सच्चे मार्क्सवादी नहीं हैं बल्कि वास्तव में बहुत ज्यादा राष्ट्रवादी हैं। दरअसल ये लोग तंग-दिमाग मतान्धों का समूह था और ये चीनी अन्ध देशभक्त साम्यवादियों का दिखावा करने वालों से ज्यादा कुछ नहीं थे।

फुत्सोक वांग्याल अभी भी जिन्दा है। यद्यपि अब वह बहुत बूढ़ा हो चुका है। उसके मरने से पहले मैं उससे एक बार फिर मिलना बहुत ज्यादा पसंद करूंगा। मैं आज भी उसका बुजुर्ग अनुभवी तिब्बती कम्युनिस्ट के रूप में खूब सम्मान करता हूं। चीन के वर्तमान अधिकारी इसके प्रति सजग हैं। मुझे अभी भी उम्मीद है कि हम शायद दोबारा मिल पायें।

1956 के बसन्त के दौरान द्रोमो के पार भारत के साथ हमारी सीमा के साथ लगे सिक्किम के महाराज कुमार ल्हासा पधारे। वह बड़े कानों वाला प्रसन्नचित, लंबा, खामोश, भद्र और शान्त व्यक्ति था। वह अपने साथ भारतीय महाबोधि सोसायटी की ओर से, जिसके वे अध्यक्ष थे एक अद्भुत खबर लेकर आए, जो लिफाफे में थी। संगठन जो उप-महाद्वीप भर के

बौद्धों का प्रतिनिधित्व करता है, भगवान बुद्ध की 2500वीं जयन्ती के अवसर पर बुद्ध जयन्ती में शामिल होने के लिए मुझे आमंत्रित कर रहा था।

मैं खुशी से झूम उठा। हम तिब्बतियों के लिए भारत वासियों का देश 'आर्यभूमि' है। मैं जिन्दगी भर वहां की तीर्थयात्रा को तरसता रहा था। यह वह जगह थी जहां जाने की मुझमें सबसे ज्यादा चाह थी। और फिर भारत भ्रमण मुझे पण्डित नेहरू व महात्मा गांधी के अन्य उत्तराधिकारियों से बातचीत करने का मौका उपलब्ध करा सकता था। मैं भारतीय सरकार से यह चाहकर संपर्क बनाना चाहता था कि देख सकूं कि लोकतन्त्र किस तरीके से काम करता है। यद्यपि सम्भावना यह भी थी कि शायद चीनी मुझे न जाने दें मगर मुझे तो कोशिश करनी थी। इसलिए मैं यह पत्र जनरल फान मिंग के पास ले गया।

दुर्भाग्यवश, स्थानीय चीनी अधिकारियों में फान मिंग को मना लेना दूर की कौड़ी लाना था। उसने काफी विनम्रता से मेरा स्वागत किया। मगर, जब मैंने अपने आने का कारण बनाया तो वह टालमटोल करने लगा। उसे यह कोई अच्छा विचार नहीं लगा। भारत में कई प्रतिक्रियावादी हैं। यह खतरनाक जगह है। इसके अतिरिक्त प्रिपेरेटरी कमेटी बहुत व्यस्त थी और इसी आधार पर उसने कहा कि

नेहरू जी को सदमा

मुझे शायद ही जाने दिया जाए सके। उसने कहा "खैर यह एक धार्मिक सोसायटी का निमन्त्रण ही तो है। यह स्वयं भारत सरकार द्वारा तो नहीं भेजा गया न। चिन्ता नहीं करो, तुम इसे स्वीकार नहीं करना। मुझे बहुत सदमा लगा। यह स्पस्ट था कि चीनी अधिकारियों की मुझे धार्मिक कर्तव्यों के पालन करने से भी रोकने की मंशा थी।

कई महीनों की अवधि गुजर गई जिसके दौरान बुद्ध जयन्ती के बारे में और ज्यादा कोई बात न हुई। तब अक्तूबर के मध्य के आसपास फान मिंग ने मुझसे संपर्क करके पूछा कि भारतीय जानना चाहते हैं कि मैं

प्रतिनिधिमण्डल के नेता के रूप में किसे नामांकित करना चाहता हूं। मैंने जवाब दिया कि मैं अपने कनिष्ट गुरु त्रिजांग रिंपोछे को भेजूंगा, साथ ही यह भी जोड़ दिया कि ज्यों ही वह हरी झण्डी दिखाएगा, प्रतिनिधिमण्डल चल देगा। और दो हफ्ते निकल गए और मैं इस बात को दिमाग से धीरे-धीरे निकालने लगा था कि चिआंग चिन वू, जो बीजिंग से वापस लौटा ही था, मुझे बताने आया कि चीनी सरकार ने तय किया है कि आखिरकार मेरा जाना ही ठीक रहेगा। मैं इतना खुश था कि अपने कानों पर विश्वास ही नहीं कर पाया। उसने मुझे चेताया लेकिन सावधान रहना। भारत में कई प्रतिक्रियावादी तत्व व जासूस हैं। यदि तुम उनसे कोई बात करने की कोशिश करोगे तो मैं तुम्हें बता देना चाहता हूं कि तुम जान लो कि जो कुछ हंगरी व पोलैण्ड में हुआ था, वहीं तिब्बत में होगा। वह उन देशों में विद्रोह के क्रूर रूसी जवाब का हवाला दे रहा था। जब वह अपनी बात कह चुका तो मैंने महसूस किया कि मुझे अपनी खुशी छिपानी चाहिए और इसके बजाए हैरान दिखने के लिए पूरा जोर लगाना चाहिए। मैंने इंगित किया कि साम्राज्यवादियों व प्रतिक्रियावादियों के बारे में उसकी सूचना पर मैं वास्तव में हैरान हूं। इससे चिआंग पुनः आश्वस्त हुआ और उसने मेल मिलाप वाला सुर अपना लिया। "आप बहुत ज्यादा चिन्ता भी नहीं करो" उसने कहा " यदि कोई दिक्कत भी हुई तो हमारा राजदूत आपकी सहायता करने को वहां हमेशा तैयार रहेगा।" इसके साथ ही हमारी मुलाकात समाप्त हो गई। जनरल उठ खड़ा हुआ तथा पारंपरिक औपचारिकता के साथ मुझसे विदा ली। ज्यों ही वह गया, मैं यह खबर अपने व्यक्तिगत अनुचरों को बताने भागा और मुस्कुरा तो मैं इतना रहा था मानों मुंह अभी कानों तक ही पहुंच जायेगा।

हमारी विदाई से कुछ दिनों पहले मुझे चीनी अधिकारियों के रुख में बदलाव की एक मनोरंजक घटना मालूम हुई। ल्हासा भारतीय वाणिज्य दूत ने मेरे कर्मचारियों से पूछा था कि क्या मैं सचमुच समारोह में भाग लेने भारत आ रहा हूं। नकारात्मक जवाब मिलने पर उन लोगों ने यह सन्देशा अपनी सरकार तक पहुंचा दिया परिणामस्वरूप पंडित जवाहर लाल नेहरू ने व्यक्तिगत रूप से मेरी तरफ से हस्तक्षेप किया हालांकि चीनी अधिकारी अभी भी मुझे नहीं जाने देना चाहते थे। मामला तब तक नहीं सुलझा जब तक कि जनरल चियांग वापस ल्हासा पहुंचा और पाया कि भारतीय वाणिज्य दूत ने बहुत से लोगों को नेहरू का सन्देश बता दिया है।

आखिरकार भारत-चीन रिश्तों को क्षति की आशंका के कारण चीनियों को अपने विचार बदलने पर मजबूर होना पड़ा।

104

आज़ाद शरणार्थी

मैंने आखिरकार 1956 में नवम्बर के अन्त में ल्हासा छोड़ा। मैं किसी चीनी कर्मचारी या अन्य की निरन्तर निगरानी के बिना बेरोकटोक घूमने की छूट पर खुशी से सराबोर था। मेरा काफिला बहुत छोटा था तथा सैनिक उद्देश्यों के लिए बनी सड़कों के जाल की वजह से, जो उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक तिब्बत को चीन से जोड़े हुए था, हम सिक्किम तक का सारा रास्ता कार से तय कर पाये। शिगात्से में हम पंचेन लामा को साथ लेने के लिए रुके तथा फिर सीमा के समीप नाथू ला दर्रे से पहले तिब्बत की अन्तिम बस्ती चुम्बीथांग के लिए हम रवाना हो गए। वहां हमने कारों की बदली घोड़ों से की तथा मैंने जनरल टिंग मिंग-यी को अलविदा कहा जो ल्हासा से हमारे साथ आया था। वह मुझे जाते देख सचमुच ही उदास दिख रहा था। मेरा ख्याल है कि उसे पक्का यकीन था कि विदेश में मेरी जिन्दगी विदेशी साम्राज्यवादियों, जासूसों तथा अन्य सभी ऐसे दैत्यों के कारण खतरे में है जिनका जिक्र कम्युनिज्म की सूची में है। उसने मुझे जनरल चियांग की ही तर्ज पर एक और चेतावनी दी कि मुझे चौकस रहना चाहिए तथा यह भी समझाया कि मैं जब भी किसी विदेशी प्रतिक्रियावादी से मिलूं तो उसे 'लिबरेशन' के बाद से तिब्बत की महान तरक्की के बारे में अवश्य बताऊं। उसने कहा 'यदि वे मेरा विश्वास न करें तो वे स्वयं तिब्बत आकर देख सकते हैं।' मैंने उसे विश्वास दिलाया कि मैं भरसक कोशिश करूंगा। इसके साथ ही मैं अपने टट्टू पर चढ़ने को मुड़ा तथा धुंध में लंबा रास्ता तय करना शुरू कर दिया।

नाथू-ला की चोटी पर एक बड़ा संगोरा टीला रंग-बिरंगे प्रार्थना ध्वजों से सजा था। जैसा कि रिवाज है हममें से प्रत्येक ने इस संगोरा में एक-एक पत्थर रखा और पूरी ताकत से 'ल्हा ग्याल लो' (देवताओं की विजय हो) नारा लगाकर सिक्किम के राज्य में प्रवेश करने लगे।

दूसरी तरफ दर्रे से थोड़ा ही नीचे हमें धुंध में एक स्वागत पार्टी मिली जिसमें कई कर्मचारी व मिलिट्री बैण्ड थे, जिसने तिब्बती व भारतीय राष्ट्रगान की धुन बजाई। इनमें से एक अप्पा बी. पन्त भी थे जो पहले ल्हासा में भारतीय वाणिज्य दूत तथा अब सिक्किम में राजनैतिक अधिकारी थे। एक सिक्किमी सोनम तोपग्याल काज़ी भी था जिसे अब आगे की यात्रा भर मेरा अनुवादक होना था। और निस्संदेह मेरा दोस्त महाराज कुमार थोंडुप नमग्याल तो था ही।

ताक्तसेर सीमा से मुझे नीचे त्सोंगो झील के किनारे एक छोटी बस्ती में ले जाया गया, जहां हमने रात बिताई। अब तक बहुत अन्धेरा तथा ठण्ड हो चुकी थी जमीन पर मोटी बर्फ बिछी थी। पहुंचने पर मुझे एक अद्भुत नजारा मिला रिंपोछे तथा ग्यालो थोंडुप जिन दोनों को ही मैंने कई वर्षों से नहीं देखा था, मेरा स्वागत करने आए हुए थे। लोबसांग साम्तेन तथा छोटा तेनज़िन चोग्याल दोनों मेरे साथ यात्रा करके आए ही थे। इसलिए हमारी जिन्दगी में पहली बार हम पांचों भाई अब एक साथ थे।

अगले दिन हमने सिक्किम की राजधानी गंगटोक की यात्रा की।

नेहरू जी को सदमा

पहले टट्टू द्वारा और फिर यात्रा के अन्तिम हिस्से में शाही कार द्वारा। इस अवसर पेर मुझे सिक्किम के महाराजा सर ताशी नमग्याल मिले जिनकी यह कार थी। वहां एक मुग्ध कर देने वाला लेकिन वर्णन योग्य वाकया हुआ। हम गंगटोक में प्रवेश कर ही रहे थे कि काफिला वहां जमा हुई एक बड़ी भीड़ के बीच जाकर रुका। खुशी भरे स्कूली बच्चों समेत हजारों लोग चारों तरफ से भिंचे हुए हम पर खाताग तथा फूल फेंक रहे थे और हमें बढ़ने से रोक रहे थे कि एक अनाम युवा चीनी न जाने कहां से प्रकट हुआ। बिना कुछ बोले उसने सिक्किमी राज्य के झण्डे के सामने कार पर लहरा रहे तिब्बती झण्डे को फाड़ डाला और इसकी जगह चीनी झण्डा फहरा दिया।

अगले दिन बड़े तड़के बागडोगरा एयरपोर्ट के लिए रवाना होने से पहले की रात हमने गंगटोक में बिताई। मुझे याद आता है यह यात्रा बड़ी असुविधाजनक थी। ल्हासा से यात्रा के कारण मैं थका हुआ था और फिर उससे पिछली रात एक राजभोज हुआ था। और उस पर तुर्रा यह कि मुझे नाश्ते में नूडल्स दिए गए थे। और ज्यों-ज्यों भारतीय मैदानों में हमारी कार उतरती गई, कार में गर्मी दमघोंटू होती गई।

जो हवाई जहाज प्रतीक्षारत था वह उसकी अपेक्षा काफी सुविधाजनक था जिससे मैं चीन में गया था। यह हमें इलाहाबाद ले गया जहां हम दोपहर के भोजन के लिए रुके और इसके बाद हम गए नई दिल्ली के पालम एयरपोर्ट। जब हम चहल पहल वाले भारतीय नगरों और गांवों के हजारों फुट ऊपर उड़ रहे थे तब मैं सोच रहा था कि चीन भारत से कितना भिन्न महसूस हो रहा है। मैं वहां कभी बिल्कुल नहीं गया था। लेकिन मैं दोनों देशों के जीवन के रंग ढंग के बीच गहरी खाई से पहले ही सचेत था। एक तरह से भारत मुझे ज्यादा खुला लगा।

जब हम भारतीय राजधानी में उतरे तो मेरे इस प्रभाव को और भी बल मिला। प्रधानमंत्री नेहरू व उपराष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन के साथ एक भव्य गार्ड ऑफ ऑनर हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। जो चीज मैंने चीन में देखी थी यहां उससे ज्यादा प्रदर्शन तथा समारोह था लेकिन, साथ ही बोले गए प्रत्येक शब्द में, चाहे वह स्वागत में प्रधानमंत्री द्वारा बोला गया हो या चाहे अकेले में किसी छोटे कर्मचारी द्वारा, सच्चाई का सुर छिपा हुआ था। लोगों ने अपनी सच्ची भावनाएं व्यक्त कीं और सिर्फ वही नहीं कहा जो उनके ख्याल में कहा जाना चाहिए था। यहां कोई बनावटीपन नहीं था।

एयरपोर्ट से सीधे ही मुझे भारत के राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद से मिलाने राष्ट्रपति भवन ले जाया गया। मैंने उन्हें बहुत ही वृद्ध आदमी पाया, और बहुत ही विनम्र। मैंने उन्हें प्रभावशाली वर्दी में भव्य लंबे सहायक तथा उनके औपचारिक बहुत भव्य सैन्य अंगरक्षकों से काफी विपरीत पाया।

अगले दिन मैंने यमुना नदी के तट पर राजघाट की यात्रा की जहां महात्मा गांधी का अन्तिम संस्कार किया गया था। यह एक शान्त और सुन्दर जगह थी और मैं वहां जाकर और उन लोगों का मेहमान बनकर बहुत कृतज्ञ

हुआ

आज़ाद शरणार्थी

जिन्होंने मेरी तरह विदेशी अधिपत्य झेला था। कृतज्ञ उस देश में आकर भी था जिसने महात्मा की अहिंसा की विचारधारा को अपनाया था। जब मैं खड़ा प्रार्थना कर रहा था तो गांधी से व्यक्तिगत रूप से न मिल पाने के लिए बहुत उदासी तथा साथ-साथ उनकी जिन्दगी के भव्य उदाहरण पर बहुत आनन्द भी महसूस कर रहा था। मेरे लिए वे एक संपूर्ण राजनीतिज्ञ थे और हैं- एक ऐसा व्यक्ति जिसने व्यक्तिगत विचारों से ऊपर परोपकार के सिद्धान्त में अपनी आस्था रखी। मैं संतुष्ट था कि अहिंसा के प्रति उनका समर्पण ही राजनीति के संचालन का एकमात्र रास्ता था।

अगले कुछ दिन बुद्ध जयन्ती समारोहों में गुजरे। इनके दौरान मैंने अपना यह विश्वास व्यक्त किया कि भगवान बुद्ध के उपदेशों से न केवल व्यक्तियों के जीवन में शान्ति होगी बल्कि राष्ट्रों के बीच भी शान्ति होगी। मैंने कई गांधीवादियों से इस बात पर भी विचार-विमर्श किया कि अहिंसा के माध्यम से भारत स्वतन्त्राता कैसे प्राप्त कर सका।

इस अवसर पर भारत के बारे में मेरी राय बन चुकी थी कि जिन दावतों और स्वागत समारोहों में मुझे बार-बार बुलाया जाता था वे मेरे लिए चीन में आयोजित दावतों से काफी कम भव्य होते थे लेकिन उसमें सच्चाई के समृद्ध वातावरण का मतलब था कि वहां सच्ची दोस्ती विकसित करने का अवसर था। यह पीपुल्स रिपब्लिक के मेरे अनुभवों के सीधे विपरीत था जहां आम राय यह थी कि धमकाने से लोगों की सोच बदली जा सकती है। अब मैं तुलना कर सकता था और स्वयं देख सकता था कि यह दोषपूर्ण सोच थी। आपसी आदर के विकास व सच्चाई की भावना से ही दोस्ती हो सकती है। इन तरीकों से मानव मस्तिष्क को बदला जा सकता है और ताकत से तो कभी नहीं।

इन निरीक्षणों के परिणामस्वरूप तथा एक तिब्बती कहावत कि "कोई कैदी यदि जेल से भाग जाये तो उसे वापस नहीं लौटना चाहिए" का ध्यान करके मैं भारत में ही रहने की सोचने लगा। मैंने अपना मन बना लिया कि जब पण्डित नेहरू से मिलूंगा तब मैं भारत में राजनैतिक शरण लेने की संभावनाओं का पता लगाउंगा। मैं शीघ्र उनसे मिला।

दरअसल मैं नेहरू जी से कई अवसरों पर मिला। वे लंबे और अच्छे दिखने वाले व्यक्ति थे जिसके तीखे नैन-नक्श उनकी गांधी टोपी से ज्यादा निखर जाते थे। माओ की तुलना में उनमें आत्म-विश्वास कम लगता था मगर उनमें तानाशाही जैसा कुछ भी न था। वे ईमानदार दिखाई देते थे यही कारण था कि वे बाद में चाउ एन-लाई द्वारा ठगे गये। जब हम पहली बार मिले, मैंने उन्हें विस्तार से पूरी कहानी सुनाई कि कैसे चीनियों ने हमारी शान्तिपूर्ण भूमि पर हमला किया जबकि हम शत्रु का सामना करने को तैयार न थे। और जैसे ही हमें पता लगा कि बाहरी दुनिया में कोई भी स्वतन्त्रता के हमारे अधिकारपूर्ण दावे को मानने को तैयार नहीं है तो कैसे हमने चीनियों के साथ निभाने की जी तोड़ कोशिश की।

शुरू में तो वह सुनते रहे और विनम्रता से सिर हिलाते रहे।

नेहरू जी को सदमा

लेकिन मेरा ख्याल है कि मेरी भावपूर्ण बात उन्हें बहुत लंबी लगी होगी और कुछ देर के बाद उनका ध्यान बंटता सा लगा, मानो अभी वे सिर हिलाना बन्द कर देंगे। आखिरकार उन्होंने मेरी तरफ सिर उठाकर ऊपर देखा और कहा कि मैं जो कुछ कह रहा हूं वे उसे समझ रहे हैं। लेकिन वे किसी तरह अधीरता से कहते चले गये "लेकिन आपको जान लेना चाहिए कि भारत आपका समर्थन नहीं कर सकता" जब वे साफ सुन्दर अंग्रेजी में बोलते थे तो उनका लंबा निचला होंठ कांपता, मानो उसकी आवाज की ध्वनि की सहानुभूति में हिल डुल रहा हो।

यह बुरी मगर पूरी तरह अनपेक्षित खबर न थी। और यद्यपि नेहरू अब अपनी स्थिति साफ कर चुके थे, मैंने कहना जारी रखा कि मैं भारत में शरण पाने पर विचार कर रहा हूं। वह पुनः हिचककर बोले "लेकिन आपको अपने देश वापस जाना चाहिए और सत्रह सूत्री 'समझौते' के आधार पर चीनियों के साथ काम करने की कोशिश करनी चाहिए।" मैंने विरोध किया कि मैं पहले ही ऐसा करने का पूरा जोर लगा चुका हूं और मैंने जब कभी भी यह सोचा है कि मेरा चीनी अधिकारियों से समझौता हो गया है, उन्होंने मेरा विश्वास तोड़ा है। और अब पूर्वी-तिब्बत में हालत इतनी खराब थी कि मुझे एक भारी हिंसक प्रतिशोध का खौफ था जो सारे देश को तबाह करके ही पूरा हो सकता था। मैं कैसे विश्वास कर सकूंगा कि सत्रह-सूत्री 'समझौता' अभी और ज्यादा काम देगा? आखिरकार नेहरू जी ने कहा कि वह इस विषय पर स्वयं चाउ एन-लाई से बात करेंगे जो यूरोप जाते वक्त अगले ही दिन दिल्ली आने वाले थे। वे मुझे चीनी प्रधानमंत्री से भी मिलवाने का प्रबन्ध करेंगे।

नेहरू उतना ही भले थे जितनी उनकी बात। और अगली सुबह मैं उनके साथ पालम एयरपोर्ट गया जहां उन्होंने मुझे चाउ से उस शाम मिलवाने का प्रबन्ध 1 किया। जब हम दोबारा मिले तो मैंने अपने बूढ़े दोस्त को वैसा ही पाया, जैसी मुझे उसकी याद थी। आकर्षण, मुस्कुराहटों और फरेबों से भरपूर। लेकिन मैंने उसके कपटपूर्ण तौर तरीकों का जवाब नहीं दिया। इसकी बजाए मैंने बिल्कुल सीधे-सीधे चिन्ता के बारे में बता दिया कि चीनी अधिकारी पूर्वी-तिब्बत में कैसा व्यवहार कर रहे हैं। मैंने वह खासा अन्तर भी इंगित किया जो मैंने भारतीय संसद तथा सरकार की चीनी व्यवस्था में देखा था। भारत के लोगों की अभिव्यक्त करने की आजादी जो वे सचमुच महसूस करते हैं और यदि वे आवश्यक समझें तो सरकार की आलोचना करते हैं। बहुत मीठा सा जवाब देने से पहले चाउ हमेशा की तरह ध्यानपूर्वक सुनते रहे। उन्होंने कहा "आप चीन में सिर्फ पहली असेंबली के समय ही उपस्थित थे। उसके बाद से, दूसरी असेंबली हो चुकी है और प्रत्येक चीज में अकल्पनीय बदलाव आ गया है।" मैंने उनका विश्वास नहीं किया, लेकिन बहस करना फिजूल था। तब उन्होंने कहा कि उन्होंने ऐसी अफवाह सुनी है कि मैं भारत में ही रहने की बात सोच रहा हूं। उसने चेतावनी देते हुए कहा कि ऐसा करना भूल होगी। मेरे देश को

मेरी जरूरत है। यह शायद सच था भी मगर, मैंने यह अहसास करते हुए बात खत्म की कि बात सुलझ नहीं पायी।

108

आज़ाद शरणार्थी

मेरे दो भाई, ताक्तसेर रिंपोछे तथा ग्यालो थोंडुप भी चाउ या "च्यू एण्ड लाई" (चबाओ और झूठ बोलो) जैसा कि कुछ भारतीय समाचार पत्रों ने उसके बारे में लिखा था, से दिल्ली में मिले। वे मुझसे भी ज्यादा बेलाग थे तथा उन्होंने चाउ से कहा कि उनसे ऐसा करने की प्रार्थना के बावजूद भी उनकी ल्हासा लौटने की कोई मंशा नहीं है। इसी बीच आखिरकार मैंने भारत के पवित्र स्थानों की तीर्थ यात्रा शुरू कर दी। उस दौरान मैंने राजनीति को दिमाग से बाहर रखने की कोशिश की। दुर्भाग्य से मुझे अपने देश के भविष्य के बारे में व्याकुल विचारों को झटक पाना लगभग असंभव लगा। पंचेन लामा, जो हर कहीं मेरे साथ रहे, हमारी भयावह स्थिति के निरान्तर गवाह थे। वह अब पहले वाला भला और विनम्र लड़का नहीं रहा था जिसे मैं जानता था। चीनियों द्वारा उसके किशोर मस्तिष्क पर डाले गए लगातार दवाब का अवश्यम्यावी प्रभाव पड़ा था।

फिर भी, सांची से अजन्ता, और फिर बोधगया और सारनाथ तक के भारत भर की यात्रा करते हुए मैंने कुछ पल पा लिए जब मैं स्वयं को खुशी व श्रद्धा की गहरी भावनाओं को अर्पित कर पाया। मैंने महसूस किया कि मैं अपने आध्यात्मिक घर में लौट आया हूं। प्रत्येक चीज किसी न किसी तरह जानी-पहचानी सी लग रही थी।

बिहार में मैंने महानतम और सर्वाधिक प्रसिद्ध बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा की यात्राा की, जिसके सैकड़ों वर्षों से खण्डहर हुए पड़े हैं। कई तिब्बती विद्वान वहां अध्ययन कर चुके थे और अब जब मैंने सर्वाधिक प्रसिद्ध बौद्ध विचार की जन्मस्थली की जगह इंट पत्थरों का दयनीय ढेर देखा तो, दोबारा सोचता हूं कि अस्थायित्व की विचारधारा कितनी सच है।

आखिरकार मैं बोधगया पहुंचा। मैं उस जगह जाकर भाव विभोर हो गया जहां भगवान बुद्ध ने ज्ञान हासिल किया था। लेकिन मेरी खुशी लंबे समय

तक नहीं रह पाई। वहां रहते मुझे अपने चीनी अनुरक्षकों से एक सन्देश मिला कि चाउ एन-लाई दिल्ली से लौट रहे है तथा मुझसे मिलना चाहते हैं। तब सारनाथ में मुझे जनरल चिआंग-ची का एक टेलीग्राम भी मिला कि मैं तुरन्त ल्हासा लौटूं। इसमें कहा गया था कि विध्वंसक प्रतिक्रियावादी तथा साम्राज्यवादी मेलजोल एक विद्रोह की योजना बना रहे हैं तथा मेरी उपस्थिति की सख्त जरूरत है।

मैं ट्रेन से दिल्ली लौटा तथा मुझे चीनी राजदूत स्टेशन पर ही मिला। वह अड़ा रहा कि मैं उसकी कार में ही उसके साथ दूतावास जाउं जहां मैं चाउ एन लाई से मिलूं। इस बात पर मेरी संसद के अध्यक्ष तथा मेरे अंगरक्षकों को गुस्सा आ गया। इन दोनों को भय था कि मैं कहीं अपहृत कर लिया जाउं और जब वे दूतावास पहुंचे तो अनिश्चित थे कि मैं वहां वास्तव में था भी या नहीं, इसलिए उन्होंने किसी को मेरे पास ऊपर स्वेटर ले जाने को कहा ताकि पता लगे कि उनकी क्या प्रतिक्रिया है। इसी बीच मेरी चाउ के साथ बेबाक वार्ता हो रही थी। उसने मुझे यह इंगित करते हुए कि किसी भी लोकप्रिय विद्रोह को कुचलने के लिए चीनी अधिकारी बल प्रयोग करने को तैयार हैं, साथ ही बताया कि तिब्बत में स्थिति बिगड़ती जा रही है।

नेहरू जी को सदमा

इसी मौके पर मैंने अपनी चिन्ता धड़ल्ले से दोहरा दी कि ऐसे आश्वासनों के बावजूद कि चीनी हम पर अवांछित सुधारों को थोपेंगे वे तिब्बत में कैसा व्यवहार कर रहे हैं। उन्होंने पुनः उसी आकर्षण के साथ दोहरा दिया कि चेयरमैन माओ ने घोषणा कि है कि कम से कम अगले छह वर्षों तक तिब्बत में कोई सुधार लागू नहीं किए जाने चाहिएं। और इसके बाद भी हम तैयार नहीं होते तो आवश्यक होने पर इन्हें पचास सालों तक स्थगित किया जा सकता है। उनका कहना था कि आखिर चीन सिर्फ हमारी सहायता करने को ही था। फिर भी मैं संतुष्ट नहीं था। चाउ ने कहना जारी रखा कि वे समझते हैं कि मैं कालिम्पोंग यात्रा की तैयारी करने की योजना बना रहा हूं। यह सच था। मुझे वहां रह रही तिब्बती जनता को उपदेश देने

को कहा गया था। उन्होंने मुझे सख्ती से सलाह दी कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि वह स्थान "जासूसों तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों" से भरा था। उसने जोड़ा कि मैं जिन भारतीय कर्मचारियों का विश्वास करता हूं, मुझे उनसे सावधान रहना चाहिए क्योंकि उनमें कुछ ही अच्छे हैं और शेष खतरनाक हैं। तब उसने विषय बदल दिया। उसने पूछा कि क्या मैं नालन्दा लौटने तथा वहां चीन के पीपुल्स रिपब्लिक के एक प्रतिनिधि की हैसियत से, एक संस्था को चीनी आध्यात्मिक संत तांग सेन के अस्थिवशेष तथा एक चेक भेंट करने का तैयार हूं। यह जानते हुए कि पण्डित नेहरू भी इस कार्यक्रम में उपस्थित होंगे, मैंने मान लिया।

जब मैं अगली बार मिला तो भारतीय प्रधानमंत्री अपने साथ सत्रह सूत्री 'समझौते' की एक प्रति लिए हुए था। उन्होंने मुझे दोबारा तिब्बत लौटने व 'समझौते' के आधार पर चीनियों के साथ काम करने का कहा। उन्होंने कहा कि और कोई चारा भी तो नहीं है। उन्होंने यह जोड़ा कि वह साफ कर देना चाहते हैं कि भारत तिब्बत के लिए किसी तरह की मदद नहीं कर सकता। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि मुझे वैसा ही करना चाहिए जैस चाउ एन-लाई ने कहा है और कालिम्पोंग में बिना रुके ल्हासा लौट जाना चाहिए। लेकिन जब मैंने इस बात के लिए उन पर दवाब डाला तो उन्होंने तुरन्त अपना विचार बदल लिया। उन्होंने कहा "आखिर भारतं तो आजाद देश है। और यह उम्मीद की जाएगी कि आप उसके कोई नियम नहीं तोड़ोगे।" तब उन्होंने यात्रा के सभी आवश्यक प्रबन्ध करने का जिम्मा लिया।

यह 1957 की फरवरी थी जब मैंने अपने छोटे से काफिले के साथ ट्रेन द्वारा कलकत्ता की यात्रा की। मुझे याद है कि किसी प्रतिबन्ध से अनभिज्ञ व पूरी तरह आज़ाद महसूस करते हुए, रास्ते में मेरी मां ने एक छोटा स्टोव निकाला और बहुत स्वादिष्ट थुक्पा (पारंपरिक तिब्बती नूडल सूप) बनाया। पश्चिमी बंगाल की राजधानी कलकत्ता में हम कुछ दिन ठहरे तब उत्तर में बागडोगरा के लिए हम वायुयान से गये जहां से हिमालय की छोटी पहाड़ियां भारतीय मैदानों की भीषण गर्मी की पहुंच से बाहर हो जाती हैं। यात्रा का अन्तिम हिस्सा हमने जीप से पूरा किया। जब हम कालिम्पोंग पहुंचे तो हम एक भूटानी परिवार के उसी घर में ठहरे

आज़ाद शरणार्थी

जहां मुझसे पहले दलाई लामा अपने भारत में निर्वासन के दौरान एक बार ठहरे थे। उन्होंने मुझे वही कमरा दिया जिसमें वे ठहरे थे। इन समान परिस्थितियों में वहां ठहरना एक अद्भुत अनुभूति थी। इस मैत्रीपूर्ण घर का परिवार भूटानी प्रधानमंत्री का था, जिसे बाद में मार दिया गया। वहां तीन छोटे बेटे थे जिनमें सबसे छोटे ने हम मेहमानों में काफी रुचि ली। वह मेरे कमरे में इस तरह आता रहता मानो मेरा निरीक्षण करने आता हो। तब हंसते हुए वह वहां से चला जाता।

मुझे पहुंचे ज्यादा वक्त नहीं हुआ था कि मेरे भूतपूर्व प्रधानमंत्री लुखांग्वा मुझसे मिले जो तीर्थयात्रा के नाम पर पिछले दिनों ल्हासा से यहां पहुंचे थे। मैं उनसे मिलकर बहुत खुश हुआ यद्यपि मैंने शीघ्र जान लिया कि वे मेरे घर लौटने के घोर विरोधी हैं। मेरे दो भाइयों ने भी जो उसी तरह कालिम्पोंग यात्रा पर आये थे उनसे सहमति व्यक्त की और मुझे वहीं रुकने को मनाने की कोशिश करने लगे। उन तीनों ने काशाग से भी मुझे वापस न लौटने देने की प्रार्थना की। बोधगया में रहते हुए मेरे भाईयों ने सहानुभूति रखने वाले कई भारतीय राजनीतिज्ञों से संपर्क किया जिनमें से एक जय प्रकाश नारायण ने किसी उचित अवसर पर तिब्बत की आजादी के समर्थन में भारत की आवाज बुलन्द करने का वचन दिया था। मेरे भाई, लुखांग्वा तथा एक दो अन्य लोग निश्चित थे कि जब कभी ऐसा होगा, नेहरू तिब्बती आजादी का समर्थन करने को मजबूर हो जायेंगे। आखिर भारत को अपनी उत्तरी सीमा पर चीनी सैनिकों के बने रहने से कोई लाभ न था। लेकिन मैं आश्वस्त नहीं था। मैंने न्गोबो नावांग जिग्मे से (उस प्रतिनिधिमण्डल का नेता जिसे सत्रह-सूत्री 'समझौते' पर हस्ताक्षर करने को मजबूर किया गया था), जो मेरे काफिले में था, पूछा कि उसका क्या विचार है। उसकी सलाह थी कि यदि मेरे पास कोई निश्चित योजना हो तब तो यहां ठहरने पर विचार करना ठीक रहेगा। उसने महसूस किया कि बिना किसी ठोस बात के, मेरे पास वापस लौटने के अलावा कोई चारा नहीं।

मैंने भविष्यवक्ता से परामर्श लिया। तीन मुख्य ओझा हैं जिनकी सलाह

दलाई लामा ले सकता है। उनमें से दो नेचुंग तथा गादोंग उपस्थित थे। दोनों ने कहा कि मुझे लौट जाना चाहिए। इन परामर्शों के दौरान एक बार लुखांग्वा अन्दर आ गया था जिस पर भविष्यवक्ता ने क्रोधित होकर उसे बाहर रहने को कहा। यह ऐसा लगा जैसे ओझा ने जान लिया था कि लुखांग्वा अपना मन बना चुका है। लेकिन लुखांग्वा ने उसकी अनदेखी की और वहीं बैठा रहा। इसके बाद वह मेरे पास आया और बोला "जब मानव निराश होते हैं तो वह देवताओं से परामर्श लेते हैं। मगर जब देवता निराश हो जाते हैं तो वे झूठ बोलते हैं।"

मेरे दोनों भाई जिद कर रहे थे कि मुझे तिब्बत नहीं लौटना चाहिए। लुखांग्वा की तरह वे दोनों भी प्रभावशाली और हार न मानने वाले व्यक्ति थे। दोनों में से कोई भी मेरी हिचकिचाहट नहीं समझ पा रहा था। उनका विश्वास था कि धमकी के अधीन तिब्बती जनता के अस्तित्व पर आए खतरे को देखते हुए हर संभव रास्ते से चीनियों का मुकाबला करना जरूरी है। वे महसूस कर रहे थे कि इसका सर्वोत्तम रास्ता यही था कि मै भारत में रहूं।

नेहरू जी को सदमा

तब विदेशी समर्थन पाना संभव हो जायेगा, जिसका उन्हें पूरा विश्वास था। वे संतुष्ट थे कि अमेरिका हमारी सहायता करेगा।

यद्यपि इस समय चीनियों के विरूद्ध सशस्त्र संघर्ष की कोई बात नहीं हुई मगर मेरे दो भाई मुझे बिना बताए, पहले ही अमेरिकन सेण्ट्रल इण्टेलीजेंस एजेंसी (सी.आई ए.) से संपर्क कर चुके थे। प्रकटतया अमेरिकी महसूस कर रहे थे कि तिब्बती स्वतन्त्रता सेनानियों को सीमित सहायता उपलब्ध करना उचित रहेगा। इसलिए नहीं कि उन्हें तिब्बती स्वतन्त्रता की परवाह थी, बल्कि इसलिए कि वे इसे सभी कम्युनिस्ट सरकारों को अस्थिर करने की विश्वव्यापी कोशिश का एक हिस्सा मानते थे। इस खातिर उन्होंने स्वतन्त्रता सेनानियों के लिए वायु से साधारण हथियार सीमित संख्या में गिराकर आपूर्ति करने की जिम्मेवारी ली। उन्होंने कुछ तिब्बतियों को सी.

आई. ए. द्वारा गुरिल्ला युद्ध कौशल में प्रशिक्षित करने और उन्हें वापस तिब्बत में पैराशूट से उतारने की योजना भी बनाई। मेरे भाइयों ने इस योजना को मुझसे छिपाये रखने में बुद्धिमानी समझी। वे जानते थे कि मेरी प्रतिक्रिया क्या होगी।

यद्यपि मुझे उनके तर्कों में दम नजर आया मगर जब मैंने उन्हें बताया कि मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता तो ग्यालो थोंडुप पर खीझ के चिन्ह दिखाने लगा। वह मेरे भाइयों में से सबसे ज्यादा कट्टर रूप से देशभक्त था और है भी। उसका बड़ा शक्तिशाली चरित्र है और अड़ियलपन की हद तक बने रहने की प्रवृत्ति। लेकिन दिल का बहुत भला है। हम सबमें सबसे ज्यादा दुखी वह हुआ था जब हमारी मां का देहान्त हुआ था। वह काफी रोया था। ताक्तसेर रिंपोछे ग्यालो थोंडुप से कहीं नरम और शांत तौर तरीकों वाला है। मगर उसके शान्त और खुशफहम बाहरी रूप के अन्दर एक मजबूत और न झुकने वाला व्यक्ति है। मुसीबत के समय वह संयमित रहता है। मगर, इस अवसर पर उसने भी क्रोध के लक्षण दिखाये। आखिर में कोई नहीं जीता और मैंने नेहरू की सलाह तथा चाउ एन-लाई के आश्वासन के तहत चीनियों को एक अवसर और देने के लिए तिब्बत वापस लौटने का मन बना लिया।

कालिम्पोंग से रवाना होने के बाद एक बार फिर नाथू ला दर्रा पार करने से पहले मुझे पूरा एक महीना गंगटोक में रहने को मजबूर किया गया। लेकिन मुझे इसका पछतावा नहीं है और मैंने स्थानीय जनता को उपदेश देने का अवसर उठाया।

आखिरकार भारी दिल से मैं ल्हासा की वापसी यात्रा के लिए मार्च 1957 के आखिर में रवाना हो लिया। ऐन मौके पर हाल ही में हुए अपेंडिसाइटिस ऑपरेशन के बाद से खराब तबियत के कारण, लोबसांग साम्तेन ने भारत में रहने का निर्णय लिया। इससे मेरी उदासी और भी बढ़ गई। जब मैं सीमा पर पहुंचा और अपने भारतीय दोस्तों से अलविदा कही जो सभी रो रहे थे तो मेरा मन और भी गहरे बैठता जा रहा था।

रंग बिरंगे लहराते तिब्बती पूजा ध्वजों के बीच कम से कम एक दर्जन सुर्ख लाल बैनर चीन के पीपुल्स रिपब्लिक का ऐलान कर रहे थे। यह कोई तसल्ली की बात न थी कि जनरल चीन रहावो रहेन मुझसे मिलने आया हुआ था। यद्यपि वह एक अच्छा और सच्चा व्यक्ति था तो भी मैं 'लिबरेशन' की सीमा में सोचने के बजाये खुद को उस सैन्य वर्दी की सीमा में सोचने से नहीं रोक पा रहा था, जो वह पहने था।

-7-

अलविदा मेरे वतन

तिब्बती. सीमा में पहुंचकर मैं द्रोमो, ग्यान्त्से और शिगात्से के रास्ते होकर वापस ल्हासा के लिए चला। प्रत्येक जगह मैंने विशाल जनसमूहों को संबोधित किया, जिनमें मैंने तिब्बती व चीनी दोनों ही कर्मचारियों को आंमन्त्रित किया था। हमेशा की तरह मैंने जो लौकिक विषयों पर कहना होता है उसे मिलाकर संक्षिप्त आध्यात्मिक उपदेश देता रहा। ऐसा करते हुए मैंने सभी तिब्बतियों को चीनी अधिकारियों से ईमानदारी से व न्यायोचित व्यवहार करने की आवश्यकता पर जोर दिया। मैंने जोर दिया कि प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह गलत को सही करे बेशक गलती किसी ने भी क्यों न की हो। मैंने अपनी जनता से सत्रह-सूत्री समझौते के सिद्धान्तों का भी सख्ती से पालन करने को कहा। मैंने उन्हें नेहरू व चाउ एन-लाई से हुई वार्ताओं के बारे में बताया कि किस प्रकार फरवरी के पहले सप्ताह में उस वर्ष चैयरमैन माओ ने सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया था कि तिब्बत अभी सुधारों के लिए तैयार नहीं है। अन्त में मैंने उन्हें उस चीनी दावे की याद दिलाई कि वे तिब्बतियों की सहायता करने को ही

तिब्बत में हैं। यदि कोई अधिकारी सहयोगी नहीं होता है तो वह कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के खिलाफ कार्य कर रहा है। मैंने यह भी जोड़ा कि बाकियों को प्रशंसा के गीत गाने दो मगर हमें, चैयरमैन माओं के निर्देशानुसार, आत्म-आलोचक होना चाहिए। यह सब उपस्थित चीनियों को साफ तौर पर असुविधाजनक लग रहा था।

इस तरह से मैंने अपनी जनता को विश्वास दिलाने की कोशिश की कि मैं वह सब कर रहा हूं जो उनके लिए मैं कर सकता था। मैंने नये विदेशी स्वामियों को भी चेतावनी भेजना शुरू कर दिया कि अब जहां कहीं भी आवश्यक होगा अनियमितताओं को इंगित करने में कोई झिझक नहीं होगी। यद्यपि रास्ते भर हर कदम पर मेरे जबरदस्ती के आशावाद को पूर्वी तिब्बत में व्यापक लड़ाइयों की रिपोर्टों व खबरों से ताजा धक्के लगते रहे। तब एक दिन राजनैतिक कॉमीसार जनरल तान कुआन-सेन मुझसे मिलने आया और बोला

कि स्वतन्त्रता सेनानियों को हथियार डालने को कहने के लिए मुझे एक प्रतिनिधि भेजना चाहिए। चूंकि यही मेरी इच्छा भी थी इसलिए में ऐसा करने को सहमत हो गया तथा मैंने उनसे बातचीत करने के लिए एक लामा भेजा। लेकिन वे नहीं माने और जब 1 अप्रैल 1957 को मैं ल्हासा पहुंचा तो मालूम हुआ कि तिब्बत भर में परिस्थितियां न केवल चीनी नियन्त्रण से बल्कि मेरे अपने हाथों से भी तेजी से फिसलती जा रही हैं।

मध्यग्रीष्म में आम्दो व खम के इलाके में खुला युद्ध शुरू हो गया। गोम्पो ताशी नामक एक व्यक्ति के नेतृत्व में स्वतन्त्रता सेनानियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही थी तथा वे अपने हमलों मे और भी चतुर होते जा रहे थे। चीनी भी अपनी तरफ से बेलाग थे। कस्बों और गांवों पर हवाई जहाजों को बम गिराने के लिए प्रयुक्त करने के साथ-साथ सारा क्षेत्र तोपगोलों की झड़ी से तबाह किया जा रहा था। नतीजा यह हुआ कि खम तथा आम्दों से हजारों लोग ल्हासा को भागे तथा उन्होंने शहर के बाहर मैदानों में डेरे डाल दिए। उनकी आपबीती के कुछ मामले तो इतने भयावह थे कि

मैं कई वर्षों तक उन पर विश्वास ही नहीं कर पाया। जनता को डराने धमकाने के जो तरीके चीनियों ने प्रयोग किए वे इतने घृणित थे कि वे कल्पना से पूर्णतया बाहर थे। मैंने भी यह सब तब तक नहीं माना था जब तक 1959 में प्रकाशित इन्टरनेशलन कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट्स की रिपोर्ट नहीं पढ़ी। तब मुझे पता चला कि सलीब पर लटकना, चिथड़े-चिथड़े करना, अंगों को शरीर से काट-काटकर अलग करना तथा अपने शिकारों का अंग-भंग करना आम बात थी। इसी तरह सिर उड़ा देना जिन्दा जला डालना, पीट-पीट कर मार डालना तथा जिन्दा दफना देना, आम बात थी और लोगों को उछलते घोड़ों के पीछे बांध कर घसीटना ताकि वे मर जायें, उन्हें उलटा लटका देना या हाथ पांव बांधकर बर्फीले पानी में फेंक देने की तो बात ही क्या। हत्या के लिए ले जाते वक्त रास्ते में उन्हे 'दलाई लामा जिन्दाबाद' का नारा लगाने से रोकने के लिए वे उनकी जीभ मांस टांगने वाले हुकों से फाड़ देते थे।

यह जानकर कि विपदा आने वाली है मैंने घोषणा की कि मैं अब से अठारह महीनों के बाद हो रहे 1959 के मोन्लम त्यौहार के समय अपनी मठीय परीक्षा दूंगा। मैंने महसूस किया कि वक्त निकल जाने से पहले मुझे यथाशीघ्र स्नातक हो जाना चाहिए। साथ ही मैं पण्डित नेहरू के ल्हासा पहुंचने की राह देख रहा था, उन्होंने अगले वर्ष तिब्बत की यात्रा का मेरा निमन्त्रण (जिसकी चीनी राजदूत ने गर्मजोशी से स्वीकृति दी) स्वीकार किया था। मुझे उम्मीद थी कि उनकी उपस्थिति चीनी अधिकारियों को ज्यादा सभ्य तरीके से व्यवहार शुरू करने को मजबूर करेगी।

इसी बीच राजधानी में जिन्दगी यों ही चल रही थी जैसे छः वर्ष पहले चीनियों के पहली बार आ पहुंचने के बाद से चल रही थी। यद्यपि चीनी स्वयं अब और भी ज्यादा आक्रामक हो गए थे। अब के बाद से जब कभी भी जनरल मुझसे मिलने आते तो वे हथियारबंद होते। यद्यपि वे अपनी बन्दूकें खुले में नहीं लाते लेकिन वे उन्हें अपने वस्त्रों के नीचे छुपाये रहते। इससे उन्हें बड़े अजीब तरीके से बैठना पड़ता।

अलविदा मेरे वतन

हालांकि फिर भी बन्दूक की नालियां साफ दिखती रहीं। जब वे कुछ बोलते तो मुझे हमेशा की तरह विश्वास दिलाने की कोशिश करते रहते। मगर उनके चेहरों का रंग सफेद होकर उनकी असली भावनाओं को दर्शा देता।

तैयारी समिति भी निरर्थक नीति संशोधनों पर विचार विमर्श करने को नियमित रूप से बैठक करती रही। चीनी अधिकारी अविश्वसनीय हद तक उस पर्दे को तानने में लगे रहे जिसकी आड़ में वह देश में यत्र-तत्र घृणित कार्य कर सकें। मैं शक्तिहीन महसूस कर रहा था। तो भी मुझे विश्वास था कि यदि मैंने इस्तीफा दिया (जो अब मैं देने का विचार कर रहा था।) या चीनियों का सीधा विरोध किया तो इसका परिणाम तबाही होगा। तथा साथ ही मैं ल्हासा व तिब्बत के अन्य क्षेत्रों को जो अभी तक रक्तपात की चपेट में नहीं आए थे, हाथ से नहीं निकलने देना चाहता था। पहले ही चीनी सेना की कम से कम आठ डिवीजन के डेढ़ लाख से ऊपर आदमियों वाली टुकड़ियां आधुनिक युद्ध कौशल के साथ पूर्व में अनियमित घुड़सवार समूहों व पर्वतीय योद्धाओं के साथ भिड़ी हुई थीं। जितना भविष्य के बारे में ज्यादा मैं सोचता, उतनी ही कम उम्मीद मुझे नजर आती। लग रहा था चाहे मैं या मेरी जनता कुछ भी क्यों न करे, सारा तिब्बत आज नहीं तो कल नए चीनी साम्राज्य के नए दास राज्य में बदल जायेगा, जिसकी कोई धार्मिक या सांस्कृतिक आजादी नहीं होगी। स्वतन्त्र आवाज की तो बात ही छोड़िए।

नोर्बुलिंका में जहां मैं अब स्थाई रूप से रह रहा था, जीवन पहले सा ही चल रहा था। हजारों चमकदार बुद्ध जो अभी भी असंख्य दीयों की धीमी रोशनी में खड़े थे, इस बात की याद दिला रहे थे कि हम अस्थाइत्व और भ्रम की दुनिया में जी रहे हैं। मेरी दिनचर्या लगभग वही थी जो हमेशा रहती थी यद्यपि अब मैं थोड़ा जल्दी, पांच बजे से पहले उठ जाता और सुबह के पहले हिस्से में ग्रन्थों का अध्ययन तथा प्रार्थना करता। बाद में जो ग्रन्थ में पढ़ता उस पर विचार विमर्श हेतु मेरा एक गुरु आता। तब मेरे सेनशाप भी आ जाते। वे अब चार थे और मैं शेष दिन का अधिकतर हिस्सा शास्त्रार्थ में बिताता क्योंकि इसी तरह मेरी परीक्षा होनी थी। हमेशा

की तरह मैं माह के कुछ दिनों में अपने महल के समाधि 1-कक्षों में किसी एक में हो रही पूजा की अध्यक्षता करता।

चीनी हमले के बाद से ल्हासा स्वयं भी काफी कुछ बदल गया था। कम्युनिस्ट कर्मचारियों व उनके आश्रितों को बसाने में एक नया जिला बसा दिया गया था। वहां पहले ही आधुनिक चीनी शहर के लक्षण थे जो एक दिन प्राचीन राजधानी को निगल लेने वाले थे। उन्होंने एक नया अस्पताल तथा स्कूल यद्यपि मुझे यह कहते हुए बड़ा अफसोस है कि ये तिब्बती जनता के लिए बहुत कम फायदे के थे तथा कई नई बैरकें बना ली थीं। बिगड़ते हालात को मद्देनजर रखकर सेना ने अपने क्वार्टरों के चारों तरफ खाई खोदना व रेत के बोरों से घेराबन्दी करना भी शुरू कर दिया था। और अब जब कभी वे बाहर निकलते, जहां वे पहले जोड़ों में निकलना सुरक्षित मानते थे अब वे प्रहरियों के साथ ही बाहर निकलते।

116

आज़ाद शरणार्थी

लेकिन इस दुनिया से मेरा संपर्क बहुत कम था तथा मुझे इसकी अधिकतर जानकारी, मेरे जमादारों व अन्य कर्मचारियों द्वारा लाई गई निराशाजनक खबरों से मिलती।

1958 की बसन्त में मैं अपने नोर्बुलिंका के एक नये भवन में चला गया क्योंकि पार्क के भीतर ही अपना नया भवन बनवाना प्रत्येक क्रमिक दलाई लामा की प्रथा रही थी। दूसरों की तरह मेरा मकान भी बिल्कुल छोटा था तथा अपने व्यक्तिगत रहने के मकान से ज्यादा इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता था। लेकिन इसमें विशेषता यह थी कि यह आधुनिक फिटिंग व उपकरणों से सुसज्जित था। मेरे पुराने लकड़ी के दीवान की जगह लोहे का आधुनिक बेड था तथा बाथरूम में पानी लगातार आता था। इसमें गर्म करने के लिए पाईप फिटिंग भी थी मगर जब तक यह सही ढंग से काम करने लगी तब तक नोर्बुलिंका में मेरे रहने में व्यवधान पड़ गया था। दोनों मंजिलों में विद्युत व्यवस्था भी की हुई थी। मेरे प्रवचन कक्ष में पारंपरिक तिब्बती गद्दों की जगह मेज कुर्सियां (विदेशी यात्रियों की सुविधा के लिए) थीं तथा जहां तक मुझे सही याद आता है

भारत सरकार द्वारा उपहार दिया गया एक बड़ा रेडियो-सेट भी था। यह संपूर्ण घर था। बाहर एक छोटा तालाब, सुन्दर पत्थरों की सजावट वाली बगीची थी जिसके पौधों का मैं स्वयं निरीक्षण करता। ल्हासा में प्रत्येक चीज अच्छी तरह उगती है तथा यह बगीची शीघ्र ही रंग बिरंगी हो गयी। कुल मिलाकर मैं वहां खूब खुश था मगर यह खुशी ज्यादा समय नहीं टिकी।

खम, आम्दो और अब मध्य तिब्बत भर में लड़ाई जोर पकड़ती जा रही थी। गर्मियों के आने तक दसियों हजार स्वतन्त्रता सेनानी सेना में शामिल हो चुके थे और अस्त्र-शस्त्रों की कम आपूर्ति के बावजूद ल्हासा के इर्द-गिर्द धावे करते आ रहे थे। कुछ हथियार उन्होंने चीनियों से छीने थे, कुछ ताशिलुंपो के निकट तिब्बती सरकार के शस्त्र भण्डार पर हमले से आए थे और कुछ उन्होंने सी.आई.ए. की दया से पाये थे। मगर अब भी वे अच्छी तरह से सुसज्जित नहीं थे। जब मैं निर्वासन में गया, तो मैंने सुना कि कैसे हवाई जहाजों से हथियार और धन तिब्बत में आ रहा था। हालांकि इन मिशनों ने चीनी बलों की अपेक्षा तिब्बतियों को ही ज्यादा क्षति पहुंचाई। क्योंकि अमेरिकी अपनी सहायता का पता नहीं लगने देना चाहते थे इसलिए उन्होंने ध्यान रखा कि अमरीका निर्मित हथियारों की आपूर्ति न की जाये। इसके बजाये उन्होंने कुछ बेढब बनी बजूका और कुछ प्राचीन ब्रिटिश राईफलें फेंकी जो किसी समय पाकिस्तान और भारत भर में आम प्रयोग में आती रही थीं ताकि पकड़े जाने पर उनके स्त्रोत का पता न लग पाये। लेकिन हवा से गिराते वक्त उन्हें जिस गलत तरीके से पटका गया उससे वे लगभग बेकार हो गई। स्वाभाविक है कि मैंने कभी कोई लड़ाई नहीं देखी थी। मगर सत्तर के दशक के दौरान, ताजा-ताजा तिब्बत से भागे एक बूढ़े लामा ने मुझे बताया कि किस प्रकार उसने आम्दो के दूरस्थ हिस्से के पहाड़ों पर ऊंची बनी एक कुटी से मुठभेड़ देखी थी। छह घुड़सवारों के एक छोटे से समूह ने नदी के एक मोड़ पर बसे कई

गुना मजबूत चीनी सेना के ठिकाने पर हमला कर दिया था।

परिणामस्वरूप भगदड़ मच गई। चीनी आतंकित हो गए और उन्होने चारों तरफ वहशियाना गोली चलाकर बड़ी संख्या में अपने ही सैनिकों को मार दिया। इसी बीच नदी पार भाग चुके घुड़सवार वापिस आए और पहाड़ियों में दोबारा गायब होने से पहले इस बार दूसरी दिशा से पुनः हमला कर दिया। मैं इस प्रकार की वीरता की बात सुनकर बहुत ज्यादा भावुक हो गया।

अपरिहार्य संकट बिन्दु आखिरकार 1958 के दूसरे उत्तरार्द्ध में आ ही गया जब स्वतन्त्रता सेनानियों के गठजोड़ चूशी-गांग्द्रुक के सदस्यों ने ल्हासा के गेट से मुश्किल से दो दिन से कुछ अधिक यात्रा की दूरी पर त्सेथांग स्थित चीनी सेना के एक बड़े ठिकाने को घेर लिया।

इस अवसर पर जनरल तान कुआन से मेरी मुलाकातें बहुत ज्यादा होने लीं। वह किसान जैसा दिखता था। पीले दांतों और छोटे-छोटे बालों वाला यह जनरल मुझे विनती करने, फुसलाने तथा गालियां बकने लगभग हर हफ्ते अपने अकड़बाज दुभाषियों के साथ आने लगा। इससे पहले वह महीने में एक बार से ज्यादा शायद ही कभी आता था। परिणामस्वरूप, मुझे नोर्बुलिंका के अपने वार्ता कक्ष से नफरत होने लगी। इसका वातावरण हमारी मुलाकातों के तनावों से व्याप्त रहता और मैं उसमें जाने से भय खाने लगा।

शुरू में तो जनरल ने कहा कि मुझे 'विद्रोहियों' के विरूद्ध तिब्बती सेना लगा देनी चाहिए। उसने कहा कि ऐसा करना मेरा कर्तव्य है। जब मैंने इंगित किया कि मेरे ऐसा करने से सैनिकों को स्वतन्त्रता सेनानियों के पक्ष में जाने का मौका मिल जायेगा तो वह क्रोधित हो गया। इसके बाद वह तिब्बतियों की कृतघ्नता का वर्णन करता रहा और बोला कि इस सबका अंजाम हमारे लिए बहुत बुरा होगा। आखिरकार उसने ताक्तसेर रिंपोछे और ग्यालो थोंडुप तथा मेरे कई भूतपूर्व कर्मचारियों को जो देश से बाहर थे, मुजरिम करार दिया और मुझे उनकी तिब्बती नागरिकता रद्द करने का आदेश दिया। ऐसा मैंने कर भी दिया। यह सोचकर कि पहली बात तो वे सभी बाहर हैं अतः सुरक्षित हैं। और दूसरी बात स्वयं ल्हासा के भीतर खुले चीनी मुकाबले का न्यौता देने के बजाए फिलहाल उन्हें शान्त करना उचित रहेगा। मैंने महसूस किया कि यदि ल्हासा की जनता लड़ाई

में शामिल हो गई तो शान्ति बहाली की कोई उम्मीद नहीं रहेगी।

इस बीच स्वतन्त्रता सेनानी समझौता करने के मूड में बिलकुल नहीं थे। जो कुछ वे कर रहे थे उसके लिए उन्होंने मेरी स्वीकृति भी प्राप्त करने की कोशिश की। मुझे अफसोस है कि मैं ऐसा नहीं कर सका। हालांकि, युवा व देशभक्त होने के नाते मेरा ऐसा करने का विचार था। मैं अभी भी नेहरू जी की निकट भविष्य में होने वाली यात्रा से उम्मीदें लगाये था। लेकिन ऐन आखिरी पल चीनी अधिकारियों ने इसे रद्द कर दिया। जनरल तान कुआन-सेन ने घोषणा की कि वह भारतीय प्रधानमंत्री की सुरक्षा की गारंटी नहीं ले सकता और न्यौता वापिस लेना पड़ेगा। मैंने महसूस किया कि यह बहुत बड़ा आघात था।

आजाद शरणार्थी

1958 की ग्रीष्मके अन्त में मैं अपनी अंतिम मठीय परीक्षा के प्रारंभिक भाग के लिये सेरा मठ के बाद ट्रेपुंग मठ गया। इसमें इन दोनों अध्ययन केन्द्रों के अति होनहार विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ में कई दिन निकल गए। ट्रेपुंग मठ में पहला दिन सार्वजनिक सभागार में कई हजार भिक्षुओं के अद्भुत ढंग से समवेत मंत्रोच्चार से शुरू हुआ। भगवान बुद्ध, उनके सन्तों व उत्तराधिकारयों, जिनमें से कई भारतीय ऋषि व गुरू थे के प्रति उनकी श्रद्धा से मेरे आंसू आ गए।

ड्रेपुंग से विदा होने से पहले मैं प्रथा के अनुसार मठ के पीछे सबसे ऊंचे पहाड़ की चोटी पर गया जहां से सैकड़ों मील दूर का सुन्दर दृश्य देखा जा सकता था। यह इतना ऊंचा था कि उससे तिब्बतियों के लिए भी ऊंचाई संबंधी बीमारी होने का खतरा था। लेकिन यह पठार घोंसला बनाने वाले सुन्दर पक्षियों तथा तिब्बतियों में उपेल के नाम से जाने जाने वाले जंगली फूलों के लिए ज्यादा ऊंचा नहीं था। ये बेहतरीन पौधे हल्के नीले रंग के लंबे तथा कांटेदार थे और डेल्फीनियम की आकृति के थे।

दुर्भाग्यवश इन आनन्दायक नजारों का मजा इस तथ्य से किरकिरा हो गया कि मेरी सुरक्षा के लिए पहाड़ों में तिब्बती सैनिकों को लगाना जरूरी

था। क्योंकि ट्रेपुंग के बिल्कुल सामने कांटेदार तारों तथा बंकरों समेत एक चीनी सैन्य किला था जिसके घेरे के भीतर प्रतिदिन सैनिकों को अपने छोटे हथियारों और तोपखाने का अभ्यास करते सुना जा सकता था।

परीक्षा खत्म होने पर जब मैं ल्हासा लौटा तो मुझे पता लगा कि अब तक मैं बहुत अच्छी तरह उत्तीर्ण होता रहा हूं। इन मठाधीशों में एक सर्वाधिक विद्वान जिसका नाम पेमा ग्यालत्सेन था ने मुझे बताया कि यदि मुझे एक साधारण भिक्षु के रूप में इसी अध्ययन का अवसर मिला होता तो मेरा कौशल अद्वितीय रहा होता। इसलिए मैं बहुत खुश हुआ कि मुझ जैसे सुस्त शिष्य ने अन्त में स्वयं का अपमान नहीं कराया।

इस छोटी सुखद अवधि के बाद राजधानी वापिस आकर मैंने पाया कि परिस्थितियां मेरे रवाना होने से पहले से काफी ज्यादा बिगड़ी हुई हैं। ल्हासा से बाहर चीनी अत्याचारों से पीड़ित हजारों और शरणार्थी पहुंच चुके थे तथा शहर के वाहर ठहरे हुए थे। अब तक शहर की तिब्बती जनता पहले से दोगुनी हो गई होगी। फिर भी अभी अशान्त शुद्ध विराम चल रहा था और कोई वास्तविक लड़ाई नहीं हुई थी। उसी समय पतझड़ के दौरान अपना शास्त्रार्थ जारी रखने के लिए जब मैं गंदेन गया तो मेरे कई सलाहकारों ने मुझे दक्षिण जाने का अवसर निकालने को कहा जहां अधिकांश भूमि "बौद्ध धर्म के रक्षकों" के हाथों में थी। संभावी योजना यह थी कि तब मुझे सत्रह सूत्री 'समझौते' को निरस्त कर देना चाहिए और तिब्बत के अधिकारपूर्ण प्रशासन के लिए अपनी सरकार की बहाली कर लेनी चाहिए। मैंने उनके प्रस्ताव पर गंभीर विचार किया लेकिन मुझे दोबारा यह निष्कर्ष निकालने पर मजबूर होना पड़ा कि ऐसा करने से सकारात्मक कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। ऐसा ऐलान चीनियों को पुरजोर हमला करने को ही उकसायेगा।

अलविदा मेरे वतन

इसलिए मैं सर्दियों के लम्बे, ठंडे महीनों में अपना अध्ययन जारी रखने को ल्हासा लौट आया। अगले वर्ष के शुरू में मोन्लम त्योहार के दौरान मुझे अपनी अंतिम परीक्षा देनी थो। अपने काम पर ध्यान एकाग्र करना

मुश्किल था। मैं लगभग रोजाना ही शांत जनता के विरुद्ध चीनी अत्याचारों के नए समाचार सुनता। कभी-कभी खबर तिब्बत के पक्ष में होती मगर मुझे इससे भी सुकून न मिलता। साठ लाख तिब्बतियों की जिम्मेवारी का यह विचार ही मुझे चलाए जा रहा था। इस जिम्मेवारी के अलावा मेरे साथ था मेरा धर्म। हर भोर में जब मैं मौन आशीर्वाद में खड़ी छोटी मूर्तियों की खनखनाहट वाली बेदी के सामने अपने कमरे में पूजा के लिए बैठता तब मैं सभी चेतन जीवों के लिए दया विकसित करने पर खूब ध्यान एकाग्र करता। मैं खुद को लगातार भगवान बुद्ध का यह उपदेश याद दिलाता रहता कि हमारा शत्रु एक प्रकार से हमारा महानतम गुरु है। हालांकि ऐसा विश्वास करना मुश्किल था, लेकिन वास्वत में मैंने कभी सन्देह नहीं किया कि ऐसा नहीं है।

आखिरकार हमारा नया साल आ ही गया और मैंने मोन्लम उत्सव के लिए जोखांग में रहने के लिए नोर्बुलिंग्का छोड़ा जिसके बाद मेरी अंतिम परीक्षा आयी। मेरे ऐसा करने से ऐन पहले जनरल चिआंग चिन-वू अपनी प्रथा के अनुसार आया और नव वर्ष का सन्देश लाया। उसने ल्हासा में चीन से एक नृत्य-दल के आने की भी घोषणा की। क्या मैं उनसे मिलना चाहूंगा? मैने जवाब दिया हां। तब उसने कहा कि वे कहीं भी नृत्य दिखा सकते हैं। पर चूंकि चीनी सैन्य मुख्यालय में फुटलाइट्स वाली उचित स्टेज है, अतः बेहतर यही रहेगा यदि मैं वहां जा सकूं। बात जायज थी क्योंकि नोर्बुलिंका में ऐसी सुविधाएं नहीं थीं। इसलिए मैंने कहा कि मुझे वहां जाकर खुशी होगी।

जब मैं जोखांग पहुंचा तो जैसी मुझे उम्मीद थी, मैंने हमेशा की अपेक्षा मन्दिर में खूब ज्यादा जनता का भीड़-भड़क्का पाया। तिब्बत के दूरस्थ ठिकानों से खिंच आई जनता की विशाल भभीड़ में कोई 25-30 हजार भिक्षु अवश्य रहे होंगे।

प्रतिदिन बारखोर तथा लिंगकोर परिक्रमा करने वाले श्रद्धालुओं से ठसाठस भरे होते। उनमें से कुछ पूजा चक्र हाथ में लिए, जो हमारे राष्ट्रीय मंत्र जैसा था पवित्र शब्दों " ओम मणि पद्म हम" को उच्चारित करते रहते। अन्य कई जमीन पर पूरी तरह दण्डवत होने से पहले चुपचाप अपने हाथों को माथे, गले और दिल से छुआते रहते। मन्दिर के सामने बाजार भी

जनता से उफन रहा था। फर्श को छूते रंग बिरंगे परिधानों में महिलाएं, तड़क भड़क वाले खम्पा, जिनके लंबे लंबे बाल चटकीली लाल चोटियों में बंधे और कन्धे से लटकी रायफलें। पहाड़ियों से आये बंजारे तथा हर जगह खुश बच्चे।

मैंने अपने कमरे की खिड़की के पर्दों से झांका। मैंने इतनी उतावली कभी न देखी थी। मैं निपट अकेला होने के बावजूद महसूस किये बिना न रह पाया कि इस बार कुछ खास घटने वाला है। ऐसा लग रहा था मानो हरेक को पता हो कि कोई बहुत बड़ी घटना होने वाली है।

120

आज़ाद शरणार्थी

मुख्य मोन्लम समारोह, जिसमें लंबा वाचन होता है, के पूरा होते ही दो कनिष्ट चीनी कर्मचारी नृत्यदल देखने का जनरल चिआंग चिन-वू का न्यौता बिना बताये दोहराने आ गए। उन्होंने उस तिथि के बारे में भी पूछा जब मैं हाजिर हो सकता था। मैंने जवाब दिया कि उत्सव के पूरा होने के बाद आने पर मुझे प्रसन्नता होगी। उस पल इसके बजाए मेरे लिए विचार करने को इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण चीजें थीं मसलन मेरी अंतिम परीक्षा, जो शीघ्र ही होने वाली थी।

पहली रात मैंने सच्चाई से प्रार्थना की और ऐसा करने के बाद पहले से कहीं ज्यादा भय और अन्तहीन जिम्मेवारियों को अपने पद से जुड़ा पाया। तब अगली सुबह मैंने स्वयं को शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत किया जो कई हजारों लोगों के बीच होना थी। दोपहर से पहले विषय थे 'तर्क' तथा 'ज्ञानमीमांसा' और मेरे विरोधी थे मेरे जैसे स्नातकार्थी। दिन में विषय थे 'मध्यामिका' और 'प्रज्ञापरमिता' जिस पर स्नातकों के साथ शास्त्रार्थ था। शाम को सभी पांचों विषय मुझ पर उछाल दिए गए इस बार स्नातकों द्वारा जो सभी मुझसे बड़े और मुझसे ज्यादा अनुभवी थे।

अन्त में शाम के लगभग सात बजे यह सब समाप्त हुआ। मैंने थकावट महसूस की। लेकिन साथ ही मैं राहत और प्रसन्नता अनुभव कर रहा था क्योंकि निर्णायकों की समिति ने सर्वसम्मति से मुझे स्नातक पदवी तथा

गेशे या डॉक्टर ऑफ बुद्धिस्ट स्ट्डीज़ की उपाधी पाने के योग्य समझा था। हमेशा की तरह 5 मार्च को मैं एक भव्य जुलूस में नोर्बुलिंका लौटने के लिए जोखांग से रवाना हुआ। आखरी बार एक हजार से ज्यादा वर्षों की अबाधित सभ्यता की चटख दिखाई दे रही थी। जिस पालकी में मैं बैठा था, उसे चटकीले रंगो वाली उत्सवी पोशाकों में सजे मेरे अंगरक्षक घेरे हुए थे। उनके पीछे रेशमी और लहराते वस्त्रों में सजे-धजे काशाग के सदस्य तथा ल्हासा के कुलीन थे और उनके घोड़े ऐसे कदम उछाल रहे थे मानो उन्हें पता हो कि उनके मुंह में लगी लगामें सोने की बनी हैं। उनके पीछे आ रहे थे सर्वाधिक प्रमुख मठाधीश और देश के प्रमुख लामा, कुछ दुर्बल और तपस्वी लग रहे थे जबकि कुछ उच्च दर्जे के आध्यात्मिक स्वामी होते हुए भी समृद्ध व्यापारी से लग रह थे। अन्त में हजारों नागरिक रास्ते में पंक्तिबद्ध थे और दोनों भवनों के बीच चार मील का पूरा रास्ता उत्सुक दर्शकों से ठसाठस भरा था। गायब थे तो केवल चीनी जिन्होंने यहां आने के बाद से पहली बार जत्था भेजने में कोताही की थी। इससे मेरे अंगरक्षकों या सेना में से किसी को भी आश्वस्ति नहीं हुई। सेना ने अपने आदमी, स्वतन्त्रता सेनानियों से मेरी 'सुरक्षा' के दिखावे के तौर पर नजदीकी पहाड़ी पर तैनात कर रखे थे। लेकिन वास्तव में उनके दिमाग में शत्रु कोई और ही था। मेरे अंगरक्षकों को भी ऐसा ही अंदेशा था। उनमें से कईयों ने खुली पोजीशन ली और चीनी. सैन्य मुख्यलयों की तरफ अपनी ब्रेन-गर्ने ताने रखें।

दो दिन बीते भी नहीं थे कि मुझे चीनी अधिकारियों का अप्रत्यक्ष संदेश मिला। वे पक्के तौर पर जानना चाहते थे कि रंगमंच कार्यक्रम के लिए मैं कब हाजिर हो पाऊंगा।

मैंने जवाब दिया कि 10 मार्च सुविधाजनक रहेगा। दो दिन बाद, नृत्य से पहले वाले दिन, कुछ चीनी मेरे अंगरक्षक दल के कमाण्डर कुसुन देपोन के घर आये और बोले कि उसे सैन्य सलाहकार ब्रिगेडियर फु के मुख्यालय पर ले जाने को कहा गया है। वह अगली शाम मेरी यात्रा के प्रबन्धों की

उसे जानकारी देना चाहता है।

ब्रिगेडियर ने कहना शुरू किया कि चीनी अधिकारी चाहते हैं कि मेरी यात्रा में हमेशा की तरह का समारोह और औपचारिकतांए न हों। वह इस बात पर विशेष अड़ा था कि मेरे साथ कोई तिब्बती सैनिक न हों। बहुत ही जरूरी हो तो दो या तीन शस्त्रहीन अंगरक्षक हो सकते हैं। साथ ही यह भी जोड़ा कि वे सारे मामले का संचालन पूर्ण गोपनीयता में करना चाहते हैं। ये सारी मांगें बड़ी अजीब लगीं और बाद में इनके बारे में मेरे सलाहकारों के बीच काफी विचार-विमर्श होता रहा। सभी सहमत थे कि मैं कूटनीतिक मर्यादा भंग किए बिना इन्कार नहीं कर सकता, जिसके बहुत नकारात्मक परिणाम हो सकते हैं। इसलिए मैं कम से कम हंगामे के साथ जाने तथा अपने साथ मुट्ठीभर अनुचर ले जाने को सहमत हो गया।

मेरे छोटे भाई तेनजिन चोग्याल को भी आमन्त्रित किया गया था। उन दिनों वह द्रेपुंग मठ में अध्ययनरत था। इसलिए उसे अलग यात्रा करनी थी। इसी बीच खबर फैल गई कि अगले दिन चीनी मुख्यालयो के करीब नदी के पत्थरों के पुल के इलाके में यातायात बंद रहेगा।

मेरी गतिविधियों को पूरी तरह गोपनीय रखना निस्संदेह ही पूर्ण असंभव था। और चीनी इसे गोपनीय रखना चहते हैं इस तथ्य से मेरी जनता को धक्का लगा, जो पहले ही मेरी सुरक्षा को लेकर काफी चिन्तित थी। यह खबर सूखी घास में आग की तरह फैल गयी।

परिणाम विपदाजनक था। अगली सुबह प्रार्थना और नाश्ते के बाद मैं बगीचे में सैर के लिए भोर के धुधलके में गया। अचानक कुछ दूरी पर चिल्लाहट सुनकर मैं दंग रह गया। मैं वापिस भीतर भागा तथा अपने अनुचरों को पता लगाने भेजा कि शोर किस बात का है। जब वे वापिस लौटे तो मुझे बताया कि लोग ल्हासा से निकलकर हमारी दिशा में बढ़ रहे हैं। उन्होंने खुद आने और चीनियों से मेरी रक्षा करने का निश्चय किया है। सुबह भर उनकी संख्या बढ़ती रही। कुछ ज्वेल पार्क के हर प्रवेश द्वार पर जत्थों में रहे और अन्य इसके चारों और फैल गये। दोपहर तक लगभग तीस हजार लोग जमा हो चुके थे। सुबह कशाग के तीन सदस्यों को मुख्य द्वार से भीड़ में से गुजरने में दिक्कत हुई। लोग उस हर किसी से वैमनस्य दिखा रहे थे जिसे वे चीनियों से मेलजोल का दोषी मानते थे। एक वरिष्ठ

कर्मचारी को जो अपने अंगरक्षक के साथ कार में आया था, पत्थर मारे गए और बुरी तरह घायल कर दिया गया क्योंकि लोगों ने सोचा कि वह देशद्रोही है। उन्हे गलत फहमी हुई थी। 1980 के दशक के दौरान उसका बेटा, जो सत्रह-सूत्री 'समझौते' पर हस्ताक्षर करने को मजबूर किए प्रतिनिधिमण्डल का एक सदस्य था, भारत आया था और उसने जो कुछ हुआ था उसका विस्तृत विवरण दिया था।

इसके बाद किसी व्यक्ति को जान से मार डाला गया

इस खबर से मुझे सदमा पहुंचा। इस स्थिति को शांत करने के लिए कुछ न कुछ करना ही था। मुझे ऐसा लगा कि क्रोध की अग्नि में जलती भीड़ कहीं चीनी सैन्य ठिकाने पर ही न हमला बोल दे। कई लोकप्रिय नेता तुरत-फुरत चुने गए और वे अब चीनियों को तिब्बत तिब्बतियों के लिए छोड़ने को कह रहे थे। मैंने शान्ति के लिए प्रार्थना की। साथ ही मैंने महसूस किया कि मेरी व्यक्तिगत भावनाएं कुछ भी क्यों न हों, उस शाम मेरे चीनी मुख्यालय में जाने का कोई सवाल ही नहीं उठता। तदानुसार, मेरे संसद प्रधान ने टेलीफोन पर मेरी ओर से खेद जताया, मेरे निर्देश पर यह जोड़ते हुए कि मुझे उम्मीद है कि स्थिति अतिशीघ्र बहाल हो जायेगी तथा भीड़ को तितर-बितर होने के लिए मना लिया जा सकेगा।

लेकिन नोर्बुलिंका के द्वारों पर जमा भीड़ टस से मस होने को तैयार न थी। लोगों व उनके नेताओं के ख्याल में, दलाई लामा की जिन्दगी खतरे में थी और वे तब तक नहीं जाएंगे जब तक कि मैं उन्हें व्यक्तिगत आश्वासन नहीं दे देता कि मैं उस शाम चीनी सैन्य मुख्यालयों में नहीं जाऊंगा। मैंने अपने एक कर्मचारी के माध्यम से ऐसा आश्वासन दिया। लेकिन यह पर्याप्त नहीं था। तब उन्होने मांग की कि मुझे कभी भी कैंप में नहीं जाना चाहिए। दोबारा उन्हें मेरा आश्वासन दिया गया जिससे अधिकतर नेता चल पड़े और शहर में चले गए वहां और प्रदर्शन किए गए। लेकिन अधिकतर जनता नोर्बुलिंका के सामने बनी रही। दुर्भाग्यवश वे नहीं जानते थे कि उनके चले जाने की अपेक्षा उनकी वहां लगातार उपस्थिति से ज्यादा बड़ा खतरा पैदा

होता था।

उसी दिन मैंने अपने तीन वरिष्ठतम मंत्रियों को जनरल तान कुआन-सेन से मिलने भेजा। संयोगवश जब वे उसके मुख्यालय पर पहुंचे तो उन्होंने पाया कि न्गाबो नावांग जिग्मे वहां पहले से ही मौजूद हैं। शुरू में तो चीनी विनम्र रहे। लेकिन जब जनरल आया तो उसने अपने गुस्से को छिपाया नहीं। उसने तथा अन्य दो वरिष्ठ अधिकारियों ने 'साम्राज्यवादी विद्रोहियों के द्रोह के बारे में तिब्बती मंत्रियों को कई घंटे पूछताछ करके परेशान किया। वे ये आरोप भी जोड़ रहे थे कि चीनी अधिकारयों के विरुद्ध तिब्बती सरकार गुपचुप तरीके से आन्दोलनों का आयोजन करा रही है। इसके अलावा उनका आरोप था कि तिब्बत सरकार ने चीनियों के आदेशों की अवज्ञा की है और ल्हासा में 'विद्रोहियों' के निरस्त्रीकरण से इन्कार किया है। उन्होंने धमकी दी कि इस विरोध को कुचलने के लिए कठोर कदम उठाये जाएंगे।

जब उन्होंने उस शाम वापस लौटकर मुझे नोर्बुलिंका के प्रवचन कक्ष में यह खबर दी तो मुझे समझ आया कि चीनी अल्टीमेटम जारी कर रहे हैं। इसी बीच लगभग छह बजे कोई सत्तर कनिष्ठ सरकारी कर्मचारियों के सदस्यों ने जनता के बचे हुए नेताओं के साथ नोर्बुलिंका के बाहर बैठक की और सत्रह-सूत्री 'समझौते' की निन्दा में एक घोषणा तैयार की, यह जोड़ते हुए कि तिब्बत चीनी अधिकार को नहीं मानता। जब मैंने इसके बारे में सुना तो मैंने ऐसा एक सन्देश भेजा कि नेताओं का कर्तव्य यह है कि वे तनाव कम करें न कि उसे और बढ़ायें।

लेकिन मेरी सलाह शायद ऐसे कानों से टकराई लगती थी जो कुछ सुनने को राजी न थे। बाद में उसी शाम एक पत्र संदिग्ध रूप से नरम सुर में जनरल तान कुआन-सेन की तरफ से यह सुझाव लिए आया कि मुझे अपनी सुरक्षा की खातिर उसके मुख्यालय में चले आना चाहिए। मैं उसकी धृष्टता पर हैरान था। ऐसा कुछ करने का सवाल ही नहीं पैदा होता था। फिर भी कुछ समय निकालने की नीयत से मैंने उसे मेलजोल के सुर में एक खत लिख दिया। अगले दिन 11 मार्च को भीड़ के नेताओं ने सरकार

से कहा कि वे केबिनेट आफिस के बाहर पहरेदार तैनात करेंगे, जो नोर्बुलिंका की बाहरी दीवार के भीतरी तरफ स्थित था। ऐसा किसी भी मंत्री को महल के मैदान से निकलने से रोकने के लिये किया जाना था। उन्हें भय था कि यदि उन्होंने कानून अपने हाथों में नहीं लिया तो चीनी अधिकारी सरकार को समझौता करने पर मजबूर कर देंगे। इस पर काशाग ने इन नेताओं के साथ बैठक की और उनसे प्रदर्शन वापस लेने की प्रार्थना की क्योंकि इससे खुली टक्कर में शामिल होने का खतरा था। शुरु में तो नेताओं ने सुनने की इच्छा दिखाई मगर तब तक जनरल तान कुआन-सेन के दो पत्र और आ गए। इनमें से एक मुझे संबोधित किया गया था, दूसरा काशाग को। दूसरे खत के जवाब में जो कि पहले वाले खत जैसा था, मैंने दोबारा सहमत होते हुए विनम्रता से कहा कि भीड़ के बीच में ही कुछ खतरनाक तत्व हैं जो तिब्बत व चीन के बीच संबंधों को कमजोर करना चाहते हैं। मैंने यह भी सहमति प्रकट की कि यदि मैं अपनी सुरक्षा के लिए उसके मुख्यालय में चला जाऊं तो यह एक अच्छा विचार होगा। लेकिन हो सकता है कि यह अच्छा न भी हो। अपने दूसरे खत में जनरल ने मंत्रियों को भीड़ से यह निर्देश देने का आदेश दिया था वे उन रुकावटों को हटा लें जो उन्होंने चीन जाने वाली सड़क पर ल्हासा के बाहर खड़ी की हैं। दुर्भाग्यवश इसका उलटा असर हुआ। भीड़ के नेताओं को ऐसा लगा कि इनको हटाने की कहकर चीनी स्पष्ट इंगित कर रहे हैं कि वे ताजा सेनाएं लाने की योजना बना रहे हैं जिसे दलाई लामा पर आक्रमण करने के लिए प्रयोग किया जायेगा। वे इन्कार कर गए।

यह सुनकर मैंने तय किया कि उन लोगों से स्वयं बात करूं। मैंने समझाते हुए बात की कि गंभीर खतरा तो यह है कि यदि लोग अति शीघ्र नहीं हटे तो चीनी सैनिक भीड़ को छितराने के लिए बल प्रयोग करेंगे। मेरी अनुनय-विनय आंशिक रूप से सफल रही क्योंकि इसके बाद उन्होंने घोषणा की कि वे पोताला की तलहटी में शोल गांव चले जायेंगे जहां अन्ततः कई क्रोधभरे प्रदर्शन किए गए। लेकिन नोबूलिंका के बाहर अधिकतर लोग बने रहे। मैं तुरत-फुरत में बुलाये गये ओझा से विचार विमर्श करने लगा। मैं रुकूं या भाग जाऊं? मुझे क्या करना चाहिए? ओझा ने स्पष्ट कर दिया कि मुझे रूकना चाहिये और चीनियों से बातचीत जारी रखनी चाहिये। एक बार तो मैं अनिश्चित था कि क्या यही कुछ करना सर्वोत्तम है। मुझे लुखांग्वा की यह टिप्पणी याद आई कि जब स्वयं देवता परेशान हो जाते हैं

तो वे भी झूठ बोलने लगते हैं। इसलिये मैंने दोपहर में 'मो' दैवी की साधना की, इसका भी वही परिणाम निकला।

अगले कुछ दिन भयावह ऊहापोह में गुजरे। मुझे चीनी सैनिक जमाव की खबरें मिलनी शुरू हो गई तथा लोगों का मूड लगभग पागलपन का हो गया। मैंने दूसरी बार ओझा से परामर्श लिया मगर उसका जवाब वही पहले वाला था। तब 16 तारीख को मुझे न्गाबो के पत्र के साथ जनरल तान का तीसरा व अन्तिम पत्र मिला। जनरल तान का तीसरा पत्र भी पहले दोनों जैसा ही था। दूसरी तरफ न्गाबो ने वह स्पष्ट कर दिया था जिसका मुझे तथा अन्य हरेक को धुंधला सा अंदेशा था। वह यह कि चीनी भीड़ पर हमला करने तथा नोर्बुलिंका पर बमबारी करने की योजना बना रहे थे। वह चाहता था कि मैं नक्शे पर इंगित कर दूं कि मैं कहां रहूंगा ताकि तोपची को जिस भवन पर मैं निशान लगाऊं, उस से परे निशाना दागने को समझाया जा सके। यह बड़ा डरावना पल था क्योंकि सच्चाई सामने आ रही थी। न केवल मेरी अपनी जिन्दगी खतरे में थी बल्कि मेरी हजारों जनता की जान भी निश्चित ही जाती दिख रही थी। काश उन्हें अपने घर लौटने को मनाया जा सकता। निश्चित रूप से वे जान जाते कि वे चीनियों को अपनी भावनाओं की ताकत दिखा चुके हैं। लेकिन अब क्या फायदा? वे क्रूर तरीकों वाले बिन बुलाए विदेशी मेहमानों के प्रति इतने भयानक गुस्से में थे कि उन्हें कोई नहीं हिला सकता था। वे अन्त तक डटे रहेंगे और अपने अमूल्य संरक्षक की रक्षा करते मारे जायेंगे। मैंने अनमने ढंग से न्गाबो व जनरल तान को कुछ इस तरह का जवाब भेज दिया कि ल्हासा की जनता के बीच प्रतिक्रियावादी तत्वों के अपमानजनक व्यवहार पर मैं दुखी था। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि मैं अभी भी चीनी मुख्यालय में जाकर रहने के पक्ष में था। लेकिन ऐसा करना फिलहाल मुश्किल था तथा मुझे उम्मीद थी कि वे भी गड़बड़ी शान्त होने का धैर्य से इन्तजार कर सकेंगे। वक्त निकालने के लिए कुछ तो करना ही था। आखिरकार भीड़ हमेशा ही तो वहां नहीं रहनी थी। मैंने यह नहीं बताया

कि महल में मैं कहां पर हूं। मुझे उम्मीद थी कि इस ज्ञान की कमी से अनिश्चितता तथा देरी होगी। खत भेजकर मुझे सूझ नहीं रहा था कि अब क्या करूं? अगले दिन मैंने फिर ओझा से सलाह ली। मेरी हैरानी देखिए कि वह चिल्लाया "जाओ, आज की रात ही जाओ।" अभी अपनी मूर्च्छा में ही वह आगे लड़खड़ाकर बढ़ा तथा एक कागज व पॅन खींचकर साफ-साफ तथा विस्तार से वह रास्ता उस पर लिखा जो मुझे नोबूलिंका से निकलकर भारतीय सीमा पर अन्तिम तिब्बती कस्बे तक अपनाना था। उसकी दिशाएं वे न थीं, जिनकी उम्मीद की जा सके। ऐसा कर चुकने पर लोबसंग जिग्मे नामक वह युवा भिक्षु मूर्च्छा में गिर गया जिसका अर्थ था कि दोर्जी द्राकदेन उसका शरीर छोड़कर चला गया था। बिल्कुल तभी, मानो ओझा की सलाह को और बल देने के लिए, नोर्बुलिंका के उत्तरी गेट के बाहर दलदल में तोप के दो गोले फटे। इस घटना के इक्तीस वर्षों से ज्यादा के फासले से मुड़कर देखते हुए मैं आश्वस्त हूं कि दोर्जी द्राकदेन को शुरू से ही पता था कि मुझे 17 को ल्हासा छोड़ना है।

लेकिन बात फैलने के भय से उसने ऐसा नहीं कहा। यदि योजनाएं ही न बनें तो किसी को उनका पता भी न लगे। फिर भी मैंने अपने भागने की तैयारियां तुरन्त हीं शुरू नहीं कर दीं। पहले मैं ओझा के निर्णय की पुष्टि करना चाहता था, जो मैंने एक बार फिर मो साधना करके की। इसका उत्तर ओझा की पुष्टि करता तो भी सफल पलायन के विरूद्ध संभावनाए काफी आतंकपूर्ण थीं। भीड़ पहले तलाशी लिए बगैर और फिर पूछताछ किए बिना न केवल किसी को महल के मैदान से बाहर आने या जाने दे रही थी बल्कि न्गाबो के पत्र ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि चीनी इस संभावना पर विचार कर चुके हैं कि मैं शायद भागने की कोशिश करूं। उन्होंने चौकसी कर ली होगी। फिर भी अलौकिक सलाह मेरे तर्क से मेल खा रही थी। मैं आश्वस्त था कि भीड़ छंटने के लिए मेरा यहां से हटना ठीक रहेगा। यदि मैं ही न रहूंगा तो लोगों के लिए यहां रहने का कोई कारण न होगा। इसलिए मैंने सलाह मानने का निश्चय किया।

क्योंकि परिस्थितियां बहुत हताशाजनक थीं अतः मैं जान गया कि मुझे निर्णय जितना हो सके उतने ही कम लोगों को बताना चाहिए। इसलिए मैंने सबसे पहले सिर्फ अपने संसद प्रधान तथा चिकयाब केंपो को ही बताया। उनका काम रात में दल के महल छोड़ने की तैयारियां करने का था मगर, बिना किसी को पता लगे कि इस दल में कौन होगा। हमने इस पर विचार किया वे इसे कैसे करेंगे, और इस पलायन दल में कौन-कौन शामिल होगा। तय हुआ कि मैं अपने साथ मेरे दो शिक्षकों व परिवार के मौजूद सदस्यों के समेत नजदीकी सलाहकार ही ले जाऊंगा।

उस दोपहर बाद मेरे शिक्षकों व कशाग के चार सदस्यों ने एक लारी के पीछे तिरपाल के नीचे छुपकर महल छोड़ दिया और शाम को मेरी मां, तेनजिन चोग्याल ओर सेरिंग डोल्मा वेश बदलकर कयीचू नदी के दक्षिण दिशा में एक मठ जाने के बहाने खिसक गए। मैंने तब जनप्रिय नेताओं को बुलाया और न. केवल अधिकतम सहयोग मांगा जो मैं जानता था कि मिलेगा बल्कि पूर्ण गोपनीयता की जरूरत पर बल देते हुए अपनी योजना भी उन्हें बता दी। मुझे यकीन था कि भीड़ में चीनियों के जासूस होंगे। जब ये आदमी चले गए तब मैंने नेताओं को पत्र लिखकर समझाया कि मेरे जाने का कारण क्या है तथा प्रार्थना की कि वे आत्म-सुरक्षा के अलावा गोली न चलायें व विश्वास व्यक्त किया कि वे इस सन्देश को जनता तक पहुंचा देंगें। यह पत्र अगले दिन जारी होना था।

रात होने पर मैं अपने व्यक्तिगत संरक्षक आराध्य महाकाल को समर्पित पूजा कक्ष में आखरी बार गया। मैं इसके भारी चरमर्राते दरवाजों से घुसा। सामने क्या है यह देखने के लिए मैं एक पल रुका। देवता की बड़ी प्रतिमा के पास नीचे बैठे बहुत से भिक्षु प्रार्थना गा रहे थे। कमरे में विद्युत प्रकाश नहीं था। सुनहरी और चांदी की प्लेटों में पंक्तियों में रखे दर्जनों घी के दीपकों की मंद चमक ही थी। बहुत से चित्र दीवारों को ढके हुए थे। त्साम्पा का एक छोटा सा चढ़ावा वेदी पर एक तश्तरी पर चढ़ाया हुआ था। एक सेवक जिसका आधा चेहरा छाया में था,

एक बड़े घड़े पर झुका था जिसमें से वह दीपकों के लिए कड़छी से घी निकाल रहा था। किसी ने भी ऊपर नहीं देखा यद्यपि मुझे पता था कि मेरी उपस्थिति का भान उन्हें था। मेरे दाहिने हाथ की ओर एक भिक्षु ने अपने खड़ताल उठाये, जबकि एक और ने सींग अपने होठों पर लगाया तथा लंबी दुखद धुन छेड़ी। खड़ताल आपस में टकरा रहे थे और हिलते हुए बजते जा रहे थे। इसकी ध्वनि सुकून दे रही थी।

मैं आगे बढ़ा और सफेद रेशम का खाताग (रूमाल) देवता को भेंट किया। यह विदाई के समय का पारंपरिक तिब्बती भाव है। और न केवल आराधक श्रद्धा प्रदर्शित करता है बल्कि इसमें लौटने की मंशा भी निहित है। एक पल के लिए मैं मौन प्रार्थना में अटका रहा। भिक्षुओं को अब सन्देह होगा कि मैं जा रहा हूं। लेकिन मैं उनकी चुप्पी के बारे में आश्वस्त था। कमरे से निकलने के पहले मैं कुछ मिनटों के लिए बैठा और वहां रुककर बुद्ध के 'सूत्र' पढ़ने लगा। जिस स्थान पर "विश्वास तथा साहस विकसित करने" की बात है वहां मैं कुछ रुका। रवाना होते वक्त मैंने किसी से कहा कि बाकी पूरे भवन की बत्तियां मेरे सीढ़ियों से उतरने से पहले मंद कर दे। सीढ़ियों पर मुझे अपना एक कुत्ता मिला। मैंने इसे थपथपाया। मुझे खुशी थी कि यह कुत्ता कभी मेरा बहुत अच्छा दोस्त नहीं रहा। इससे हमारा बिछुड़ना इतना मुश्किल न था। मैं अपने पीछे अपने अंगरक्षकों तथा सफाई कर्मचारियों को छोड़कर जाते वक्त बहुत ज्यादा उदास था। बाहर मार्च की कंपकंपा देने वाली हवा चल रही थी। भवन के मुख्य प्रवेश द्वार पर एक जगह थी जहां से दोनों तरफ सीढ़ियां उतर रही थीं। मैं इसमें घूमते समय एक हिस्से पर रुक कर सुरक्षित भारत पहुंचने की कल्पना की। दरवाजे पर वापिस आते हुए मैंने तिब्बत लौटने की कल्पना की। इस से कुछ मिनट पहले एक अपरिचित पतलून व एक लंबा काला कोट पहनकर मैंने अपने दायें कन्धे पर एक रायफल लटकायी और बायें कंधे पर एक पुराना थांका लपेटा जो कभी दूसरे दलाई लामा का होता था। तब अपना चश्मा जेब में सरकाते हुए मैंने बाहर कदम रखे। मैं बहुत भयभीत था। मेरे साथ आकर दो दैनिक मुझे चुपचाप भीतरी दीवार के गेट तक ले गये जहां मुझे कुसुन देपोन मिला। उसके साथ मैंने पार्क का अन्धेरा रास्ता टटोला। मैं बड़ी मुश्किल से कोई चीज देख पा रहा था। बाहरी दीवार पर पहुंचने पर हमें चिकयाब केंपो मिला। मैं इतना भर देख पाया कि एक तलवार से सुसज्जित है। उसने मुझसे धीमी व आश्वस्त

करती आवाज में बात की। मुझे हर कीमत पर उसके साथ रहना था। गेट से गुजरते हुए उसने बहादुरी से वहां जमा लोगों को बताया कि वे निरीक्षण के नियमित दौर पर जा रहे हैं। इससे हम सबको गुजरने दिया गया। आगे कोई कुछ न बोला।

जब मैं ठिठका तो मुझे बहुत बड़ी भीड़ के वहां होने का आभास हुआ। लेकिन उन्होंने हम पर ध्यान नहीं दिया और कुछ मिनट तक चलकर हम एक बार फिर अकेले थे। हम भीड़ से तो रास्ता बनाने में कामयाब हो गए थे लेकिन अब निबटने के लिए चीनी बाकी थे। पकड़े जाने के विचार से ही मैं आतंकित हो गया।

अपनी जिन्दगी में पहली बार मैं सचमुच डरा हुआ था इतना ज्यादा नहीं बल्कि उन लाखों लोगों के लिए जिन्होंने मुझ पर विश्वास किया था। यदि में पकड़ा जाता तो सब कुछ खत्म हो जाता। थोड़ा खतरा इस बात का भी था कि कहीं स्वतन्त्राता सेनानी, जिन्हें पता तक ही नहीं कि क्या हो रहा था हमें चीनी सैनिक न समझ बैठें। हमारी पहली बाधा थी क्यीचू की सहायक नदी जहाँ मैं बचपन में घूमने जाता था। बाद में ताथाग रिंपोछे ने उसके लिये मना किया था। इसे पार करने के लिए हमें सीढ़ीदार पत्थरों का सहारा लेना पड़ा, जिनसे गुजरना मुझे बिना चश्मों के बहुत ज्यादा मुश्किल लगा। मैंने कई बार अपना सन्तुलन खोया। तब क्यीचू नदी के उस पार पहुंचने से थोड़ा पहले हमें लोगों का बड़ा समूह मिला। संसद प्रधान ने उनके नेता से संक्षिप्त सी बातचीत की और तब हम नदी के किनारे पर जा पहुंचे। मल्लाहों के छोटे से दल समेत कई छोटी किश्तियां वहां हमारी बाट जोह रही थीं। अपने लिए

हम आराम से पार हो गए मुझे यकीन था कि चप्पुओं की किसी भी छपाक पर हम पर मशीन गनों की बौछार हो जायेगी। उस समय ल्हासा में तथा उसके आसपास चीनी सेना के दसियों हजार सैनिक तैनात थे तथा ऐसा नहीं हो सकता था कि हम पर उनकी निगाह न पड़े। दूसरी तरफ हमें

स्वतन्त्रता सेनानियों का एक दल मिला जो कुछ टट्टूओं के साथ हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। यहां हमारे साथ मेरी मां, मेरा भाई, बहन और मेरे गुरू भी शामिल हो गए। तब हम अपने वरिष्ठ कर्मचारियों के इन्तजार में थोड़, रुके, जो हमारे साथ शामिल होने के लिए पीछे आ रहे थे। इन्तजार करते वक्त हम तेज फुसफुसाहटों में चीनियों के दुष्ट व्यवहार पर बातें करते रहे जिन्होंने हमें इस हालत में धकेल दिया था। मैंने अपना चश्मा दोबारा पहन लिया दिखाई न देना मुझसे अब और सहन नहीं हो रहा था। तभी चीनी सैनिकों की टार्चलाईट दिखनी शुरू हो गई थी। सौभाग्यवश, चांद निचले बादलों से ढका हुआ था और बहुत कम दिखाई दे रहा था।

ज्यों ही बाकी लोग पहुंचे हम पहाड़ियों तथा चे-ला दर्रे को चले, जो ल्हासा घाटी को त्सांग्पो घाटी से अलग करता है। भोर के तीन बजे के आसपास हम एक साधारण से फार्म हाउस में रुके जो अगले कुछ सप्ताहों में मुझे मिले कई आश्रयों में से पहला था। लेकिन हम ज्यादा देर नहीं रुके और थोड़ी देर के बाद दर्रे के रास्ते पर रवाना हो गए जहां हम आठ बजे के लगभग पहुंचे। यहां पहुंचे ज्यादा वक्त नहीं हुआ था कि भोर की पहली किरण में हम अपनी जल्दबाजी का नतीजा देखकर अवाक रह गए। टट्टूओं उनकी काठियों तथा सवारों का घालमेल हो गया था। क्योंकि मठ ने यह जानवर बिना पूर्व सूचना के उपलब्ध कराये थे। और अन्धेरे के कारण अच्छे टट्टूओं पर निकृष्ट काठियां कसी गयी थीं और इन पर गलत आदमी सवार थे। सबसे बूढ़े और ढीले-ढाले खच्चरों पर बहुत अच्छी काठियां थी, और उन पर सर्वाधिक वरिष्ठ कर्मचारी सवार थे। 16 हजार फुट के दर्रे की चोटी चे-ला का अर्थ है रेतीला दर्रा वहां मेरा टट्टू वाला साईस रुका और मुझे यह कहते हुए कि इस यात्रा में ल्हासा को एक निगाह देखने का आखरी मौका है,

टट्टू घुमा दिया। काफी नीचे दूर तक फैला शहर हमेशा की तरह शान्त दिख रही था। मैंने नीचे उतरने और इसकी रेतीली ढाल पर दौड़ने से पहले कुछ मिनट प्रार्थना की। तब हम जरा सी देर रुके और फिर त्सांग्पो के किनारों

की तरफ चल दिए जहां दोपहर से कुछ ही पहले पहुंचे। इसे नाव द्वारा पार करने की वहां सिर्फ एक ही जगह थी और हम इस उम्मीद पर टिक थे कि चीनी सेना यहां तक अभी नहीं पहुंची होगी। वह पहुंची भी नहीं थी। दूसरी तरफ हम एक छोटे से गांव में रुके, जहां के निवासी मेरा अभिवादन करने आए। अब हम तिब्बत के सर्वाधिक कठिन इलाकों में से एक के किनारे थे। इस इलाके में बहुत ही कम और दूर-दूर बसी हुई बस्तियां थीं। इस इलाके को स्वतन्त्रता सेनानियों ने अपना बना लिया था। मुझे पता था कि यहां के बाद से हम सैकड़ों गुरिल्ला योद्धाओं से घिरे रहेंगे जिन्हें हमारे आने की सूचना दे दी गई थी और अब आगे यात्रा में हमारी सुरक्षा का जिम्मा उनका था।

चीनियों के लिये हमारा पीछा करना मुश्किल होता लेकिन यदि उन्हे हमारे पते ठिकाने का पता होता तो वे आसानी से हमारे संभवित रास्ते का अंदाज लगाकर हमें बीच में रोकने के लिए सेना आगे भेज सकते थे। इसलिये हमारी सुरक्षा के लिए पचास के. करीब अनियमित लड़ाकुओं के साथ कोई साढ़े तीन सौ तिब्बती जमा हो चुके थे। अब तक हमारे दल में भी सौ के लगभग आदमी हो चुके थे। मेरे सिवा सभी के पास पर्याप्त हथियार थे। यहां तक कि उसके पास भी जिसे मेरे व्यक्तिगत रसोइया नियुक्त किया गया था। वह भी सी.आई.ए. द्वारा प्रशिक्षित नौजवानों में से एक था। उसके पास भारी भरकम बाजुका था और कमर में विशाल और भयानक दिख रहे इस हथियार को प्रयोग करने को इतना लालायित था कि एक मौके पर वह लेट गया और एक स्थान पर कई गोलियां चला दीं जिसे वह शत्रु की पोजीशन जैसा लगा था। लेकिन उसमें पुनः गोलियां भरने में इतना समय लगा कि मुझे लगा कि इससे असली दुश्मन का काम आसान हो गया होता। कुल मिलाकर इसका प्रदर्शन प्रभावशाली नहीं था। हमारे दल में सी.आई. ए. के लिए काम करने वाला एक और आदमी था। वह रेडियो आपरेटर था जो यात्रा भर स्पष्ट रूप से अपने मुख्यालय से संपर्क बनाए था। यह मुझे आने तक ठीक से पता नहीं कि वह किसके संपर्क में था। मुझे सिर्फ इतना पता है कि उसके पास एक मोर्स की ट्रांसमीटर था।

उस रात हम रा-मे नामक मठ में रुके जहां मैंने पंचेन लामा के लिए पत्र लिखा और उन्हें अपने पलायन के बारे में बताया, और सलाह दी कि यदि

संभव हो तो भारत आकर मेरा साथ दें। मुझे सर्दी के मध्य के बाद से उनकी कोई खबर नहीं मिली थी, जब उन्होंने आगामी वर्ष के लिए अपनी शुभकामनाएं भेजी थीं। एक अलग, गुप्त नोट में उन्होंने यह भी कहा था कि देश भर की गिरती स्थिति को देखते हुए हमें भविष्य के लिए एक रणनीति बनाना जरूरी है। चीनी स्वामियों की दासता में न होने का उन्होंने यह पहला संकेत दिया था। दुर्भाग्य से मेरा सन्देशा उन तक कभी न पहुंचा और वह तिब्बत में ही रह गये।

अगला दर्रा साबो-ला कहलाता था जहां हम दो या तीन दिन बाद पहुंचे। चोटी पर खूब ठण्ड थी और बर्फ का अन्धड़ चल रहा था। मुझे अपने कुछ संगियों की हार्दिक चिन्ता हो गई। यद्यपि मैं युवा और चुस्त था लेकिन हमारे काफिले के कुछ बुजुर्गों को यात्रा में काफी दिक्कत आ रही थी। लेकिन हमने रफ्तार धीमी नहीं की क्योंकि, हमें अभी भी चीनी सेना द्वारा रोके जाने का गंभीर खतरा था। ग्यांत्से और कोंग्पो क्षेत्र में तैनात चीनी सैनिकों की दोनों तरफ की घेराबंदी में पकड़े जाने का हमें विशेष खतरा था। यह मेरी मंशा थी कि भारतीय सीमा से थोड़ा पहले ल्हुनत्से जोंग में रुकूं जहां मैं सत्रह सूत्री 'समझौता' निरस्त करूं, सारे तिब्बत पर अधिकारपूर्ण प्रशासन के लिए अपनी सरकार की पुनः स्थापना करूं और चीनियों के साथ वार्ता शुरू करने की कोशिश करूं। लेकिन पांचवें दिन घुड़सवारों के दस्ते ने वहां पहुंचकर भयावह खबरें दीं। मेरी रवानगी के सिर्फ अड़तालीस घण्टे बाद चीनियों ने नोर्बुलिंका पर गोले बरसाना तथा वहां जमी निहत्थी भीड़ पर मशीन गनें चलानी शुरू कर दी थीं। मेरा दुःस्वप्न सच्चा साबित हो गया। मैंने महसूस किया कि ऐसे क्रूर तथा अपराधिक तरीकों वाले लोगों के साथ वार्ता करनी असंभव है। हमारे लिए सिवा इसके अब कुछ न बचा था कि यहां से यथासंभव दूर निकल जायें। भारत अभी कई दिनों की यात्रा पर दूर था और बीच में कई और ऊंचे दर्रे अभी बाकी थे।

जब सप्ताह भर की यात्रा के बाद हम अन्ततः ल्हुनत्से जोंग पहुंचे तो हम

सिर्फ दो रातों के लिए इतना ही रुके कि मैं औपचारिक रूप से सत्रह-सूत्री समझौता निरस्त करके देश के लिए एकमात्र संवैधानिक सरकार के गठन की घोषण कर दूं। एक हजार से ज्यादा लोगों ने इस समारोह में भाग लिया। वहां ज्यादा समय रुकने की मेरी बहुत इच्छा थी। लेकिन खबरें पहुंची कि चीनी सैनिकों की आवाजाही हमसे ज्यादा दूर नहीं थी। इसलिए अनिच्छा से हम भारतीय सीमा को चले जो सीधी रेखा में अब सिर्फ साठ मील लेकिन जमीन पर लगभग इससे दुगनी दूरी पर थी। पार करने के लिये अभी पहाड़ों की एक श्रृंखला और थी और दूरी तय करने में हमें कई दिन लगने थे। खासकर इसलिए कि हमारे टट्टू काफी थक चुके थे तथा उनके लिए बहुत कम चारा बचा था। उन्हें अपनी ताकत बटोरने के लिए बार-बार रुकना पड़ता। चलने से पहले मैंने तगड़े आदमियों का एक दल रवाना किया जिन्हें सथासंभव शीघ्र भारत पहुंचकर, नजदीकतम सरकारी अधिकारी ढूंढना था और भारत सरकार को पूर्व सूचना देनी थी कि मैं वहां आश्रय लेने की योजना बना रहा हूं। ल्हुन्त्से ज़ोंग से हम एक छोटे से गांव झोरा पहुंचे और वहां से भारतीय सीमा से पहले के आखरी दर्रे कार्यों में। हम रास्ते के उच्चतम स्थल के पास पहुंच ही रहे थे कि हमें एक जबरदस्त धक्का लगा। न जाने कहां से एक हवाई जहाज प्रकट हुआ और सीधा हमारे ऊपर से निकल गया। यह बहुत तेजी से गुजरा-इतनी तेजी से कि पता नहीं लग पाया कि इस पर क्या चिन्ह था-लेकिन इतना तेज भी न था कि इसमें बैठे लोग हमें देख न पाये हों। यह कोई अच्छा लक्षण नहीं था। यदि यह चीनी जहाज था, शायद वही था, तो इस बात की खासी संभावना थी कि वे जान जाएं कि हम कहां हैं।

आज़ाद शरणार्थी

इस सूचना के बाद वे हम पर हवाई हमला करने लौट सकते थे और हमारे पास इससे बचने का कोई तरीका न था। हवाई जहाज चाहे कहीं का भी हो, यह याद दिलाता था कि मैं तिब्बत में सुरक्षित कहीं भी नहीं हूं। निर्वासन में न जाने की सारी गलतफहमियां इससे खत्म हो गयी थीं। अब आस सिर्फ भारत से थी। थोड़ी देर बाद, जो आदमी मैंने ल्हुन्त्से जोंग से भेजे थे, वे यह खबर लेकर लौट आए कि भारत सरकार ने मेरे आने को

हरी झण्डी दिखा दी है। मुझे यह सुनकर बड़ी राहत मिली क्योंकि मैं बिना अनुमति के भारत में पांव न रखना चाहता था। मैंने तिब्बत में आखरी रात मांगमांग नामक छोटे से गांव में बितायी। हम 'हिम की भूमि' तिब्बत के इस अन्तिम गांव में पहुंचे ही थे कि वर्षा शुरू हो गई। इससे पहले आगे बढ़ते समय बर्फीले अन्धड़ और बर्फ की चमक बारी-बारी से परेशान किए जा रही थी। हम सभी बेहद थके हुए थे और वर्षा ही एक ऐसी चीज़ थी जो हम नहीं चाहते थे। रात भर यह धुआंधार बरसात जारी रही। कंगाली में आटा गीला। और मेरा तंबू भी चूने लगा। चाहे कहीं भी अपना पलंग ले जाऊं, मैं भीतर आ रहे वर्षा के पानी के पतनाले से नहीं बच सकता था। नतीजा यह हुआ कि जिस बुखार से मैं पिछले कुछ दिनों से लड़ रहा था, अब रातभर में तेज दस्तों में बदल गया।

अगली सुबह मैं इतना बीमार था कि चल नहीं सकता था। सो हम जहां थे, वहीं रहे। मेरे साथी मुझे एक नजदीकी छोटे से घर में ले गए, लेकिन यहां तंबू से थोड़ा ही ज्यादा बचाव हुआ। ऊपर से गायों की दुर्गन्ध से दम घुटा जा रहा था जो वहीं जमीन से उठ रही थी। उस दिन मैंने अपने पोर्टेबल छोटे से रेडियो पर आकाशवाणी की खबर सुनी कि मैं भारत की ओर चल पड़ा हूं लेकिन रास्ते मैं अपने घोड़े से गिर गया हूं और बुरी तरह घायल हूं। इससे मुझे खुशी ही हुई क्योंकि इसी एक दुर्भाग्य से तो मैं बचा रहा था। जानता था कि मेरे दोस्तों को इससे चिन्ता हुई होगी। अगले दिन मैंने चलना तय किया। अब एक कठिन काम बचा था। वह था अपने साथ ल्हासा से आए सैनिकों व स्वतन्त्राता सेनानियों को अलविदा करना जिन्हें अब लौटना था और चीनियों का सामना करना था। एक कर्मचारी ने भी वहीं रहने का निश्चय किया। उसने कहा कि उसे नहीं लगता कि वह भारत में कोई काम आ सकेगा अतः उसका यहां रुकना और लड़ना ही बेहतर रहेगा। मैंने उसके निश्चय और साहस की सच्ची मन से प्रशंसा की। इन लोगों से अश्रुपूर्ण विदा लेने के बाद मुझे सहायता देकर ज़ोमो की चौड़ी पीठ पर बैठाया गया क्योंकि मैं अभी इतना बीमार था कि घोड़े पर नहीं चढ़ सकता था। इस तरह यातायात के उस साधन पर मैंने अपना मूल देश छोड़ा।

-8-

भविष्य से सामना

हमें सीमा पर मिले मुट्ठी भर भारतीय सैनिकों के लिए हमारा नजारा जरूर दयनीय रहा होगा- शारीरिक और मानसिक रूप से थके हुए अस्सी यात्री। मैं यह जानकर खुश था कि जिस कर्मचारी को मैं दो साल पहले की यात्रा से जानता था, वह भी हमसे मिलने आया हुआ था। उसने बताया कि वह हमें विश्राम के लिए बोमडिला ले जाने आया है जो एक सप्ताह की दूरी पर है।

हम वहां ल्हासा छोड़ने के कोई तीन हफ्तों बाद पहुंचे मगर यूं लग रहा था जैसे जमाना बीत गया हो। पहुंचने पर मेरा अभिवादन किया मेरे पुराने संपर्क अधिकारी श्री मेनन तथा दुभाषिए सोनम तोपग्याल काज़ी ने जिनमें से एक ने मुझे प्रधानमंत्री का टेलीग्राम पकड़ाया:

मेरे सहयोगी व मैं आपका स्वागत करते हैं तथा आपके सुरक्षित भारत पहुंचने पर अभिवादन करते हैं। हमें आपको, आपके परिवार व काफिले को भारत में ठहरने की आवश्यक सुविधाएं मुहैया करके खुशी होगी। भारत की जनता, जिसकी आप में बहुत श्रृद्धा है, निस्संदेह आपको अपना पारंपरिक सम्मान देगी। सम्मान सहित नेहरू।

मैं बोमडिला में रहा जहां लगभग दस दिनों तक स्थानीय उपायुक्त के परिवार ने सम्मानपूर्वक मेरा खूब ध्यान रखा। तब तक मेरे दस्त भी पूरी तरह ठीक हो गए। 18 अप्रैल 1959 की सुबह मुझे एक जीप द्वारा एक 'फुटहिल्स' नामक रोड कैम्प ले जाया गया। वहां के ओवरसियर के घर के सामने कैनवस के जुगाड़ गलीचे के दोनों तरफ सैनिक अभिवादन गार्ड

आफ ऑनर का बन्दोबस्त किया गया था। भीतर मुझे नाश्ता दिया गया जिसमें ताजा केले भी थे मैं कई केले खा गया जिससे मेरा हाजमा खराब हो गया। भीतर वहीं भारत सरकार द्वारा मेरे लिए किए गए इन्तजाम के बारे में मि. मेनन ने संक्षिप्त जानकारी दी।

उस दोपहर मुझे तेजपुर ले जाया गया और वहां से मसूरी जो दिल्ली से थोड़ी दूरी पर बसा एक हिल स्टेशन था। वहीं पर मेरे लिए एक घर का प्रबन्ध कराया गया था।

132

आज़ाद शरणार्थी

हमें 1500 मील दूर ले जाने के लिए एक स्पेशल ट्रेन तैयार थी।

फुटहिल्स में भवन से निकलकर पैंतीस मील दूर रेलवे स्टेशन जाने के लिए जब मैं एक बड़ी लाल कार में बैठने लगा तो मैंने बड़ी संख्या में कैमरामैन देखे। मुझे बताया गया कि ये अन्तर्राष्ट्रीय प्रेस के प्रतिनिधि हैं। वे 'स्टोरी आफ द सेंचुरी' (शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना) की रिपोटिंग करने आए हैं। यह भी बताया गया कि शहर पहुंचने पर मुझे इससे भी ज्यादा पत्रकार मिलेंगे।

जब हम तेजपुर पहुंचे तो मुझे सीधा सर्किट हाउस ले जाया गया जहां दुनिया भर के लोगों के अभिवादनों व शुभ-कामनाओं के सन्देश, टेलीग्राम तथा पत्र मेरी बाट जोह रहे थे। कुछ पल के लिए मैं कृतज्ञता से भर गया। मगर मौके की अपनी नजाकत थी। मैंने महसूस किया कि सबसे ज्यादा जरूरी है छोटा सा बयान तैयार करके मेरी प्रतीक्षा करने वाले प्रेस प्रतिनिधियों को देना जो इसे अपने अखबारों के माध्यम से जनता तक पहुंचा देंगे। इस बयान में मैंने सीधे-सीधे तथा ध्यानपूर्वक नर्म शब्दों में उस संक्षिप्त इतिहास का ब्यौरा दिया जिसका वर्णन पिछले अध्यायों में किया गया है। ऐसा करके व हल्का लंच लेने के बाद हम ट्रेन के लिए रवाना हो गए जो एक बजे चलती थी।

रास्ते में हजारों नहीं तो सैकड़ों लोग हमारी ओर हाथ हिलाते, जोर से

अभिवादन करते खड़े थे। यही मसूरी के रास्ते भर होता रहा। कई अवसरों पर शुभचिन्तकों को हटाकर रास्ता साफ करना पड़ता। ग्रामीणों के बीच खबरें ज्यादा तेजी से फैलती हैं तथा ऐसा लग रहा था कि शायद ही कोई हो जिसे मेरे ट्रेन में होने का पता न हो। हजारों हजार लोग आते और स्वागती नारे लगाते "दलाई लामा की जय। दलाई लामा जिन्दाबाद"। यह दृश्य बड़ा मर्म-स्पर्शी था। रास्ते में तीन बड़े शहरों सिलीगुड़ी, बनारस तथा लखनऊ में मुझे अपने डिब्बे से निकलना पड़ा और फूल फेंक रही शुभचिन्तकों की आकस्मिक भीड़ को संबोधित करना पड़ा। पूरी यात्रा एक अच्छे ख्वाब सी लग रही थी। आज जब पीछे मुड़कर सोचता हूं तो उस समय भारत की जनता द्वारा सद्भावना के भारी प्रदर्शन के लिए बेहद कृतज्ञ होता हूं।

कई दिनों की यात्रा के बाद ट्रेन आखिर में देहरादून स्टेशन पर आ लगी। यहां फिर मेरा जमकर स्वागत हुआ। वहां से हम मसूरी गए, जो देहरादून से एक घण्टे की यात्रा पर था। तब मुझे भारत के प्रमुख औद्योगिक घराने के भवन 'बिड़ला हाउस' ले जाया गया, जो भारत सरकार द्वारा मेरे प्रयोग के लिए मांग लिया गया था। वहां मुझे लंबी अवधि की योजनाएं बनने तक रहना था। लेकिन बाद में एक वर्ष तक यही भवन मेरा घर बना रहा। पहुंचने के एकाध दिन बाद मैंने न्यू चाइना न्यूज़ एजेन्सी 'सिनहुआ' की खबर सुनी जिसमें कहा गया था कि तेजपुर का बयान किसी और के माध्यम से दिया गया था। अतः यह सच नहीं हो सकता। इसमें यह भी दावा किया गया था कि 'विद्रोहियों' द्वारा मुझे जोर जबरदस्ती से अपहृत कर लिया गया है और दबाकर रखा जा रहा है।

उन्होंने मेरे बयान को "तर्कहीन अधकचरा दस्तावेज़, झूठ तथा खामियों से भरपूर" बताया। घटना के चीनी विवरण ने तिब्बती जनक्रांति को "उच्च वर्ग के प्रतिक्रियावादी दल" द्वारा आयोजित बताया। उन्होंने दावा किया कि

चीनी सेना ने देशभक्त तिब्बती भिक्षुओं व जनता की सहायता से विद्रोह को पूरी तरह कुचल दिया है। यह मुख्यतः इसलिए हो पाया कि तिब्बती जनता देशभक्त है, सेन्ट्रल पीपुल्स रिपब्लिक की सरकार का समर्थन करती है, सेना से उत्साह सहित प्यार करती है तथा साम्राज्यवादियों और देशद्रोहियों का विरोध करती है।" मैंने इस बात की पुष्टि करने के लिए एक और सन्देश जारी किया कि मेरा शुरूआती बयान मेरा अधिकृत बयान था।

24 अप्रैल को स्वयं पण्डित नेहरू मसूरी पहुंचे। एक मात्र दुभाषिए की सहायता से हम चार घण्टे से ज्यादा बातें करते रहे। मैंने उनके जोर देने पर मेरी तिब्बत वापसी के बाद से जो कुछ घटा था वह सब कुछ बताना शुरू कर दिया। मैं कहता चला गया कि जैसा उन्होंने कहा था मैंने वही किया था और मैंने निष्पक्षता एवं ईमानदारी से चीनियों से व्यवहार किया। जहां आवश्यकता हुई आलोचना की और सत्रह सूत्री 'समझौते' की शर्तों का पालन करने की जी तोड़ कोशिश करता रहा। मैंने उन्हें समझाया कि मैंने असल में भारत का आतिथ्य नहीं चाहा था बल्कि, मैं तो ल्हुन्त्से ज़ोंग में अपनी सरकार स्थापित करना चाहता था। सिर्फ ल्हासा से पहुंची खबरों ने ही मेरा विचार बदला। इस बात पर वे कुछ चिढ़ गए। उन्होने कहा "यदि आपने सरकार बना भी ली होती तो भी भारतीय सरकार इसे मान्यता न देती"। मुझे ऐसा लगने लगा कि नेहरू मुझे एक ऐसा युवा मानते हैं जिसे समय-समय पर डांटने की जरूरत पड़ती है।

हमारी वार्ता के दौरान उन्होंने मेज पर मुक्का मारा था" यह कैसे हो सकता है ?" उन्होने क्रोध से एक या दो बार पूछा था। यह समझने के बावजूद कि वे कुछ भड़क सकते हैं मैं कहता चला गया। आखिर में मैंने उन्हें बताया कि मेरी मुख्य चिन्ता दोहरी है, " मैं तिब्बत की आजादी के लिए दृढ़ निश्चयी हूं मगर, तुरन्त आवश्यकता रक्तपात रोकने की है।" इस पर वे आपे में न रहे "यह संभव नहीं है"। उन्होंने भावातिरेक में कहा था "आप कहते हैं कि आपको आजादी चाहिए और साथ ही आप यह भी कहते हो कि रक्तपात नहीं चाहते। असंभव !" बोलते समय उनका निचला होंठ गुस्से से फड़क रहा था मैं यह महसूस करने लगा था कि प्रधानमंत्री अपने को नाजुक व असहज स्थिति में पा रहे थे। ल्हासा से भागने के समाचार के बाद तिब्बत के मसले पर भारतीय संसद में तीखी बहस भी हुई। कई वर्षों से मामले को सही तरीके से न निपटने के कारण उनकी आलोचना

की जा रही थी। और अब ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मुझे 1957 में वापस तिब्बत भेजने के मामले पर जो उन्होंने दबाव डाला था, उसके लिए उनमें अब अपराध बोध जाग रहा था।

तो भी यह तो स्पष्ट ही था कि नेहरू भारत के चीन के साथ मैत्रीपूर्ण रिश्तों और पंचशील का बचाव करना चाहते थे। भारतीय राजनीतिज्ञ आचार्य कृपलानी के यह कहने के बाद भी कि "एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी

सहमति का ठप्पा लगाने को यह पंचशील पाप में जन्मा है" वे पंचशील मैमोरेण्डम से जुड़े रहना चाहते थे। उन्होंने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया कि भारत सरकार इस मुद्दे को अभी चीन के साथ उठाने का विचार नहीं कर सकती। फिलहाल मुझे आराम करना चाहिए तथा तुरन्त भविष्य की योजनाएं नहीं बनानी चाहिएं। हम फिर किसी अवसर पर आगे बातचीत करेंगे। यह सुनकर मैंने महसूस करना शुरू कर दिया कि मेरा और मेरी जनता का भविष्य उतना निश्चित नहीं है जितनी मैंने कल्पना की थी। हमारी मुलाकात काफी सौहार्दपूर्ण रही मगर ज्यों ही प्रधानमंत्री गए मैंने गहरी निराशा महसूस की।

यह बिल्कुल साफ हो गया था कि तिब्बती आजादी से भी ज्यादा महत्वपूर्ण समस्याएं हमारे सामने हैं। हमें मसूरी में पहुंचे अभी ज्यादा अर्सा भी नहीं हुआ था कि हमें न केवल भारत में बल्कि भूटान में भी बड़ी संख्या में शरणार्थियों के आने की खबरें मिलने लगीं। मैंने तुरन्त अपने कुछ कर्मचारियों को भारत सरकार द्वारा जल्दी में खोले गए कैम्पों में उन लोगों का स्वागत करने के लिए भेजा।

इन नव आगन्तुकों से मैंने जाना कि नोर्बुलिंका पर पहली बमबारी के बाद चीनियों ने अपने हमले का रूख पोताला तथा जोखांग की तरफ मोड़कर हजारों लोगों को हताहत कर दिया था। दोनों भवनों को बुरी तरह क्षति पहुंची। चाकपोरी मेडीकल स्कूल पूरी तरह तबाह हो गया। किसी को

मालूम नहीं कि हमले में कितने लोग मारे गए। मगर 1960 के दशक में तिब्बती स्वतन्त्रता सेनानियों द्वारा बरामद किया गया एक चीनी सेना दस्तावेज कहता है कि मार्च 1959 और सितम्बर 1960 के बीच सैन्य कार्रवाई से 87 हजार मौतें हुई। इन आकड़ों में वे शामिल नहीं है जो आत्महत्या, उत्पीड़न और भुखमरी के कारण मरे।

परिणामस्वरूप मेरे अनगिनत लोगों ने तिब्बत छोड़ने की कोशिश करनी शुरू की। कई या तो सीधे चीनियों के हाथों मारे गये या जख्मों, कुपोषण, ठण्ड और बीमारियों से मारे गए। जो सीमा पार करके भाग भी पाये उन्होंने ऐसा भारी मन से किया। उनके पहुंचने पर उन्हें भोजन तथा आश्रय मिला मगर, निर्दयी भारतीय धूप ने उनके पसीने छुड़ा दिए। मुख्य पड़ाव शिविर दो थे। एक तेजपुर के निकट मिसामढ़ी में दूसरा उत्तर-पूर्व में भूटानी सीमा के निकट भूवपूर्व युद्धबन्दियों के कैम्प बक्साद्वार में।

दोनों ही स्थान मसूरी की 6000 फुट की समुद्री तल से कम ऊंचाई पर थे। अतः गर्मी असहनीय थी। क्योंकि तिब्बत में गर्मियों में बेशक खूब गर्मी पड़े मगर, काफी ऊंचाइयों पर हवा काफी शुष्क होती थी जबकि भारतीय मैदानों में गर्मी के साथ उच्च स्तर की उमस भी होती है। यह शरणार्थियों के लिए सिर्फ असुविधाजनक ही नहीं था बल्कि अक्सर घातक भी सिद्ध हुआ। जिन बीमारियों को तिब्बती जानते भी न थे वे यहां इस नए वातावरण में फलफूल रही थीं। इस प्रकार जख्मों से मौत का खतरा तो तिब्बत से भागने में था ही, लू व तपेदिक जैसी बीमारियां जो इन स्थितियों में बढ़ती हैं, का खतरा भी था। कई लोग दम तोड़ भी गए।

हममें से जो मसूरी में रहे वे हमारे देश के अन्य लोगों से ज्यादा सौभाग्य शाली रहे। चूंकि बिड़ला हाउस में पंखे भी लगे हुए थे इसलिए सबसे कम कष्ट मैंने उठाए। हालांकि मैंने पाया कि पंखों से भी अपनी ही मुसीबत है। रात को पंखे चलाए रखने के कारण कई बार पाचन संबंधी समस्याएं भी हुई। मुझे पोताला में अपने एक सफाई कर्मचारी की कहावत याद आई "सर्दियों में ठण्ड की वजह से हम खुद को ढक लेते हैं लेकिन गर्मियों में

गर्मी की वजह से हम भूल जाते हैं।

इस मौके पर एक और सूक्ष्म बात मैंने महसूस की कि गर्म मौसम में फल खाने की इच्छा होती है जबकि ठण्ड में ऐसी इच्छा नहीं होती।

मेरे निर्वासित भाइयों की गर्मी के कारण तकलीफ का मुझे सीमित व्यक्तिगत अनुभव तब होता जब मुझे किसी कारणवश गर्मियों के महीनों में मैदानों में जाना होता। पहला मौका तब आया जब जून में मैं प्रधानमंत्री से शरणार्थियों की बढ़ती संख्या पर विचार विमर्श करने दिल्ली गया। पहले ही 20 हजार शरणार्थी आ चुके थे तथा उनकी संख्या रोजाना बढ़ती जा रही थी।

मैं इस बात की कोशिश करने लगा कि नव आगन्तुकों को किसी ऐसी जगह भेजा जाये जहां जलवायु तेजपुर तथा बक्सा द्वार की अपेक्षा कम नुक्सानदेह हो। वे भीषण ग्रीष्म ऋतु से अनभिज्ञ, लंबे चोगे और भारी बूट पहनकर आये थे। पहले कुछ हजार शरणार्थी जो तिब्बत के 'मुक्तिवाहकों के कातिल हाथों से बचकर आये वे ज्यादातर ल्हासा तथा आसपास के क्षेत्रों के मर्द थे जबकि बाद में पूरे परिवार आना शुरू हो गए। ये लोग मुख्यतः सीमांत क्षेत्रों से आये थे जहां चीनी नियन्त्रण पूरी तरह नहीं था।

मैंने नेहरू जी से अपना विचार जताया कि यदि उन्हें वहीं छोड़ दिया गया तो उनमें से ज्यादातर मर जायेंगे। पहले-पहल उन्होनें चिढ़ के कुछ लक्षण दिखाये। उन्होंने कहा कि मैं बहुत ज्यादा चाह रहा हूं। मुझे याद रखना चाहिए कि भारत एक गरीब और विकासशील देश है। लेकिन शीघ्र ही उनकी मानवतावादी अन्तःप्रेरणा ने उन पर विजय पा ली। काशाग पहले ही भारतीय अधिकारियों से उत्तरी भारत में शरणार्थियों को रोड कैम्प्स में ठहराने की योजना पर विचार-विमर्श कर चुकी थी और अब नेहरू जी ने कहा कि वह ध्यान रखेंगे कि इसके यथाशीघ्र प्रबन्ध हो जायें। इससे उन्हें एक तो सिर छुपाने को जगह मिलेगी और दूसरे उन्हें उचित जलवायु वाली जगह भी मिल जाएगी।

फिर नेहरू जी ने शरणार्थी बच्चों की भावी शिक्षा के बारे में बातें शुरू कर दीं और विषय इतना रोचक था कि आखिर में लग रहा था मानो यह उनकी व्यक्तिगत जिम्मेवारी हो। उन्होंने कहा कि जहां तक उनका संबंध

है हम निकट भविष्य में भारत के मेहमान होंगे तथा हमारे बच्चे हमारे बहुमल्य स्त्रोत। उन्हें सुशिक्षित किया जाना चाहिए। तिब्बती संस्कृति के संरक्षण के लिए, उनके लिए अलग विद्यालय होने जरूरी हैं। इसलिए भारतीय शिक्षा मंत्रालय में ही उनके लिए तिब्बती शिक्षा की स्वतन्त्र इकाई होनी चाहिए। उन्होंने यह भी जोड़ा कि भारतीय

सरकार इन विद्यालयों के स्थापित करने के खर्चे वहन करेगी। आज भी भारत सरकार हमारे शिक्षा कार्यक्रम के खर्च का एक मुख्य हिस्सा वहन कर रही है।

अन्त में उन्होंने मुझे चेताया कि जबकि बच्चों का पालन पोषण इतिहास व संस्कृति के गहन ज्ञान से किया जाना अति महत्वपूर्ण है तो भी यह और भी जरूरी है कि वे आधुनिक दुनिया के तौर तरीकों में भी पारंगत हों। उन्होंने कहा कि इसके लिए बुद्धिमानी इसी में है कि हम पढ़ाई का माध्यम अंग्रेजी रखें क्योंकि "यह भविष्य की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।"

हमारी मुलाकात के बाद दोपहर का भोजन हुआ जिसमें नेहरू जी ने कहा कि वे शिक्षा मंत्री डा. श्रीमाली से मिलेंगे। इससे हमें वार्ता जारी रखने का अवसर मिला। तब उसी शाम प्रधानमंत्री ने मुझे बताया कि सरकार उसी दिन शिक्षा सोसायटी के गठन की घोषणा करेगी। इस तुरन्त प्रतिक्रिया से मैं बहुत प्रभावित हुआ।

वर्षों से भारत की जनता व सरकार ने अपनी काफी आर्थिक दिक्कतों के बावजूद हम तिब्बती शरणार्थियों को आर्थिक सहायता व अन्य साधनों से बहुत राशि दी है। मुझे सन्देह है कि कोई और शरणार्थी शायद ही अपने मेजबान से इतना अच्छा व्यवहार पाता होगा। जब कभी तिब्बतियों को ज्यादा पैसा मांगना पड़ा मेरे दिमाग में हमेशा यह बात रहती थी कि भारत के अपने सैकड़ों हजार बच्चे इस मूल शिक्षा से भी वंचित हैं।

फिर भी एक तरह से यह उचित है कि भारत हमारी सहायता को आए

क्योंकि अन्य कई महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रभावों के साथ तिब्बत में बौद्धमत भारत से आया। मेरे दिमाग में जरा भी सन्देह नहीं है कि भारत का तिब्बत पर चीन के मुकाबले अधिक दावा है क्योंकि तिब्बत में चीन का प्रभाव बहुत कम रहा है। मैं अक्सर भारत और तिब्बत के बीच रिश्तों की तुलना गुरू और शिष्य के रिश्तों से करता हूं। जब शिष्य किसी मुसीबत में हो तो यह गुरू की जिम्मेवारी है कि वह उसकी सहायता करे।

कई विदेशी राहत संस्थाएं भी दयालुता में भारतीय जनता से ज्यादा पीछे नहीं हैं। उनकी ज्यादातर सहायता व्यवहारिक प्रकृति की है। खासकर स्वास्थ्य व शिक्षा के क्षेत्र में। दस्तकारी व अन्य कार्य केन्द्रों, जिन्होंने काफी लोगों को अर्थपूर्ण रोजगार दिये हैं, की स्थापना के लिए भी उनकी सहायता महत्वपूर्ण रही है। पहली गलीचा-बुनाई कार्यशालाएं नेपाल की सीमा के साथ चाय उत्पादक ऊंचे शहर दार्जिलिंग और धर्मशाला से कुछ दूर डल्हौजी में स्थापित की गई। दोनों की स्थापना भारत सरकार ने 1959 के अन्त में की थी। ये कार्यशालाएं समुद्र पार एजेन्सियों-- जिनमें से कुछ आज भी सहायता जारी रखे हैं, की सहायता से स्थापित होने वाली अन्य नई कार्यशालाओं के लिए मॉडल बनीं। आज कई वर्षों बाद उन संस्थाओं ने, जिन्होंने हमारे निर्वासन के समय में शुरू में सहायता की थी, उन्होंने शरणार्थियों द्वारा की गई तरक्की पर संतुष्टि व्यक्त की है। विदेशों से मिली मदद के प्रति तिब्बतियों ने सकारात्मक रवैया अपनाया। हमारे लिए यही सर्वोत्तम ढंग है

हार्दिक धन्यवाद की अभिव्यक्ति का। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि मुझे अहसास है कि इन एजेन्सियों को दान किया गया ज्यादातर पैसा उन लोगों की जेबों से आता है जिनके अपने साधन बिल्कुल सीमित हैं।

इस दिल्ली यात्रा के बाद मसूरी लौटने पर मैंने महसूस किया कि मेरी चुप्पी भंग करने का वक्त आ पहुंचा है। इसलिए 20 जून को मैंने एक संवाददाता सम्मेलन किया। मेरी तरफ से कुछ सुनने के लिए अभी भी

मसूरी में काफी संख्या में संवाददाता इंतजार कर रहे थे। यद्यपि यह समाचार 'कथा' अब दो महीने पुरानी हो चुकी थी फिर भी दुनिया भर के देशों का प्रतिनिधित्व कर रहे 130 रिपोर्टर वहां मौजूद थे।

मैंने एक बार फिर सत्रह सूत्री 'समझौते' को निरस्त करने की बात कही। मैंने बताया कि चूंकि चीन स्वयं अपने सत्रह-सूत्री 'समझौतें' की शर्तें तोड़ चुका है अत: अब इसे मान्यता देते रहने का कोई कानूनी आधार नहीं है। तब मैंने अपने मूल संक्षिप्त बयान का विस्तृत विवरण दिया। मुझे विश्वास था कि लोग समझेंगे कि चीनियों द्वारा फैलाए गए अविश्वसनीय गल्प की अपेक्षा मेरी कहानी सच के ज्यादा करीब थी। मेरे ताजा बयान को काफी प्रचार मिला मगर मैंने चीनी सरकार द्वारा चलाये जा सकने वाले कुशल जनसंपर्क अभियानों की शक्ति को बहुत कम आंका था। या शायद मैंने मानव समाज द्वारा सच्चाई का स्वयं सामना करने की इच्छा को बहुत ज्यादा आंका था। मेरा विश्वास है कि पहले सांस्कृतिक आन्दोलन और फिर 1989 में थ्येन-आन-मान चौक में हुई नृशंसता को टेलीविजन स्क्रीन पर देखने के बाद ही विश्व ने कम्युनिस्ट चीनियों के मिथ्याभाषण और वहशीपन को स्वीकारा होगा।

उसी शाम भारत सरकार की तरफ से यह घोषणा कि गयी कि वह निर्वासन में दलाई लामा की सरकार को मान्यता नहीं देती। मुझे पहले थोड़ी हैरानी हुई और इससे मुझे चोट भी पहुंची। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह हमें राजनैतिक रूप से समर्थन नहीं देती मगर ऐसी दूरी भी गैरजरूरी लगी। मेरी घायल भावनाएं शीघ्र ही गहरी कृतज्ञता के भाव में बदल गई जब मैंने सचमुच पहली बार 'लोकतन्त्र' शब्द का अर्थ जाना। भारतीय सरकार मेरे दृष्टिकोण का घोर विरोध कह रही थी मगर उसने मुझे अभिव्यक्ति करने से रोकने की कोशिश भी नहीं की।

इसी तरह दिल्ली से इस बात में कोई दखल नहीं था कि मैं तथा अन्य तिब्बती जिनकी संख्या लगातार बढ़ रही थी, अपना जीवन कैसे बिता रहे हैं। लोगों की मांग के मद्देनजर मैंने बिड़ला हाउस के मैदान में साप्ताहिक प्रवचन दर्शन देना शुरू कर दिया था। इससे मुझे विभिन्न किस्म में लोगों से मिलने तथा उन्हें तिब्बत की वास्तविक हालत के बारे में बताने का भी मौका मिलता। इससे मुझे औपचारिकताओं की बाधा हटाने की प्रक्रिया

शुरू करने में भी सहायता मिली। जिस प्रोटोकोल की वजह से दलाई लामा अपनी जनता से दूर ही रहा था। मुझे तीव्र अनुभूति हुई कि हमें उन पुरानी परम्पराओं से नहीं चिपके रहना चाहिए जो आज उपयुक्त नहीं हैं। मैं अक्सर जनता को याद दिलाता रहता कि अब हम शरणार्थी हैं।

आज़ाद शरणार्थी

इसके लिए मैंने दबाव डाला कि सभी औपचारिकताएं जानबूझकर घटा दी जायें और स्पष्ट किया मैं अब और नहीं चाहता कि लोग पुरानी पद्धति को जारी रखें। मैंने महसूस किया कि ऐसा विदेशियों से व्यवहार करते समय खासतौर पर महत्वपूर्ण रहेगा। अकेला रहकर दूसरों को. दूर रखना बड़ा आसान है। इसलिए मैंने पूरी तरह खुला होने, प्रत्येक चीज प्रदर्शित करने तथा सामाजिक शिष्टाचार के पीछे कुछ भी न छुपाने का इरादा किया। मुझे उम्मीद थी कि इस तरह लोग मुझसे उसी तरह बातें करेंगे जैसे एक मानव दूसरे से करता है।

मैंने यह भी नियम बनाया कि जब कभी मैं किसी से मिलूं तो उसे प्रथानुसार मुझसे नीची कुर्सी पर बिठाने के बजाए उसे बराबर ऊंचाई की कुर्सी पर बिठाऊंगा। शुरू में तो मुझे भी यह थोड़ा मुश्किल लगा क्योंकि मुझमें ज्यादा आत्म-विश्वास नहीं है। मगर इसके बाद आना शुरू हो गया। मेरे कुछ पुराने सलाहकारों के अविश्वास के बावजूद मैं सोचता हूं कि इन सिद्धान्तों से असुविधा सिर्फ उन्हीं को हुई जो तिब्बत से यदाकदा नये लोग आते थे। जिन्हें पता नहीं था कि दलाई लामा अब उस ढंग से नहीं रहता जैसा वे जानते थे।

यूं भी बिड़ला हाउस में जिन्दगी औपचारिकताओं से परे थी। यह न तो खास भव्य था और न ही बड़ा। कभी कभार इसमें खूब भीड़ हो जाती। इसमें मैं मेरी मां और मेरा घर का सामान था। मेरे बाकी कर्मचारी बहुत नजदीक रहते थे। मेरी जिन्दगी में यह पहला अवसर था जब मेरी मां इतना ज्यादा करीब थी। मैंने उसकी संगति का खूब आनन्द उठाया।

औपचारिकता घटाने के अतिरिक्त हमारी त्रासदी ने भी मेरे व्यक्तिगत जीवन को काफी हद तक सरल बनाने का अवसर दिया। ल्हासा में मेरे पास कई चीजें थीं जो मेरे कुछ काम की न थीं। मगर उन्हें किसी को देना बड़ा मुश्किल था। अब मेरे पास लगभग कुछ भी नहीं था। फिर भी वे चीजें और किसी को देना बड़ा आसान था जो मुझे मिलतीं। खासकर जब वे मेरे साथी शरणार्थियों के किसी काम आ सकतीं।

प्रशासन के क्षेत्र में भी मैंने कई परिवर्तन किए। उदाहरण के लिए मैंने इस बार कई नए तिब्बती सरकारी विभाग बनवाये। इसमें सूचना, शिक्षा, पुनर्वास, सुरक्षा, धार्मिक मामले तथा आर्थिक मामलों के कार्यालय शामिल थे। मैंने औरतों को सरकार में भाग लेने के लिए विशेषकर प्रोत्साहित किया। मैंने लोगों को याद दिलाया कि महत्वपूर्ण पदों का चयन कभी लैंगिक आधार पर नहीं बल्कि सिर्फ गुणवत्ता तथा उम्मीदवार की अभिरुचि के आधार पर होना चाहिए। जैसी कि मैं पहले चर्चा कर चुका हूं, तिब्बती समाज में औरतों ने हमेशा महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है और आज भी कई महिलाओं के पास निर्वासन में तिब्बती सरकार के महत्वपूर्ण पद हैं।

दिल्ली से मैं सितम्बर में लौटा। अब तक शरणार्थियों के बारे में मैं कुछ सहज हो चुका था। उनकी संख्या तीस हजार के लगभग हो चुकी थी।

मगर नेहरू जी ने अपनी बात निभाई थी और काफी लोगों को उत्तरी भारत की पहाड़ियों के सड़क निर्माण कैंपों में भेजा जा चुका था। अब मेरा मुख्य लक्ष्य था कि संयुक्त राष्ट्र में तिब्बत के आजादी के अधिकार का प्रश्न उठाने के लिए जो मुझसे बन पड़े, मैं करूं। दूसरी बार फिर मैंने प्रधानमंत्री से मिलने के लिए यात्रा की। हमने कुछ नवागन्तुकों को दक्षिण भारत में भेजने के प्रस्ताव पर कुछ समय चिचार विमर्श किया। नेहरू जी पहले ही कई भारतीय राज्यों के मुख्मंत्रियों को लिख कर पूछ चुके थे कि क्या वे तिब्बती शरणार्थियों को स्थान उपलब्ध कराने को तैयार हैं?

कई मुख्यमंत्रियों द्वारा जमीन पेशकश की बात सुनकर उस पर संतोष प्रकट करने के बाद मैंने संयुक्त राष्ट्र में अपनी सुनवाई की कोशिश की योजना बनाई। इस बात पर नेहरू जी ने अपने क्रोध का इजहार किया। उन्होंने कहा कि चूंकि न तो तिब्बत और न ही चीन सं. राष्ट्र के सदस्य हैं इसलिए मुझे सफलता नहीं मिलेगी। यदि मिल भी जाये तो इसका ज्यादा असर न होगा। मैंने जवाब दिया कि मुझे दिक्कतों का पता है मगर मैं तो इतना ही चाहता हूं कि संसार तिब्बत को भी दिमाग में रखे। यह बहुत जरूरी है कि लोग अपनी तकलीफों में मेरी जनता को न भूल जायें। उन्होंने कहा "तिब्बत का सवाल जिन्दा रखने का तरीका संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से नहीं बल्कि आपके बच्चों की उचित शिक्षा के माध्यम से रहेगा। लेकिन, यह तो आप पर निर्भर है। आखिर आप एक आजाद देश में रह रहे हैं।"

मैं कई देशों की सरकारों को पहले ही लिख चुका था और अब मैं कई अन्य देशों के राजदूतों से मिल रहा था। मैंने इसे बड़ी कठिन परीक्षा की घड़ी पाया। मैं अभी सिर्फ चौबीस साल का था और मेरा उच्च पदों के अधिकारियों से निबटने का अनुभव उतने तक ही सीमित था जो मैंने अपनी चीन यात्रा के दौरान तथा नेहरू व उनके कुछ सहयोगियों की थोड़ी बहुत वार्ताओं से पाया था। तो भी यह इतना काम आया कि कुछ लोग सहानुभूति पूर्वक पेश आये तथा मुझे सलाह दी कि कैसे प्रगति करूं। सभी ने सहायता के लिए मेरे आग्रह के बारे में अपनी सरकारों को सूचित करने का वचन दिया। आखिर में मलेशिया फेडरेशन तथा आयरलैण्ड की रिपब्लिक ने एक मसौदा प्रस्ताव तैयार किया, जिस पर संयुक्त राष्ट्र की जनरल असेंबली में अक्तूबर में बहस हुई। हमारे पक्ष में पैतांलीस वोट पड़े तथा विपक्ष में नौ। छब्बीस सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया। भारत मतदान न करने वाले देशों में से एक था।

राजधानी की एक विशेष यात्रा के दौरान मैं कई सहानुभूतिपूर्ण भारतीय राजनीतिज्ञों से मिला जिनमें जय प्रकाश नारायण भी थे जिन्होंने 1957 में किये अपने वादे के अनुसार तिब्बत सपोर्ट कमेटी की स्थापना की थी। वे महसूस कर रहे थे कि अब सरकार को तिब्बत पर अपना रुख बदलने के लिए मनाने का अच्छा मौका है। यद्यपि मैं अन्त: प्रेरणा से जानता था

कि नेहरू अपने विचार कभी न बदलेंगे लेकिन, उनका हौसला काफी उत्साही व मर्मस्पर्शी था। एक और अच्छी खबर यह थी कि दुनिया भर में न्याय बनाये रखने को समर्पित एक स्वतन्त्रा संस्था 'इन्टरनेशलन कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट्स' ने पिछले दिनों एक रिपोर्ट

तिब्बत की कानूनी हैसियत पर प्रकाशित की थी जिसने हमारी स्थिति को पूर्णतया उचित माना था। कमीशन जिसने हमारे केस को साल के शुरू में लिया था, अब पूर्ण जांच करने की योजना बना रहा था।

एक महीना बाद मसूरी लौटने पर मेरा मनोबल ओर बढ़ गया जब एफ्रो-एशियन कमेटी की दिल्ली में बैठक हुई। इसने अपना लगभग सारा समय तिब्बती मुद्दे पर चर्चा पर ही व्यतीत किया। इसके प्रतिनिधियों में बहुमत उन देशों से था जिन्होंने औपनिवेशिक दमन का दुःख भोगा था। इसलिए स्वाभाविक ही था की उनकी तिब्बत से सहानुभूति हो। उन्होंने हमें उसी स्थिति में पाया जिसमें वे स्वयं आजादी पाने से पहले कभी रहे थे। मुझे इस सर्वसम्मत सहायता की बात सुनकर बेहद खुशी तथा आशा हुई और महसूस करने लगा कि इससे कोई सकारात्मक व अच्छी बात जरूर निकलेगी। लेकिन कहीं अन्दर से तो मुझे भी स्पष्ट था कि प्रधानमंत्री सही थे। हम तिब्बतियों को अपने देश में जल्दी वापसी की बात नहीं सोचनी चाहिए। इसके बजाए हमें निर्वासन में एक मजबूत समुदाय बनाने की सोचनी चाहिए ताकि अन्ततः जब वक्त आयेगा तो अपने अनुभवों से हम अपनी जिन्दगी पुनः शुरू कर सकेंगे।

जमीन की जिस पेशकश की चर्चा नेहरू जी ने की थी, वह हमें काफी सही लगी। दक्षिण भारत के मैसूर राज्य में तीन हजार एकड़ भूमि हमें उसी वक्त मिलने को तैयार थी लेकिन इस सहृदयता के बावजूद मैं पहले पहल इसे स्वीकार करने में झिझक रहा था। अपनी पहली तीर्थ यात्रा के दौरान मैंने उस क्षेत्र का दौरा किया था तथा जानता था कि यह शान्त तथा कम जनसंख्या वाला क्षेत्र है। लेकिन उत्तर भारत के मुकाबले यहां काफी गर्मी होती है। मैं महसूस कर रहा था कि हालात बहुत कठोर होंगे। और फिर

मेरा प्रशासन धर्मशाला में स्थित होने के कारण मुझे डर था कि यह फासला बहुत ज्यादा है।

दूसरी तरफ वर्तमान हालत पर गौर करके मैंने महसूस किया कि भारत में अस्थाई रूप से बसने के लिहाज से सोचना जरूरी है। इसके बाद ही कोई शिक्षा कार्यक्रम शुरू किया जा सकेगा और तिब्बती जनता की संस्कृति अक्षुण्ण बनाये रखने के कदम उठाये जा सकेंगे। आखिर में मैंने निष्कर्ष निकाला कि भौगोलिक व मनोवैज्ञानिक समस्याओं से ये विचार ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। फिर मैंने बड़ी कृतज्ञता से भूमि स्वीकार कर ली। शुरू में बसने वाले 666 व्यक्तियों के पहले बैच को 1960 के नववर्ष में इस भूमि को रिहायश योग्य बनाने का काम शुरू करना था। एक एकड़ प्रति शरणार्थी के हिसाब से तीन हजार का समुदाय बसाने का लक्ष्य था।

1959 के आखिर में दो संस्थाओं, आचार्य कृपलानी की अध्यक्षता में "केन्द्रीय राहत कमेटी" (सेन्ट्रल रिलीफ कमेटी) तथा "अमेरिकन इमरजैन्सी कमेटी फार तिवेतन रिफ्यूजीज़" की खबर आई जो विशेषकर हमारी सहायता के लिए स्थापित की गई थी। इनका अनुसरण अन्य देशों की ऐसी ही कई समर्पित संस्थाओं ने किया जिन्होंने इनके साथ-साथ हमें अमूल्य सहायता दी।

इसी बीच मुझे बहुत से लोग मिलने आने लगे। इनमें से एक था वही भारतीय सन्यासी जो भगवान बुद्ध के एक अस्थिअवशेष के साथ यात्रा करता मुझे द्रोमो में मिला था। मैं उससे दोबारा मिलकर बेहद प्रसन्न हुआ। वह बहुत विद्वान था तथा समाज-अर्थशास्त्र में विशेष रुचि लेता था। हमारे मिलने के बाद के वक्त में वह अपना काफी वक्त और ऊर्जा बुद्ध के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का मार्क्सवादी विचारधारा के साथ समन्वय में व्यतीत करता रहा था। इसमें मुझे गहरी रुचि हुई। मैं संतुष्ट हो गया कि चूंकि थाई सीमा से साईबेरिया तक, अधिकतर एशिया, जिसकी मूल आस्था बौद्धवाद थी, अब धर्म के विरूद्ध मार्क्सवाद के रुख के फलस्वरूप

भयावह रूप से कष्ट उठा रहा था। अतः ऐसा काम किया जाना बहुत आवश्यक था।

इन्हीं दिनों मुझे एक वामपंथी सिंहली सन्यासी भी मिला। मसूरी में अपने ठहराव के आखिर में मेरे इस दोस्त ने मुझे श्रीलंका आने का न्यौता दिया। यही तो वह जगह थी जहां मैं जाने का बहुत ज्यादा इच्छुक था। इसलिए भी कि वहां मुझे बुद्ध के अस्थिवशेषों में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बुद्ध का दांत देखने का मौका मिलता। लेकिन कुछ महीनों बाद जब मेरी यात्रा का वक्त आया तो मुझे इस बात का जबरदस्त अहसास हुआ कि किसी शरणार्थी की हैसियत कितनी डांवाडोल होती है। श्रीलंका की सरकार ने खेद व्यक्त करते हुए एक सन्देश भेजा कि मेरी यात्रा को अनिश्चितकाल के लिए स्थगित करना पड़ेगा क्योंकि कुछ 'अकल्पित बातों' का भय है। बाद में पता लगा कि अन्देशा बीजिंग का था। मुझे अपने उच्च पदों पर बैठे भाई-बहनों की ताकत दोबारा पता लगी जो चाहें तो धार्मिक गतिविधियों भी रोक सकते थे।

जब मुझे साम्यवादी विस्तार के शिकार कुछ अन्य देशों के प्रतिनिधि मिले तो चीनियों के साथ अर्थपूर्ण वार्ता शुरू की जरूरत मुझे फिर समझ में आई। ये भुक्तभोगी पूर्वी तुर्किस्तान के थे, जिसे चीन ने 1949 में रौंद दिया था। हमारे पास बातचीत करने को काफी कुछ था। हमने कई घण्टे तक अनुभवों का आदान प्रदान किया। तब पता चला कि पूर्वी तुर्किस्तान के शरणार्थी हमसे बहुत ज्यादा थे तथा उनका एक नेता वकील भी था। यह उस वक्त की बात है जब सारी तिब्बती जनसंख्या में एक भी एलोपैथिक डाक्टर तक न था, सुयोग्य वकील की तो बात ही दूर। हम अपने-अपने देश में आजादी का संघर्ष बनाए रखने पर विस्तार से चर्चा करते रहे। आखिरकार हमने निकट संपर्क बनाए रखने का तय किया जो हम आज तक बनाये हैं। हालांकि इस बीच तिब्बती पक्ष को उनके मुकाबले ज्यादा प्रचार मिला है।

दिसंबर में मैंने एक बार फिर दिल्ली की छह घण्टे की यात्रा की। इस बार यह नई तीर्थयात्रा का एक हिस्सा थी। मैं उन जगहों पर ज्यादा वक्त बिताना चाहता था, जो मैंने 1957 के प्रारंभ में देखी थीं। रास्ते में मैं एक बार फिर प्रधानमंत्री से मिला। मुझे थोड़ी सी बैचेनी तो यह थी कि वह

मुझे संयुक्त राष्ट्र प्रस्ताव पर क्या कहेंगे और थोड़ी सी उनके गुस्सा होने की। पर उन्होंने मुझे गर्मजोशी से बधाई दी।

142

आज़ाद शरणार्थी

मुझे लगने लगा कि उनकी कभी-कभार की व्यवहार-अकुशलता के बावजूद भी वह महान उदारता वाले व्यक्ति हैं।

मुझे एक बार फिर 'लोकतन्त्र' शब्द का अर्थ ध्यान में आया। हालांकि मैंने उनकी राय अस्वीकार कर दी थी तो भी तिब्बतियों के प्रति उनके रुख में कोई परिवर्तन नहीं आया था। यह चीन में मेरे अनुभवों के बिल्कुल विपरीत था। नेहरू ज्यादा नहीं मुस्कराते थे। नेहरू अपने निचले कांपते हुए होंठ को थोड़ा आगे निकाले बैठे चुपचाप सुनते रहेंगे, और जब बोलेंगे तो जवाब बड़ा खुला और ईमानदारी से भरा होगा। इससे भी बड़ी बात तो यह कि उन्होंने मुझे अपनी अंतरात्मा के अनुसार चलने की आजादी दी। दूसरी तरफ चीनी हमेशा मुस्कुराहट व धोखे से भरपूर थे।

मैं भारतीय राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद से भी दोबारा मिला। मैं एक जैन आचार्य तुलसी, जिनके प्रति मुझे खूब आदर की भवना महसूस हुई, के साथ उनका मेहमान था। जैसा कि मैं 1956 में राष्ट्रपति की विनम्रता से खूब प्रभावित हुआ था, वैसा ही इस बार भी हुआ। उनका व्यवहार बहुत ज्यादा विनम्र था। मैं वास्तव में ही मर्मस्पर्शी हो रो पड़ा। वे मुझे सच्चे बौधिसत्व से लगे। अन्तिम बार मैंने उन्हें उनके निवास के बगीचे में देखा था। मैं भोर में प्रातःकाल भ्रमण के लिए गया था और वहीं उन्हें भी पाया एक बड़ी काली व्हीलचेयर में कुछ आगे झुके, भव्य और वृद्ध व्यक्ति को।

दिल्ली से मैं बोधगया रवाना हो गया। वहां रहते मुझे साठ या इससे भी ज्यादा तिब्बती शरणार्थियों का एक शिष्टमण्डल मिला। वे भी तीर्थ-यात्रा कर रहे थे। एक बहुत मर्मस्पर्शी क्षण आया जब उनके नेता मेरे पास आए और आजाद तिब्बत के संघर्ष को जारी रखने में अपनी जान देने की बात कही। इसके बाद इस जीवन में पहली बार मैंने 162 युवा तिब्बतियों को 'भिक्षु' के रूप में दीक्षित किया। मुझे अच्छा लगा कि मैंने यह दीक्षा बोधि

वृक्ष, जिसके नीचे बुद्ध ने ज्ञान पाया था, के पास स्थित तिब्बती मठ में दी जहां से महाबोधि भी दिखता था।

तब मैं सारनाथ और हिरण पार्क गया जहां बुद्ध ने पहला प्रवचन दिया था। मेरे साथ लिंग रिंपोछे, त्रिजांग रिंपोछे तथा वस्त्र, अनुष्ठान व रसोई के सेवकों का एक छोटा का काफिला था। पहुंच कर मैंने पाया कि नेपाल के रास्ते नये आये कोई दो हजार तिब्बती शरणार्थी, मेरे शिक्षा देने की बात सुनकर जमा हो गए थे। उनकी बहुत खराब दशा थी। मगर मैंने पाया कि वे दिक्कतों का मुकाबला बड़ी बहादुरी से कर रहे हैं। तिब्बती कभी न थकने वाले व्यापारी हैं। वे पहले ही स्टाल लगाए हुए थे। कुछ कीमती सामान बेच रहे थे जो वे अपने साथ ला पाये थे। कुछ अन्य पुराने कपड़े बेच रहे थे। कई तो सिर्फ चाय बेच रहे थे। इन दिक्कतों के बावजूद उनमें इतना जोश देखकर मुझे हौसला मिला। हर कोई अपनी मुश्किलों व क्रूरता की कहानी लिये था। मगर वे तो उसी से काम चला रहे थे जो जिन्दगी ने थोड़ा बहुत उन्हें दिया था।

हिरण पार्क में यह सप्ताह भर का शिक्षण मेरे लिए अद्भुत रहा।

इसका अर्थ यह था कि मैं वहां शिक्षा दे रहा हूं जहां स्वयं बुद्ध ने ढाई हजार वर्ष पहले दी थी। इस दौरान मैंने संकट की घड़ी के सकारात्मक पहलुओं पर ध्यान एकाग्र किया। मैंने सभी को बुद्ध के ये शब्द याद दिलाए कि "कष्ट-तकलीफ तो मुक्ति' का पहला सोपान है।" एक पुरानी तिब्बती कहावत भी तो है कि "दर्द वो है जिसे हम खुशी से मापते हैं।"

मसूरी लौट आने के कुछ समय बाद पता लगा कि भारत सरकार मुझे धर्मशाला नामक जगह पर स्थाई आवास देने की योजना बना रही है। यह अनापेक्षित खबर भी थी और चौंकाने वाली भी। मैंने नक्शे में धर्मशाला को देखा तो पता लगा कि यह भी मसूरी की तरह हिल स्टेशन है मगर है दूर की जगह। और पूछने पर पता लगा कि मसूरी के विपरीत जो दिल्ली से कुछ ही घण्टों का रास्ता है, राजधानी से दिन भर की यात्रा की दूरी पर

है। अब मुझे शक होने लगा कि भारत सरकार हमें संचारहीन ऐसी जगह पर छुपाना चाहती है जहां हम तिब्बती बाहरी दुनिया की नजरों से ओझल हो जायें।

तो मैंने आग्रह किया कि मुझे तिब्बती सरकार का एक कर्मचारी धर्मशाला भेजने दें ताकि वह देख आये कि हमारी जरूरतों के उपयुक्त जगह है भी या नहीं। मेरी बात मान ली गई और मैंने कशाग के एक सदस्य जे. टी. कुंदेलिंग को जगह देखने भेजा। हफ्ते भर बाद आकर उसने घोषणा की "धर्मशाला का पानी भी मसूरी के दूध से बेहतर है।" हमने तुरन्त पड़ाव बदलने की तैयारियां शुरू कर दीं।

इसी बीच मैं उत्तरी सूबों की पहली यात्रा पर गया जहां मेरे हजारों लोग सड़क बनाने में लगे थे। उन्हें देखकर मेरा दिल भारी हो गया। बच्चे औरतें और मर्द सभी लगे थे। भूतपूर्व किसानों, भिक्षुओं, भिक्षुणियों और कर्मचारियों सभी को इकट्ठे झोंक दिया गया था। दिन भर चिलचिलाती धूप में खून पसीना एक करते और रात को छोटे से तंबू में सिकुड़ते रहते। कोई भी तो जलवायु का अभ्यस्त नहीं हो पाया था। और यद्यपि कैम्पों में थोड़ी ठण्ड भी रहती तो भी गर्मी और आद्रता के कारण बुरा हाल था। हवा दुर्गन्ध और मच्छरों से भरी रहती। चारों तरफ बीमारियां फैलनी ही थीं। और कोढ़ में खाज यह कि काम भी जोखिम वाला था। ज्यादातर काम ढालू पहाड़ों के साथ होता। बहुत से डायनामाईट से हताहत हुए सो अलग।

आज भी कुछ लोग इस भयावह श्रम के निशान लिये हैं और अंग भंग तथा पंगु हैं। उनकी मेहनत भी रंग तो लाई मगर किसी वक्त यह जोखिम निरर्थक लगता था। मूसलाधार बरसात आती और उनकी मेहनत लाल कीचड़ में बह जाती। इसके बावजूद हताश हालात से गुजरकर भी शरणार्थी मुझे हार्दिक सम्मान देते। और जब मैं कहता कि हमारा आशावादी रहना अत्यावश्यक है तो बात ध्यान से सुनते। मैं बहुत प्रभावित हो जाता।

लेकिन इन सड़क निर्माण कैंपों की यात्राओं ने मुझे एक और समस्या से अवगत कराया। इन मजदूरों के बच्चे कुपोषण के बुरी तरह शिकार थे और मृत्यु दर भी बहुत ऊंची थी। सो मैंने तुरन्त भारत सरकार से संपर्क किया

आज़ाद शरणार्थी

उसने खास उनकी जरूरतों को समर्पित नए ट्रांजिट कैम्प खोले। साथ ही पचास बच्चों का पहला जत्था मसूरी भेजा गया जहां हमारा पहला स्कूल बन चुका था।

1 फरवरी 1960 को पहले पुनर्वासी मैसूर राज्य में बालकुप्पे गए। मैंने बाद में सुना कि जब शरणार्थियों ने जमीन देखी तो वे हताश हो रोने लगे। बेहद मेहनत वाला काम था। उन्हें तंबू तथा आवश्यक उपकरण भी दिए गए थे। लेकिन उनका एकमात्र साधन अब वह दृढ़निश्चय ही था जिसे उन्हें बनाये रखना था।

एक महीने के बाद 10 मार्च को तिब्बती निर्वासन सरकार के अपने 80 अधिकारियों के साथ धर्मशाला को रवाना होने से पहले मैंने तिब्बती जनता की जनक्रांति की वर्षगांठ पर दिया जाने वाला बयान, जो अब परंपरा बन गई है, दिया। मैंने इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि मेरी जनता तिब्बत की स्थितियों पर लंबी अवधि के नजरिए की जरूरत समझे। मैंने कहा कि हम निर्वासितों के लिए प्राथमिकता है पुनर्वास और सांस्कृतिक धरोहर को बनाए रखना। जहां तक भविष्य की बात है मैंने अपना विश्वास व्यक्त किया कि सच्चाई, न्याय और हिम्मत जैसे हथियारों से हम तिब्बती आखिर एक दिन तिब्बत की आजादी को पुनः हासिल कर ही लेंगे।

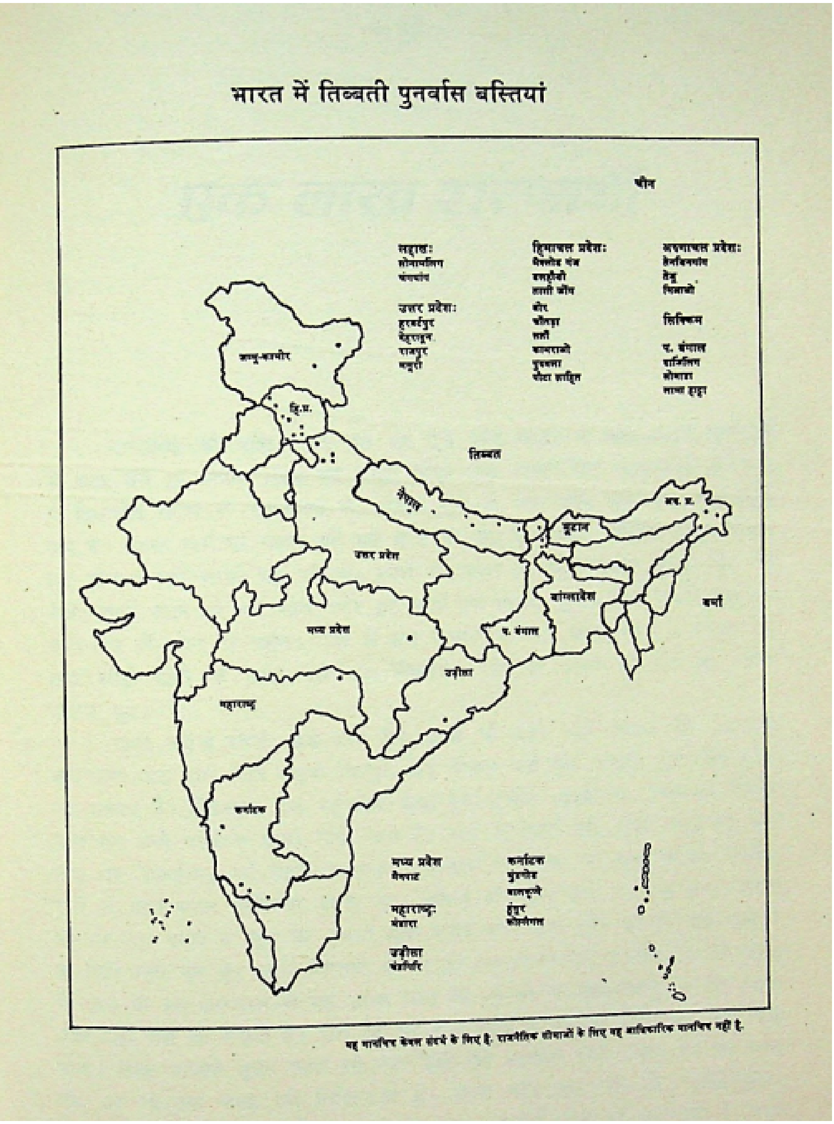
भारत में तिब्बती पुनर्वास बस्तियां
चीन
हिमाचल प्रदेश:
उत्तर प्रदेश:
सिक्किम
प. बंगाल
तिब्बत
जम्मू-कश्मीर
उत्तर प्रदेश
मध्य प्रदेश
महाराष्ट्र
कर्नाटक
भूटान
बांग्लादेश
बर्मा
मध्य प्रदेश
महाराष्ट्र:
उड़ीसा
कर्नाटक

-9-

एक लाख शरणार्थी

धर्मशाला की यात्रा हमने रात भर ट्रेन और मोटर से की। अपने काफिले के साथ मैंने 29 अप्रैल 1960 को मसूरी छोड़ा तथा अगले दिन पठानकोट एक्सप्रेस से हिमाचल प्रदेश के धर्मशाला में पहुंचा। ट्रेन के बाद कार की यात्रा मुझे खूब याद है। सड़क मार्ग पर पहले घंटे की यात्रा के बाद दूर सफेद चोटियां दीखने लगीं। हम सीधे उनकी तरफ बढ़ रहे थे। रास्ते में भारत के कुछ सबसे सुन्दर गांव भी देखे। वृक्षों वाले हरे भरे खेत और हर कहीं रंग बिरंगे फूल। तीन घण्टे बाद हम धर्मशाला के केन्द्र में पहुंचे। यहां से हम लिमोजिन कार छोड़ जीप में सवार हुए तथा चौड़ी घाटी के ऊपर बसे गांव मैकलोड गंज के अपने नए घर की तरफ रवाना हुए।

खड़ी चढ़ाई रोंगटे खड़े कर देने वाली थी और मुझे ल्हासा के आसपास की यात्रा याद आई जहां सड़क किनारे खड़े होकर कई बार हजारों फुट नीचे देखा जा सकता है। मैकलोड गंज पहुंचकर देखा कि सुनहरे अक्षरों में 'स्वागतम्' लिखा बांस का नया दरवाजा हमारे लिए बना है। यहां से सिर्फ एक मील आगे था मेरा नया घर 'स्वर्गाश्रम' जो पहले 'हाइक्राफ्ट हाऊस' कहलाता था तथा जिसमें ब्रिटिश राज में डिवीजनल कमिश्नर रहता था। जंगल के बीच छोटे घरों से घिरा छोटा सा घर था। इनमें से एक घर हमारी एक रसोई था। तीन और घर मेरे कर्मचारियों के लिए मांगे गए थे। इसमें विस्तार की काफी संभावनाएं थीं हालांकि जितनी जगह में रहने के हम अभ्यस्त थे यह उससे कम थी तो भी मैं अहसानमंद था कि चलो अब यहां बस तो सकते हैं। रात देर गए हम पहुंचे थे इसलिए मैं ज्यादा नहीं देख पाया। मगर अगली सुबह जागा तो एक पक्षी की आवाज सुनी। बाद में पता लगा कि यह तो इस जगह की विशिष्टता है। मानो पक्षी कह रहा हो "कारा-चोक, कारा-चोक"। मैंने खिड़की से झांका कि देखूं आवाज कहां से आ रही है मगर पक्षी नहीं दिखा। इसके बजाए भव्य पहाड़ों ने मेरी निगाहों का स्वागत किया।

कुल मिलाकर धर्मशाला हमें अच्छा लगा मगर मैंने पाया

कि कुंदेलिंग को मसूरी के दूध का स्वाद पुनः अच्छा लगा और कई साल बाद वह दोबारा वहां चला गया। इस धर्मशाला क्षेत्र की एकमात्र वास्तविक दिक्कत इसकी बरसात है जो भारतीय उप-महाद्वीप में दूसरे नम्बर पर सर्वाधिक है। शुरू में तो यहां सौ से भी कम तिब्बती थे मगर आज यहां शरणार्थियों की संख्या पांच हजार से ऊपर पहुंच चुकी है। सिर्फ एक या दो बार ही हमने यहां से जाने पर गंभीरता से विचार किया था। पिछली बार तो तब जब तेज भूकंप ने कई इमारतों को नुक्सान पहुंचाया था। लोग कहने लगे कि यहां रहना खतरनाक है। इस क्षेत्र में भूगर्भीय हलचल होती तो है मगर बहुत मामूली। पिछली गंभीर गड़बड़ 1905 में हुई थी जब यह अंग्रेजों की ग्रीष्मकालीन आरामगाह होती थी। उस मौके पर उनकी चर्च की मीनार टूट गई थी। इसलिए यह मान लेना ही ठीक है कि बड़े पैमाने पर झटके कभी-कभार ही लगते हैं। और फिर यूं भी कई व्यवहारिक कारणों से यहां से चले जाना मुश्किल ही था। बिड़ला हाउस की तरह इस नए घर में भी मैं अपनी मां के साथ रहा। मुझे उपहार में दो ल्हासा आप्सो कुत्ते दिए गए थे वे भी मेरे साथ रहे। ये पशु हर किसी के लिए मनोरंजन का निरन्तर स्त्रोत थे। उन दोनों के गुण भी बड़े खास थे। इनमें से बड़े को सांग्ये कहा जाता। मैं कई बार सोचता कि वह पिछले जन्म में शायद कोई भिक्षु रहा होगा और भिक्षु भी वैसा जो तिब्बत में भुखमरी से मरा हो। मैं यह इसलिए कह रहा हूं कि वह एक तरफ तो विपरीत लिंग में कोई रूचि नहीं रखता था और दूसरी तरफ भोजन के मामले में बड़ा उत्साही था। जब पेट भर खा चुका हो तब भी अगर और मिल जाये तो वह भी खा लेता। इसके अलावा वह मेरा बेहद वफादार भी था।

दूसरा कुत्ता ताशी उससे बिल्कुल अलग था। छोटा होने के बावजूद भी वह उन दोनों में ज्यादा बहादुर था। यह मुझे एवरेस्ट पर्वतारोही तेनजिन नोर्गे ने भेंट किया था। हो सकता है इसका कोई असर हो। मुझे एक बार की याद आती है जब वह बीमार हुआ था और उसे टीके लगाने पड़े। पहला टीका लगने के बाद वह बहुत डर गया। इसलिए बाद में टीका देते वक्त उसे दो आदमियों द्वारा पकड़ना पड़ता। इस दौरान ताशी भौंकता-गुर्राता रहता और टीका देने वालें को काम पूरा करते ही घर से भागना पड़ता। उसके जाने के बाद ही उस कुत्ते को छोड़ने में भलाई थी क्योंकि बाद में वह उस बेचारे को ढूंढ़ने के लिए सूंघता फिरता। वह भयानक दिखता था लेकिन

इसके काटने से उसका भौंकना और भी बदतर था। उसके जबड़े एक दूसरे पर इस तरह चढ़ जाते थे कि वह किसी चीज में अपने दांत गड़ा नहीं पाता था।

जब मैं धर्मशाला गया तो हमारे साथ भारत सरकार के संपर्क अधिकारी श्री नैयर तथा भारतीय सेना के कई अंगरक्षक थे। मेरे नैयर के साथ मधुर संबंध थे। नैयर ने मुझे अंग्रेजी सिखाने का प्रस्ताव किया। इसका महत्व समझते हुए मैंने तेनजिन चोग्याल को पहले ही दार्जिलिंग के अंग्रेजी स्कूल नार्थ प्वायंट में भेज दिया था और मसूरी में रहते अंग्रेजी भाषा के पाठों के अभ्यास शुरू कर दिया था। भारत सरकार ने बड़ी उदारतापूर्वक मुझे हफ्ते में दो या तीन बार पढ़ाने के लिए कोई शिक्षक उपलब्ध करा दिया था।

लेकिन उस समय विद्यार्थी होने में मेरी रूचि नहीं थी और मैं बचने के बहाने खोज लेता। इसलिये मैं कुछ ज्यादा सीख न सका। यद्यपि अपने नये संपर्क अधिकारी के साथ काम करने में मुझे आनंद आता और उसकी दीक्षा में मैंने खूब सीखा भी। लेकिन वह जब मुझे ढेर सा लिखने का काम देता तो मेरा हौसला पस्त हो जाता। जब दो वर्ष बाद उसका कहीं और तबादला हो गया तो मुझे दुख हुआ।

उसके बाद से मैंने अंग्रेजी की औपचारिक पढ़ाई बहुत कम की। कुछ तिब्बतियों समेत विभिन्न लोगों ने मुझे सिखाया लेकिन मुझे आज भी नहीं लगता कि अंग्रेजी पर मेरा अधिकार उससे बेहतर है जो पच्चीस साल पहले था। जब मैं कभी विदेश जाता हूं तो मुझे यह बात दर्दनाक ढंग से सालती है। मैं कई बार बड़ी गलतियां करके झुंझला जाता हूं और मुझे खेद होता है कि जब अवसर था तो उस समय कड़ी मेहनत नहीं की।

धर्मशाला के उन शुरूआती वर्षों में अंग्रेजी सीखने के अलावा मैंने खुद को धार्मिक अध्ययन को भी पुनः समर्पित कर दिया। मैंने उन तिब्बती ग्रन्थों को पुनः पढ़ना शुरू किया जो मैंने अपनी किशोरावस्था में पढ़े थे। साथ ही

मैंने निर्वासन में आए विभिन्न संप्रदायों के आध्यात्मिक गुरूओं से भी ज्ञान लेना शुरू किया। और यद्यपि बोधिचित्त (सभी चेतन प्राणियों के लाभ के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने की आकांक्षा) को प्राप्त कर लेना अभी भी काफी दूर प्रतीत होता था मगर मुझे लगने लगा कि अब काम करने की कोई बाध्यता नहीं रह गयी है। यह विचार मुझे नहीं भाया तथा मैंने खूब काम करना शुरू कर दिया। दुर्भाग्यवश समय की कमी इस क्षेत्र में शीघ्र ही बड़ी बाधा बन गयी। लेकिन मैं कह सकता हूं कि अब तक मैंने जो आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया है वह उसी अनुपात से है जितना प्रयत्न मैं इसमें कर सका।

धर्मशाला पहुंचने के एक पखवाड़े के भीतर मैंने तिब्बती शरणार्थी बच्चों के लिए पहली नर्सरी खुलवा दी थी। यह नर्सरी उस भवन में बनी जो पहले परित्यक्त था तथा जिसे भारत सरकार ने नये आ रहे शरणार्थियों के अनाथ बच्चों को रखने के लिए किराये पर लिया था। मैंने इसे चलाने के लिए अपनी बड़ी बहन सेरिंग दोल्मा को नियुक्त किया। पहली बार जब पचास का जत्था आया तो जगह काफी नहीं थी। लेकिन वे अपने बाद में आने वालों के मुकाबले तो बहुत सुविधा से रहे क्योंकि साल के अन्त तर्क उनकी गिनती दस गुना बढ़ गई थी और यह थमने का नाम नहीं ले रही थी। एक बार तो 120 बच्चे एक ही कमरे में रहे। पांच या छह बच्चों को एक बिस्तर पर आड़े सोना पड़ता ताकि पूरे आ जायें। यद्यपि स्थिति बड़ी कठिन थी लेकिन मैं जब भी अपनी बहन और उसके नये विस्तारित परिवार को देखने जाता, खुश हुए बिना न रह पाता। क्योंकि ये अनाथ और निराश्रित बच्चे हंसी खुशी से इतने भरपूर थे कि लगता था कि वे अपने कष्टों को मजाक में उड़ा देते हैं।

आज़ाद शरणार्थी

मेरी बहन बहुत अच्छी नेता साबित हुई जो कभी हताश न होती। वह

हट्टी-कट्टी और बहुत अनुशासित थी जिसने परिवार का गुस्सा पुरी तरह विरासत में पाया था। वह उदारमन थी और हंसमुख थी। उस कठिन समय

में उसका योगदान अमूल्य था। एक साधारण ग्रामीण लड़की की तरह उसकी भी शिक्षा नहीं हुई थी और उसका ज्यादातर समय घरेलू कामों में मां का हाथ बंटाते बीता था। मेहनत करने की क्षमता उसमें खूब थी। यह गुण और निर्भीक स्वभाव, दोनों ने मिलकर उसे बहुत अच्छा नेता बना दिया था।

यद्यपि यह शीघ्र ही साफ हो गया कि इन अनाथों का काम चलाने के लिए न तो हमारे पास और न भारत सरकार के पास ही पर्याप्त साधन हैं इसलिए मैंने निष्कर्ष निकाला कि यदि संभव हो सके तो उनमें से कुछ को समुद्रपार गोद दिया जाना जरूरी है। इसलिए मैंने अपने एक स्विस दोस्त डा. एइशमेन से संपर्क कर इसकी संभावनाओं का पता लगाने को कहा। स्विट्जरलैण्ड इसलिए भी मुझे आदर्श जगह लगती थी कि यह बेहतर संचार साधनों वाला एक छोटा सा देश है और इसके पहाड़ों की खूबी यह है कि घर की याद आती रहे।

स्विस सरकार शुरू से ही सहयोगी रही तथा उसने कहा कि वह 200 बच्चे तुरन्त लेने को तैयार है। इसके अतिरिक्त यह सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाने को सहमत थी कि बच्चे साधारण स्विस परिवारों में गोद दिए जाने के बावजूद यथासंभव अपनी अद्वितीय तिब्बती संस्कृति व पहचान बनाये रख सकें।

बच्चों के इस जत्थे के बाद और जत्थे गए और बाद में तो ऐसी योजना भी बनी कि न केवल कुछ बड़े विद्यार्थी वहां पढ़ें बल्कि 1000 वयस्क शरणार्थी भी स्विट्जरलैण्ड में बसाए जायें। हमारी स्थिति सुधरने पर स्विट्जरलैण्ड की उदारता की जरूरत न रही। लेकिन मेरी जनता के लिए इतना कुछ करने के लिए मैं उनका अत्यंत आभारी हूं। धर्मशाला पहुंचने के शीघ्र बाद मैं इन्टरनेशनल कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट्स के कुछ सदस्यों के साथ व्यक्तिगत संपर्क में आया जिनके पिछले साल के काम ने हमें काफी हौसला दिया था। उन्होंने मुझे कमीशन की लीगल इंक्वायरी कमेटी के सामने गवाही देने के लिए बुलाया। कमीशन की रिपोर्ट अगस्त 1960 में प्रकाशित हुई जो एक बार फिर न्यायविदों द्वारा तिब्बती दृष्टिकोण की पुष्टि करती थी। इसने कहा कि चीन ने मानवाधिकारों की विश्व घोषणा की सोलह धाराओं का उल्लंघन किया है और वह तिब्बत में नरसंहार का दोषी

है। उन्होंने कुछ अत्याचारों का भी विवरण दिया जिसकी चर्चा में पहले कर चुका हूं।

कमीशन के साथ विचार-विमर्श में मैंने एक बड़ी काम की बात सीखी। इसका एक सदस्य जो मेरे ख्याल में अंग्रेज था, पूछने लगा कि क्या हममें से कोई पीकिंग रेडियो के प्रसारण भी सुनता है। मैंने कहा नहीं, कोई नहीं। इस बात से उसे थोड़ा धक्का सा लगा और फिर उसने इस बात की आवश्यकता को कुछ विस्तार से समझाया कि हमें उनकी बातों को ध्यान से सुनना चाहिए। यह भी हमारे कपट की कमी थी जो ऐसी बात हमारे ध्यान में नहीं आई। हमारे लिये पीकिंग रेडियो झूठ और दुष्प्रचार के सिवा कुछ न करता था। चीनियों के दिमाग में क्या चल रहा है यह जानने के लिए इसे सुनने का हमें कोई फायदा न नजर आता था।

मुझे इसे सुनने का तर्क समझ में आ गया था। इसलिए मैंने तुरन्त काशाग को प्रसारण सुनने के लिए एक दल बनाने को कहा जिसके उत्तराधिकारी आज भी यह काम कर रहे हैं।

पूरे 1960 में मैं तिब्बती प्रशासन में सुधार लाने के लिए लगा रहा तथा काशाग व अन्य के साथ मिलकर इसे प्रजातांत्रिक बनाने की जटिल प्रक्रिया शुरू की। दो सितम्बर को मैंने कमीशन ऑफ तिबेतन पीपुल्स डिप्टीज का श्रीगणेश किया। सरकार की उच्चतम वैधानिक संस्था की सदस्यता तिब्बत के तीन क्षेत्रों ऊ-त्सांग, आम्दो व खम के निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिए खुली थी। इसी तरह तिब्बती बौद्ध धर्म की हर मुख्य परंपरा के लिए सीट थी। बाद में पुराने बोन धर्म के अनुयायियों को भी शामिल किया गया। कमीशन, जो अब 'असेंबली ऑफ तिबेतन पीपुल्स डेप्यूटीज' या 'भ्यो मीमांग चेतुई ल्हेनखांग' के नाम से जानी जाती है बहुत कुछ संसद के सदन की तरह कार्य करती है। इसके सदस्य काशाग व विभिन्न विभागों के सचिवों से (लेखांग) से विमर्श के लिए महीने में एक बार मिलते हैं। विशेष अवसरों पर पूर्ण नेशनल वर्किंग कमेटी या 'ग्युनले'

मिलती है जिसमें सभी विभागों के सचिव और मंत्रिमंडल 'काशाग' के सदस्य भी होते हैं। आजकल काशाग के सदस्यों मैं नियुक्त नहीं करता बल्कि वे चुने जाते हैं। पीपुल्स डेप्यूटीज जो भी पारित कर दें, उसे क्रियान्वित किया जाना जरूरी होता है।

शुरू में यह नयी व्यवस्था बहुत संतोषजनक नहीं थी। चूंकि ये परिवर्तन तिब्बतियों के लिए बहुत ज्यादा थे इसलिए कुछ लोगों ने यह भी कहा कि धर्मशाला में सरकार 'सच्चे' समाजवाद का पालन कर रही थी। तीन दशकों बाद कई समस्याएं अभी भी हमारे सामने हैं। लेकिन स्थितियां लगातार बदलती और सुधरती रही हैं। यकीनन ही हम चीन के हमारे भाईयों और बहनों से बहुत आगे हैं जो हमसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। इसके लिखे जाने के समय निर्वासन में तिब्बती सरकार लोकतन्त्र को और ज्यादा उन्नत करने के लिए नये कदम लागू करने की प्रक्रिया में लगी है। निर्वासन में आए हुए कुछ पुराने कर्मचारियों को यह परिवर्तन मानने में शुरू में बड़ी दिक्क्त हुई। लेकिन फिर भी उन्होंने हमारी व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता समझी और इसके लिए बड़े उत्साह से कड़ी मेहनत की। मैं उन्हें बड़े प्रेम से याद रखूंगा। शुरूआती वर्षों में मैं तो कुछ स्तर तक सुविधा से रह सका लेकिन अधिकतर सरकारी कर्मचारियों के लिये स्थिति ऐसी बिल्कुल न थी। उनमें से कुछ को बहुत वृद्ध होने के बावजूद बड़ी खराब हालत में रहना पड़ा उदाहरण के लिए कुछ ने गायों के छप्परों में आश्रय लिया। भले ही तिब्बत में उम्र भर वे बहुत अच्छी तरह रहे थे। मगर इन छप्परों में भी वे खुशी से बिना शिकवा शिकायत रहे। मैं जिस दिशा में बढ़ रहा था उससे यदि कोई अपनी रूढ़ि के कारण मन ही मन असहमत भी था, तो भी, उन कठिन दिनों में थोड़ा बहुत योगदान हरेक ने दिया। कठिनाईयों का मुकाबला उन्होंने मिलजुल कर किया तथा व्यक्तिगत लाभ की परवाह किये बिना हमारी जनता की बिखरी जिन्दगी के पुनर्निर्माण के लिये जी तोड़ कोशिश की।

आज़ाद शरणार्थी

उन दिनों उनका वेतन 75 रूपये या 3 पौंड प्रतिमाह से ज्यादा न था,

हालांकि अपनी शिक्षा के बूते वह स्वयं के लिये इससे ज्यादा कहीं भी कमा सकते थे।

उस समय प्रशासन चलाना आसान नहीं था। लोगों में व्यक्तिगत मतभेद तथा काफी मात्रा में छोटे मोटे झगड़े आम बातें थीं। लेकिन कुल मिलाकर प्रत्येक ने अपनी ऊर्जा का इस्तेमाल दूसरों की भलाई के लिए उत्साह से व निस्वार्थ रूप से किया।

शुरू से ही मेरा दूसरा मुख्य काम था हमारे धर्म का संरक्षण करना व इसे बनाये रखना। मैं जानता था कि इसके बिना हमारी संस्कृति के स्त्रोत सूख जायेंगे। भारत सरकार पहले-पहल भूटानी सीमा के निकट बक्सा द्वार के पुराने युद्ध-बन्दी कैंप में 300 भिक्षुओं का विद्वान समुदाय बनाने का खर्च उठाने पर सहमत हो गयी। लेकिन यह समझाने पर कि बुद्धत्व उच्च दर्जे की विद्वत्ता पर निर्भर करता है, हम अन्ततः उन्हें सभी प्रथाओं के 1500 भिक्षुओं तक का खर्च उठाने पर सहायता करने में सफल हो गये। इनमें निर्वासन में आए 6 हजार के लगभग भिक्षुओं में से सबसे छोटे तथा सर्वाधिक योग्य भिक्षु थे और इतने ही जीवित बच सके अनुभवी अध्यापक शामिल थे।

दुर्भाग्य से बक्सा द्वार में हालात बड़े बुरे रहे। जलवायु बहुत गर्म तथा आर्द्र थी तो बीमारियां फैली हुई थीं। भोजन राशन दूर से भेजे जाने से समस्या और भी बढ़ गयी। जब वे पहुंचते तब उनमें से कई की हालत बहुत खराब थी। कुछ ही महीनों में सैकड़ों भिक्षुओं को तपेदिक हो गई। तो भी कहीं और ले जाये जाने तक वे कड़ा श्रम व अध्ययन करते रहे। मुझे अफसोस है कि मैं वहां न जा पाया। मगर मैंने पत्रों तथा टेप किए सन्देशों से उनका हौसला बनाये रखने की कोशिश की। आखिरकार इससे फायदा हुआ। क्योंकि, भले ही यह शिविर अपनी भयावह समस्याओं से कभी उबर न पाया तो भी वहां बचे भिक्षु एक शानदार धार्मिक समुदाय के केन्द्र बन गये।

उन शुरूआती वर्षों में सबसे बड़ी जिस एक कठिनाई का सामना करना पड़ा, वह थी पैसे की कमी। हमारे शैक्षणिक और पुनर्वास के कार्यक्रमों के लिए यह कोई बाधा नहीं थी। भारत सरकार व समुद्रपार की विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं ने उदारता पूर्वक कई परियोजनाओं हेतु धन दिया।

लेकिन मैंने प्रशासन जैसी चीज के लिए पैसा मांगना उचित नहीं समझा। 2 रु. प्रति व्यक्ति प्रति मास का स्वेच्छिक आजादी कर लगने व वेतनिक श्रमिकों के लिए मासिक वेतन के दो प्रतिशत स्वैच्दिक कर से इकट्ठा हुआ धन पर्याप्त नहीं था। उम्मीद की किरण वह खजाना था जो केनराप तेनज़िन ने दूरदर्शिता पूर्वक 1950 में ही सिक्किम में जमा करा दिया था। यह अभी भी वहीं था। शुरू में तो मैं यह खजाना सीधे भारत सरकार को बेचने की सोच रहा था जिसका प्रस्ताव स्वयं नेहरू जी ने किया था। लेकिन, मेरे सलाहकार इस बात पर दृढ़ थे कि इसे खुले बाजार में बेचा जाये। उन्हें विश्वास था कि इससे कुछ ज्यादा कीमत मिलेगी। आखिरकार यह कलकत्ता में बेचा गया जहां इससे उस समय 80 लाख डालर के बराबर राशि मिली।

से यह बहुत था। इस राशि से कई उद्योगों में पैसा लगाया गया। लोहे के पाईप बनाने का संयंत्र तथा पेपर मिल से जुड़ा व्यवसाय इत्यादि वे काम धन्धे थे जिनके बारे में माना जाता था कि निश्चित लाभ मिलेगा। दुर्भाग्य से हमारी बहुमूल्य पूंजी के उपयोग के प्रयास जल्द ही बेकार हो गये। बड़े दु:ख की बात है कि बहुत से लोग हमारी सहायता करने का दिखावा करके हमें चपत लगा गए। ऐसा लगता है कि उन्हें हमसे ज्यादा अपनी पड़ी थी और हम ज्यादातर धन खो बैठे। चिकयाब केंपो की योजना बेकार हो गयी। कुल पूंजी के आठवें हिस्से से कम राशि को ही हम बचा पाए जिससे 1964 में एक ट्रस्ट बनी जो बाद में "परम पावन दलाई लामा की चैरिटेबल ट्रस्ट" कहलायी। इस सारे प्रकरण में जो कुछ गलत हुआ उसका मुझे खेद नहीं है। पूरे प्रकरण में यह स्पष्ट है कि यह खजाना तिब्बत की सारी जनता का था न कि सिर्फ निर्वास में मुठ्ठीभर लोगों का। सिर्फ हमारा ही इस पर अधिकार नहीं था। मुझे लिंग रिंपोछे का उदाहरण याद आया जिन्होंने ल्हासा से रवाना होने वाली रात को अपनी प्रिय घड़ी वहीं छोड़ी दी थी। उन्होंने महसूस किया था कि निर्वासन में जाने से इस पर उनका अधिकार नहीं रहा। मैं अब देखता हूं कि वह सही दृष्टिकोण था।

रही बात मेरे व्यक्तिगत धन की, तो जहां पहले दलाई लामा के वित्तीय मामले संभालने वाले दो पद होते थे तो 1959 के बाद सिर्फ एक रखा गया। यह एक निजी ऑफिस है जिसमें मेरी आय व्यय तथा मेरा भत्ता जो कि भारत सरकार द्वारा आज भी बिना बदले 20 रू. प्रति दिन यानि डॉलर से थोड़ा ज्यादा तथा पोण्ड से काफी कम के हिसाब से दिया जा रहा, शामिल है। सैद्धान्तिक रूप से यह मुझे भोजन वस्त्र का खर्च मिलता है। मुझे पहले की तरह अब भी पैसे का प्रत्यक्ष कुछ नहीं करना होता। यह शायद ठीक भी है क्योंकि मेरा हाथ थोड़ा खुला है। मुझे साथ ही अपने बचपन से यह भी पता है कि मैं एक एक कौड़ी को भी दांत से पकड़ सकता हूं। मैं निर्देश दे सकता हूं कि जो धन मुझे व्यक्तिगत रूप से मिले उसे कैसे खर्च किया जाये। नोबेल शान्ति पुरस्कार का ही उदाहरण ले लीजिए।

धर्मशाला में मुझे पहली गर्मियों में फुर्सत के कुछ पल मिले और मैंने शाम को बैडमिन्टन खेलना शुरू कर दिया तब मैं अक्सर भिक्षुओं के वस्त्र नहीं पहनता था। तब सर्दियों में जो बड़ी सख्त थीं, हम बर्फ में खेलने का आनन्द लेते रहे। मेरी बड़ी बहन और मां अपनी उम्र के बावजूद स्नोबाल फाईटिंग में उत्साह से भाग लेती थीं।

एक थोड़ा गम्भीर किस्म का मन बहलाव था नजदीकी धौलाधार श्रृंखलाओं में ट्रेकिंग का जिसकी सबसे ऊंची पहाड़ी कोई सत्रह हजार फुट से भी ऊंची होगी। पहाड़ों से मुझे हमेशा लगाव रहा है। एक बार मैं अपने अंगरक्षकों की टोली समेत एक ऊंची पहाड़ी पर जा चढ़ा। वहां पहुंचते-पहुंचते हम बहुत थक चुके थे इसलिए मैंने सुझाव दिया कि क्यों न आराम कर लिया जाए। जब हम हांफते हुए पहाड़ों की सुन्दरता निहार रहे थे तो मैंने देखा कि कुछ दूरी से हमें एक छोटा, काला को मजाक में उड़ा देते हैं।

पहाड़ी आदमी देखे जा रहा है। वह कुछ पल हमें घूरता रहा और फिर एक लकड़ी के छोटे टुकड़े जैसी चीज पर बैठा तथा पहाड़ के एक तरफ तेजी से फिसलकर नीचे उतरने लगा। एक पल में ही वह हजारों फुट नीचे पहुंच

गया और मैं ठगा सा देखता रहा। मैंने सुझाव रखा कि आओ हम भी ऐसे ही उतरें।

किसी ने रस्सी ढूंढ निकाली और हम सभी ने आपस में एक दूसरे को बांध लिया। तब हम सभी लकड़ी या समतल पत्थर पर बैठे और वही किया जो हमारे उस चुप्पे दोस्त ने किया था। मजा तो बहुत आया मगर खतरा भी खूब था। हम बर्फ में रगड़ खाते, एक दूसरे से टकराते, उछलते जा रहे थे। सौभाग्य से कोई घायल नहीं हुआ। मगर उसके बाद मेरे अनुचर ऐसे जोखिमों से कतराने लगे। उसके बाद मैं जब कभी नए भ्रमण की घोषणा करता तो मेरे अंगरक्षक कतराते फिरते।

इन्हीं फुर्सत के दिनों में मैंने एक अंग्रेज लेखक डेविड हावर्थ के साथ एक पुस्तक "माई लैण्ड एण्ड माई पीपुल" (मेरी धरती मेरे लोग) पर काम किया, जिसमें मैंने अपनी जिन्दगी का पहली बार विवरण दिया।

1961 में सरकार ने 'ड्राफ्ट कांस्टीट्यूशन ऑफ टिबेट' की रूपरेखा प्रकाशित किया। तिब्बती जनता के सभी सदस्यों को इस पर टिप्पणियां तथा आलोचनाएं करने के लिए न्यौता दिया गया। मुख्तया उन्होंने दलाई लामा के पद से जुड़े महत्वपूर्ण अनुच्छेद का हवाला दिया। धर्मतन्त्र से दूर जाकर पूर्ण लोकतन्त्र हासिल करने के लिए मैंने यह प्रबन्ध किया था कि नेशनल असेंबली अपने दो-तिहाई मत से किसी भी अधिकारी को हटा सकेगी। दुभाग्य से इस विचार पर कि दलाई लामा को हटाया जा सकेगा, कई तिब्बती लोगों को गुस्सा आ गया। मुझे समझाना पड़ा कि प्रजातन्त्र तो बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार ही है। तब अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हुए यह अनुच्छेद मैंने बना रहने दिया था।

उस वर्ष में शुरूआती दौर में मैं सड़कों पर काम कर रहे तिब्बतियों से मिला। साथ ही बालकुप्पे क्षेत्र की भी पहली यात्रा की। पहुंचने पर उन लोगों को मैंने काला व दुबला-पतला पाया। मुझे उनके निराशावादी होने का कारण समझ में आ गया। कैंप के नाम पर जंगल के किनारे कुछ तंबू थे और हालांकि देहात उतने ही सुंदर थे जैसे मैंने तीर्थ यात्रा के दौरान देखे थे मगर जमीन से कोई बहुत ज्यादा आशा नहीं थी। इसके अलावा वहां जलते कचरे की गर्मी धूप की गर्मी से मिलकर कहर ढा रही थी।

उन्होंने बांस की दीवारों व कैनवस की छत का विशेष तंबू मेरे लिए बना दिया। यह लाख अच्छा था मगर सफाई अभियान से उठ रही धूल अन्दर न आये, इसकी इसमें कोई व्यवस्था नहीं थी। रोजाना आकाश में कालिख व गर्द छाई रहती। रात को यह धीरे-धीरे नीचे बैठती और हर जगह कालिख ही कालिख दिखती। इन्हीं चीजों से तो उनका मनोबल गिरा हुआ था। फिर भी कोई ऐसी बात थी जो मैं इन दोस्तों का हौसला बढ़ा सका। मैंने उनसे कहा कि हमें उम्मीद का दामन नहीं छोड़ना तथा हालांकि खुद विश्वास न था तो भी उन्हें आश्वस्त कर रहा था

कि हम कामयाब होंगे। तकदीर की बात कि उन्होंने मेरी हर बात का विश्वास कर लिया और धीरे-धीरे उनकी तकदीर संवर गई।

भारत के कई राज्यों की उदारता के कारण साठ के दशक में हम बीस से ज्यादा बस्तियां बना सके और लोगों को सड़क से हटाकर इनमें ले गए। इसलिए वर्तमान एक लाख से ऊपर शरणार्थियों में कुछ सौ शरणार्थी ही बचे हैं जो अभी भी सड़क किनारे बने शिविरों में गुजारा कर रहे हैं। और यह सब वे अपनी अच्छा से कर रहे हैं। हमें मिली जमीन आधी से ज्यादा दक्षिणी भारत में स्थित है जहां जलवायु उत्तर के बजाए बहुत गर्म है। इसलिए मैंने नियम बनाया था कि शुरू में हट्टे-कट्टे लोग ही वहां भेजे जायें। तो भी लू व गर्मी से मृत्यु का आंकड़ा इतना अधिक था कि कभी कभार मैं सोचता कि उन गर्म प्रदेशों में जगह स्वीकार करके मैंने कहीं कोई गलती तो नहीं की। तो भी मुझे यकीन था कि आखिरकार मेरी जनता खुद को जरूरत के अनुसर ढाल लेगी। जिस तरह वे मुझमें विश्वास करते थे उसी तरह मेरी भी उनमें आस्था थी।

जब कभी मैंने इन शिविरों का दौरा किया अक्सर मुझे शरणार्थियों को तसल्ली देनी पड़ी। घर से इतना दूर जहां न बर्फ दिखाई दे और न पहाड़। कितना मुश्किल है सहन करना। मैंने उनके दिमाग की स्लेट से ये बातें पोंछनी चाही हैं। मैं उन्हें कहता हूं कि तिब्बत का भविष्य हम शरणार्थियों

पर निर्भर करता है। यदि हम अपनी संस्कृति तथा जीवन के तौर तरीके बचाए रखना चाहते हैं तो इसका एक मात्र रास्ता मजबूत समुदायों के निर्माण से ही है। मैंने शिक्षा के महत्व तथा शादी जैसी व्यवस्था के अर्थ पर भी उनसे बात की है। यद्यपि किसी भिक्षु के लिए यह सलाह देना जंचता नहीं मगर मैंने महिलाओं को बताया है कि जहां तक संभव हो वे तिब्बती पुरुषों से ही शादी करें ताकि होने वाले बच्चे भी तिब्बती हों।

बसाने का अधिकतर काम 1960 और 1965 के बीच हुआ। इस अवधि में मैं इन सभी बस्तियों में जितनी बार संभव हुआ, गया। हालांकि असफलता का विचार कभी मैं पास नहीं फटकने देता लेकिन ऐसे भी पल आये हैं जब हमें हमारी समस्यांए अविजेय प्रतीत हुई। उदाहरण के लिए बसने वालों का 500 का पहला जत्था महाराष्ट्र के भंडारा में गर्मी शुरू होने से पहले बसन्त में गया था। कुछ ही हफ्तों में एक सौ यानि पांचवा हिस्सा लोग गर्मी से मर गए। जब में पहली बार उनसे मिलने गया तो वे आंखों में आंसू लिए आए और किसी ठण्डी जगह पर भेजे जाने की प्रार्थना करने लगे। मैं कुछ नहीं कर पाया सिवा इसके कि उन्हें यह समझाऊं कि वे गलत वक्त में आये थे और बुरा वक्त यकीनन ही बीत चुका है। उन्हें यहां के निवासियों के तौर तरीके अपनाने चाहिएं और देखें कि स्थिति से कैसे जूझ सकते हैं। मैंने उनसे एक साल कोशिश करने को कहा। यदि वे एक साल में इस जगह नहीं बस पाते तो अगली सर्दी में आकर और कहीं बसाने की बात करूंगा।

और ऐसा हुआ कि उसके बाद सब ठीक हो गया। बारह महीने बाद जब मैं गया तो वे समृद्ध होने शुरू हो गए थे। जब मैं कैंप लीडरों से मिला

तो मैंने कहा "तो तुम सब की जान तो नहीं निकली।" वे हंसने लगे और बोले कि सब वैसा ही हुआ जैसा आपने कहा था। हालांकि यह बात जोड़ दूं कि यह समुदाय उसके बाद बहुत सफल रहा लेकिन गर्मी की समस्या के कारण 700 से ज्यादा लोग यहां नहीं आ पाये जैसा कि बालकुप्पे में हमें 3000 एकड़ जमीन, एक एकड़ प्रति व्यक्ति दी गई थी। लेकिन कम

ही लोग पहुंचे। इसलिए बाकी 2,300 एकड़ जमीन हमें लौटानी पड़ी। वह जमीन अन्य शरणार्थियों को दे दी गई। हालांकि वे भी लंबे समय तक वहां नहीं टिके।

इन पुनार्वास प्रोग्रामों की बड़ी दिक्कत तो यह थी कि कुछ समस्याओं के उठ खड़ा होने से पहले ही हमें उनका अन्देशा हो गया था। लेकिन कुछ एक ऐसी भी थी जो बिना बताए आई। एक स्थान पर जंगली सुअरों तथा हाथियों के भटक आने से खूब दिक्कत हुई। उन्होंने न केवल फसलें ही उजाड़ीं बल्कि उन्होंने कई झोंपड़ियों को गिराया, लोगों को कुचला और कई जानें ले लीं।

मुझे वहां रह रहे एक वृद्ध लामा की याद आती है जिसने उन लोगों के बचाव के लिए मुझसे प्रार्थना करने को कहा लेकिन वह संस्कृत का शब्द हाथी प्रयोग कर रहा था। इसका शाब्दिक अर्थ बहुमूल्य प्राणी तथा इसका संदर्भ पौराणिक हाथियों से है जो करुणा के प्रतीक हैं। मुझे ठीक से पता है कि उसका अर्थ क्या था मगर इस तरह प्रयुक्त किए जा रहे शब्द को सुनकर मैं हैरान रह गया। मेरा ख्याल है कि भिक्षु ने असली हाथी के हितैषी प्राणी होने की उम्मीद की होगी।

यों हुआ कि कई साल बाद स्विट्ज़रलैण्ड की यात्रा के दौरान मैं एक फार्म के निरीक्षण पर गया जहां मुझे बिजली की बाड़ दिखाई गई। मेरा गाईड चौंका जब मैंने पूछा कि क्या यह बाड़ हाथियों को रोक सकती है। उसने कहा बेशक, यदि वोल्टेज काफी हो तो। इसलिए मैंने इस आशय से एक बैच इन बस्तियों में भेजा।

हमारी सभी समस्याएं व्यावहारिक न थीं। कई बार हमारी संस्कृति ने हम तिब्बतियों को नई स्थितियों के अनुकूल होने से रोका है। मुझे याद है कि बालकुप्पे से उस यात्रा के दौरान शरणार्थी चिन्तित थे कि जमीन साफ करने के लिए जलाई जाने वाली आग असंख्य छोटे जीवों व कीट पतंगों को मार रही है। बौद्धों के लिए यह भयावह काम था क्योंकि हम विश्वास करते हैं कि सिर्फ मानव जीवन ही नहीं बल्कि हर जीवन पवित्र है। कई शरणार्थी मेरे पास भी आए और कहा कि काम बन्द कर दिया जाये।

विदेशी सहायता एजेंसियों की सहायता से शुरू की कुछ परियोजनाएं भी

इन्हीं कारणों से सफल नहीं हो सकीं। उदाहरण के लिए मुर्गी पालन तथा सूअर पालन की सभी योजनांए विफल हो गई। दिक्कतों के बावजूद भी तिब्बतियों ने भोजन के लिए पशु उत्पादन के प्रति अन्च्छिा दिखाई है। इससे कुछ विदेशियों को व्यंग्य का मौका भी मिला कि तिब्बती मांस खा तो लेते हैं मगर खुद हासिल करने के अनिच्छुक हैं।

इसकी बात जाने दें तो इन संस्थाओं द्वारा मिली सहायता से अधिकतर अन्य योजनाएं खूब सफल रहीं हैं और हमारे दोस्त इन अच्छे परिणामों को देखकर खूब खुश भी हुए हैं।

औद्योगिक रूप से उन्नत देशों की मुक्त सहायता से इन समर्थन के अनुभवों को देखकर सार्वजनिक जिम्मेवारी के मेरे विश्वास की पुष्टि हुई है। यह मुझे मानव विकास की कुन्जी लगती है। सार्वजनिक जिम्मेवारी की इस भावना के बिना दुनिया का असंतुलित विकास ही हो सकता है। लोग जितना अधिक यह समझेंगे कि हम अकेलेपन के ग्रह पर नहीं रह रहे और यह भी कि अन्तत: हम सब भाई बहन ही तो हैं तो इस बात की संभावना बढ़ेगी कि मानवता के एक अंश के बजाए सारी मानवता की तरक्की हो।

कुछ लोग जो विदेशों से आये और जिन्होंने अपना जीवन शरणार्थियों के लिए समर्पित कर दिया उनका अपना अलग स्थान है। उनमें एक था पोलैण्ड का एक यहूदी मॉरिस फ्राइडमैन। मैं उनसे 1956 में पहली बार उनकी एक पोलैण्ड की पेंटर साथी उमा देवी के साथ मिला था। वे भारतीय तौर तरीकों से अवगत होने के लिए इस उपमहाद्वीप में बस गए थे। जब हम निर्वासन में आए तो वे भी उन लोगों में से थे जिन्होंने हमें सहायता की पेशकश की।

फ्राइडमैन जो अब तक काफी वृद्ध हो चुका था, की शारीरिक दशा बड़ी कमजोर थी। उसकी कमर झुकी हुई थी और कमजोर नजरों की कमी को पूरा करते मोटे चश्मे चढ़े थे। फिर भी उसकी पैनी नीली आंखें थीं और तेज दिमाग पूरी तरह सजग था। कई मौकों पर वह उत्तेजित हो जाता तथा

उन परियोजनाओं के पक्ष में अड़ जाता जो पूर्णतया असंभव होतीं। लेकिन कुल मिलाकर उसकी सलाह, खासकर जो उसने 'चिल्ड्रन्स होम' की स्थापना के संबंध में दी, अमूल्य थी। उमा देवी, जो फ्रायडमैन जितनी बूढ़ी थी मगर उसका रुझान उससे ज्यादा था, ने भी हमारी जनता के लिए काम करते हुए शेष जीवन समर्पित कर दिया था।

एक और महत्वपूर्ण व्यक्ति था, मिस्टर लूथी जो स्विसे रेडक्रास के लिए काम करता था। 'पा-ला' (तिब्बती में 'पापा') के नाम से मशहूर लूथी बहुत जीवट और ऊर्जावान व्यक्ति था। वह असली नेता था जिसने अपने अधीन लोगों से जमकर काम लिया। कुछ आरामतलब तिब्बती उससे भय खाते थे और मुझे पता है कि उसके तरीकों के प्रति थोड़ा असंतोष भी था मगर वास्तव में वह सबका प्यारा था। मैं उसे तथा उस जैसे अन्य लोगों को आदर से याद करता हूं जिन्होंने मेरी जनता के लिए सख्त मेहनत, वह भी निस्वार्थ भाव से की।

हम तिब्बतियों के लिए 1960 के दशक के शुरू में महत्वपूर्ण घटना थी 1962 का चीन-भारत युद्ध। स्वाभाविक था कि युद्ध शुरू होने पर मैं बेहद उदास था। लेकिन इस उदासी में भय का भी समावेश था। उस समय पुनर्वास प्रक्रिया घुटनों के बल चल रही थी। लद्दाख और नेफा में कुछ सड़क निर्माण कैम्प उस जगह के बिल्कुल पास थे जहां युद्ध छिड़ा हुआ था। सो उन कैम्पों को बन्द करना पड़ा। इस प्रकार मेरे कुछ लोग एक बार फिर शरणार्थी हो गए। जिस बात से हमें और भी उदासी हुई थी वह यह थी कि हमारे मसीहा भारतीयों का अपमान उन चीनियों द्वारा हो रहा था जो तिब्बती भूमि पर काबिज थे।

शुक्र है कि युद्ध संक्षिप्त सा था यद्यपि इसके अन्त में दोनों तरफ से काफी लोग बिना किसी पक्ष के फायदे के मरे। चीन की नीति पर नजर डालते हुए नेहरू को कहना पड़ा कि भारत "हमारे अपने ही बनाए 'मूर्खों के स्वर्ग में रह रहा है।" जीवन भर नेहरू जी स्वतंत्र एशिया का स्पप्न देखा था जहां प्रत्येक देश का शान्ति से सहअस्तित्व हो। पंचशील समझौता एक दशक से कम समय में ही खाली कटोरा सिद्ध हो गया था, इस बात के बावजूद कि नेहरू जी ने इसे पालने-पोसने के लिए क्या कुछ नहीं किया था।

आज़ाद शरणार्थी

मैं पण्डित नेहरू के साथ संपर्क में 1964 में उनकी मृत्यु होने तक रहा। नेहरू तिब्बती शरणार्थियों की दिक्कतों के प्रति काफी सजग थे, विशेषकर बच्चों में जिनकी शिक्षा को वे बहुत ज्यादा महत्व देते थे। कई लोग कहते हैं कि चीन-भारत युद्ध ने उन्हें पस्त कर दिया। मैं सोचता हूं कि शायद वे ठीक कहते हैं। मैंने नेहरू को अन्तिम बार उस वर्ष मई में देखा था। जब मैं कमरे में घुसा तो मुझे वे गहरे मानसिक सदमे की अवस्था में लगे। उन्हें अभी कुछ समय पहले ही दिल का एक और दौरा पड़ा था और वह बहुत कमजोर तथा दुबले-पतले दिख रहे थे। एक आर्मचेयर में प्रत्येक बाजू के नीचे तकियों का सहारा लिए थे। मैंने उनमें तीव्र शारीरिक असुविधा के स्पष्ट लक्षणों के साथ-साथ सघन मानसिक थकान पर भी ध्यान दिया था। हमारी मुलाकात छोटी सी थी तथा मैं भारी हृदय से विदा हुआ।

बाद में उसी दिन वे देहरादून जाने के लिए रवाना हुए तथा मैं उन्हे हवाई अड्डे पर विदाई देने गया। जब मैं वहां पहुंचा तो उनकी बेटी इन्दिरा गांधी से मिला जिन्हें मैं वर्षों से तब से जानता हूं जब वह अपने पिता के साथ 1954 में बीजिंग गई थी। मैं पहले तो यही समझता रहा था कि वह उनकी पत्नी हैं। मैंने उन्हें बताया कि उनके पिता को इतने खराब स्वास्थ्य में देखकर मुझे काफी अफसोस हुआ। मैं यह भी कह बैठा कि मुझे डर है कि मैंने उन्हें अन्तिम बार देखा है।

बाद में पता चला कि मैं सही था क्योंकि एक हफ्ते से कम समय में ही उनकी मृत्यु हो गई। दुर्भाग्यवश मैं उनके दाह संस्कार में शामिल नहीं हो पाया। इसके बजाए इलाहाबाद में तीन नदियों के संगम में उनके फूल बिखेरने में मैंने भाग लिया था। यह मेरे लिए बहुत बड़ा सम्मान था क्योंकि इससे मैंने खुद को उनके परिवार का करीबी महसूस किया। उनके परिवार का एक सदस्य जो मैंने वहां देखा था वह थी इन्दिरा। समारोह के कुछ समय बाद वह मेरे पास आई और सीधे आंखों में झांकते हुए उसने कहा था "आप सब कुछ जानते थे।"

-10-

चीनी आंख की किरकिरी

और सेरिंग डोलमा भी 1964 में स्वर्गवासी हो गई। उसका काम संभाला हमारी छोटी बहन जेत्सुन पेमा ने जो उतनी ही बहादुर व दृढ़ निश्चयी निकली। आज यह नर्सरी धर्मशाला के 'तिब्बती बाल ग्राम" के एक हिस्से की तरह फल-फूल रही है। तिब्बती बाल ग्राम जिसकी शाखाएं भारत भर में है, कोई छह हजार बच्चों को आश्रय व शिक्षा देता है जिनमें से पन्द्रह सौ बच्चे धर्मशाला में हैं। यद्यपि शुरू में अधिकतर धनराशि की व्यवस्था भारत सरकार ने की थी पर अब अधिकतर खर्च एस. ओ. एस. इन्टरनेशलन दे रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में तीस वर्ष बाद हमारी कोशिशों का परिणाम देखकर खुशी होती है। आज दो हजार से ज्यादा शरणार्थी बच्चे उच्च शिक्षा के स्कूलों से पढ़ाई पूरी कर चुके हैं। अधिकतर भारत में हैं जबकि पश्चिम में उनकी संख्या लगातार बढ़ रही है। नेहरू जी की यह बात ध्यान रखकर कि बच्चे हमारे अमूल्य स्त्रोत हैं, मैंने शिक्षा कार्यक्रम में गहरी रुचि ली।

उन प्रारंभिक दिनों में स्कूल के नाम पर जीर्ण-शीर्ण भवन थे जिनमें भारतीय शिक्षक बच्चों के विभिन्न समूहों को पढ़ाते थे। अब हमारे पास अच्छी संख्या में तिब्बती कर्मचारी हैं। लेकिन आज भी काफी भारतीय शिक्षाविद् इससे जुड़े हैं। शिक्षादान करने वाले सभी पुरूषों व महिलाओं तथा उनके पूर्ववर्तियों का मैं तहे दिल से शुक्र गुजार हूं। उन लोगों ने दूरस्थ क्षेत्रों में बड़े खराब हालात में अपनी जिन्दगी मेरी जनता की सेवा में अर्पित कर दी।

एक नकारात्मक पहलू यह रहा कि दुर्भाग्य से बहुत से बच्चों ने खासकर लड़कियों ने शिक्षा पूरी नहीं की। ऐसा कई बार उनकी अपनी अनिच्छा से होता है तो कई बार उनके मां-बाप की अदूरदर्शिता के कारण। मुझे जब कभी भी सही मौका मिला है मैंने उनके मां-बाप से कहा है कि उनकी जिम्मेवारी बहुत बड़ी है तथा उन्हें थोड़े समय के लाभ के लिए अपने बच्चों के नाजुक हाथों की मदद नहीं लेनी चाहिए। अन्यथा अर्द्ध-शिक्षित बच्चों की फसल उगेगी

जिनके सामने अनेक सुअवसर आयेंगे मगर शिक्षा से वंचित होने के कारण वे उनका फायदा नहीं उठा पायेंगे। इससे असंतोष पनपेगा और लालच भी।

नेहरू जी के बाद भारत के अगले प्रधानमंत्री बने, लाल बहादुर शास्त्री। उनके तीन साल से भी कम सत्ता में रहने के बावजूद मैं उनसे कई बार मिला तथा उनका आदर करने लगा। नेहरू जी की तरह शास्त्री भी तिब्बती शरणार्थियों के हमदर्द थे। हां, नेहरू से ज्यादा वह हमारे राजनीतिक दोस्त भी थे।

थाईलैण्ड, फिलीपींस, माल्टा, आयरलैण्ड, मलेशिया, निकारागुआ और अल साल्वाडार द्वारा रखे गए प्रताव के कारण 1965 की शरद ऋतु में तिब्बत पर एक बार फिर संयुक्त राष्ट्र में चर्चा हुई। शास्त्री जी के जोर देने पर इस बार भारत ने तिब्बत के पक्ष में वोट डाला। शास्त्री जी की शासन अवधि के दौरान ऐसा लगने लगा था कि नई भारतीय सरकार तिब्बत की निर्वासन सरकार को मान्यता दे देगी। लेकिन अफसोस कि प्रधानमंत्री ज्यादा समय तक नहीं जिए। इसी बीच भारत एक बार फिर युद्ध में उलझ गया। इस बार पाकिस्तान से युद्ध छिड़ा । सितम्बर 1965 को।

चूंकि धर्मशाला भारत-पाक सीमा से सौ मील से भी कम पड़ता है इसलिए मैं युद्ध के त्रासद प्रभाव देख पाया। लड़ाई छिड़े ज्यादा वक्त नहीं हुआ था कि मैं दक्षिण की बस्तियों की यात्रा पर चल दिया। रात थी और

ब्लैक आउट का समय था। पठानकोट के रेलवे स्टेशन तक का तीन मील का रास्ता हमें बिना हैडलाइट्स जलाये तय करना पड़ा। सड़क पर अन्य वाहन सिर्फ मिलिट्री के ही थे तथा मैं सोच रहा था कि कितनी बेचारगी है जो आम नागरिक पीछे छुपा लिया जाते हैं तथा 'सुरक्षा बलों' को आगे कर दिया जाता है। वास्तव में ये भी तो इन्सान हैं- मेरे जैसे इन्सान ।

कठिन यात्रा के बाद जब आखिरकार हम रेलवे स्टेशन पहुंचे तो नजदीकी पठानकोट हवाई अड्डे पर बमों की धूम-धड़ाम हो रही थी। एक बार तो मैंने ऊपर जेट घर्राता सुना और दूसरे ही पल लड़ाकू विमान प्रतिरोधी प्रणाली सक्रिय हो गयी और उसने आकाश में गोले बरसाने शुरू कर दिये। शोर भयावह था और मैं खूब डरा। हां, सन्तोष इस बात का है कि डरने वाला मैं अकेला ही नहीं था। मैं ऐसी ट्रेन पर कभी नहीं चढ़ा था जैसी पर उस रात बैठा जो स्टेशन से एकदम छूट भागे।

दक्षिण में पहुंचकर मैं सबसे पहले बालकुप्पे गया जहां 10 सितंबर को मैंने मूल शरणार्थी बस्ती देखी। अब तक यहां 3200 लोग रह रहे थे। ईंटों और स्थानीय टाइलों से बने पक्के घर थे वहां और कुओं की खुदाई तथा वृक्षों की कटाई पूरी हो चुकी थी। मूल योजना के अनुसार अब खेती का कार्य सुचारू ढंग से हो रहा था। हर व्यक्ति को एक एकड़ जमीन की नाममात्र मिल्कीयत दी गई थी। लेकिन असल में यहां सहकारी रूप से कृषि हो रही थी। तथा कुछ हिस्सा छोड़ दिया था जिसमें मौसमी फल व सब्जियां लगी थीं। मुख्य फसलें होनी थीं चावल, मक्का तथा रागी। मैं यह तरक्की देखकर प्रसन्न था।

इससे मेरे विश्वास को पुनः बल मिला कि दृढ़ संकल्प के साथ सकारात्मक दृष्टिकोण की ताकत होनी भी बेहद जरूरी है।

कुल मिलाकर स्थिति में मुझे काफी सुधार लगा। अब मेरे लिए निराश

लोगों को समझाने की समस्या नहीं थी। न अब मुझे भविष्य में समृद्धि का वचन देना था जिस पर खुद मुझे विश्वास नहीं होता था। यद्यपि उनकी मेहनत रंग लाई थी मगर जिन्दगी अब भी उनकी बहुत मुश्किल थी।

भारत सरकार के साथ इनके पुनर्वास की योजना के वक्त हमने उम्मीद की थी कि ये पांच साल के भीतर अपने पैरों पर खड़े हो जायेंगे। उसके बाद वे अतिरिक्त खाद्यान्न बेचकर भारत सरकार की अर्थ व्यवस्था को सहारा देंगे। लेकिन, उस आशावाद में हम यह भूल गए कि श्रमिक तो अप्रशिक्षित हैं। इनमें कुछ ही लोगों को खेती की कुछ अनुभव था। भूतपूर्व व्यापारी, भिक्षु, सैनिक, बंजारे तथा भोले भाले ग्रामीण जिन्हें कुछ पता न था, सभी इस साहसिक कार्य में जुटे थे। और निस्संदेह ही भारत के कटिबन्ध क्षेत्र में खेती करना तिब्बत की ऊंचाइयों से बिल्कुल अलग है। इसलिए जो थोड़ा बहुत जानते भी थे उन्हे बैल हांकने से लेकर ट्रैक्टर चलाने तक सब कुछ दोबारा सीखना पड़ा। इस तरह पांच साल के बाद भी कैंपों की हालत खस्ता सी थी।

तो भी पुनर्वालोकन करूं तो 1960 का अर्द्धदशक तिब्बती पुनर्वास प्रोग्रामों के लिए निखार पर था क्योंकि जमीनें साफ की जा चुकी थीं। अधिकतर शरणार्थी चिकित्सा सुविधा पा रहे थे। (अन्तर्राष्ट्रीय रेड क्रास व अन्य की सहायता से) तथा कृषि उपकरण नए थे जबकि आज ये पुराने हो चुके हैं तथा काफी मरम्मत मांगते हैं।

इस अवसर पर मैं बालकुप्पे में हफ्ते या दस दिन रहा और उसके बाद भारत के सर्वाधिक शिक्षित राज्य केरल की राजधानी त्रिवेन्द्रम जाने के पहले मैसूर, ऊटकमण्ड तथा मद्रास गया। मुझे राज्यपाल के साथ रहने का मौका मिला। आखिर में मेरा प्रवास कई हफ्तों का हो गया क्योंकि उत्तर में बड़ा खतरनाक युद्ध हो रहा था और धर्मशाला पर दो बम पहले ही गिर चुके थे। पर मैंने समय नष्ट नहीं किया।

दरअसल हुआ यों कि राज्यपाल के निवास राजभवन में मेरा कमरा रसोईघर के बिल्कुल सामने था। एक दिन मैंने देखा कि दोपहर के भोजन में परोसे जाने के लिए एक चिकन की गर्दन मरोड़ी जा रही है। मुझे ख्याल आया कि बेचारा यह जीव कितना कष्ट सह रहा है। इससे मुझे बेहद पछतावा हुआ तथा सोचा कि अब वक्त आ ही गया है कि मुझे शाकाहारी

हो जाना चाहिए। जैसा कि बता ही चुका हूं कि नियम से तिब्बती शाकाहारी नहीं होते क्योंकि तिब्बत में सब्जियां बहुत कम होती हैं तथा मांस ही मुख्य आहार रह जाता है। इसके बावजूद भी कुछ 'महायान' ग्रन्थ कहते हैं कि भिक्षुओं और भिक्षुणियों को शाकाहारी होना चाहिए।

अपने संकल्प का परीक्षण करने के लिए मैंने भोजन मंगवाया। मैंने भोजन को गौर से देखा। चिकन को प्याज व तरी के साथ अंग्रेजी अंदाज में बनाया गया था

और स्वादिष्ट खुश्बू आ रही थी। लेकिन मुझे इसे खाने से इनकार करने में जरा भी दिक्कत न हुई। इसके बाद से मैं पूर्णतया शाकाहारी हो गया तथा मांस के साथ-साथ अण्डे व मछलियों को भी त्याग दिया।

यह नया तरीका मुझे रास आ गया और मैं संतुष्ट था। मैंने नियम की कड़ी व्याख्या से सन्तोष की भावना महसूस की। पीछे 1954 में बीजिंग में मैं चाऊ एन-लाई व एक और राजनीतिज्ञ से शाकाहर पर बात कर रहा था। वह दूसरा व्यक्ति खुद को शाकाहारी भी बता रहा था और अण्डे भी हड़प किए जा रहा था। मैंने इस पर सवाल उठाया कि चूंकि चिकन अण्डे से आता है अतः अण्डे को शाकाहारी भोजन नहीं कहा जा सकता। हम बहुत ज्यादा असहमत थे। आखिर में चाऊ ने इस बहस को कूटनीतिक तरीके से खत्म कर दिया।

पाकिस्तान के साथ युद्ध तो 10 जनवरी 1966 को खत्म हो गया। मगर इस खुशखबरी के साथ ही एक बुरी खबर भी आई और वह थी ताशकन्द में प्रधानमंत्री शास्त्री की मृत्यु। शास्त्री वहां पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खान के साथ समझौते पर विचार करने गए थे। वह इस शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर करने के कुछ घण्टों बाद ही चल बसे।

लाल बहादुर शास्त्री ने मेरी स्मृति पर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ा। हालांकि वह कद के छोटे, थोड़े कमजोर और अप्रभावी से दिखते थे तो भी उनके

दिमाग और आत्मा में बड़ी ताकत थी। कमजोर दिखने के बावजूद नेता बड़े होनहार थे। कई लोग ऊंचे पद पर रहकर भी इतने बहादुर और संकल्पी नहीं होते जितने वे थे। वे जमाने के साथ नहीं बदले बल्कि जमाने को बदलने की कोशिश करते रहे।

मुझे उनके दाह क्रिया में बुलाया गया और मैं त्रिवेन्द्रम से लौटता हुआ इसमें शामिल हुआ। बहुत उदास वातावरण था। खासकर इसलिए कि जिन्दगी में पहली बार किसी शव को इतना करीब से देख रहा था। यद्यपि बौद्ध हूं। और रोज ही मौत को कल्पना में देखता हूं। उन्हें चिता पर निश्चल लेटे देख रहा था और याद कर रहा था उनकी शैली और मेरे व उनके बीच बीते छोटे-छोटे पल। उन्होंने मुझे बताया था कि वे भी पक्के शाकाहारी है क्योंकि बचपन में विद्यार्थी जीवन के दौरान एक बार एक घायल कबूतर को इतनी दौड़ लगवाई थी कि वह थक कर मर गया था। अपने किए पर इतने भयाक्रांत हुए कि कसम खा ली कि कभी मांस नहीं खाऊंगा। सो न केवल भारत ने अपना इतना बढ़िया राजनीतिज्ञ खो दिया, न केवल संसार ने ज्ञानी नेता खो दिया बल्कि पूरी मानवता ने एक दयालु आत्मा खो दी।

स्वर्गीय प्रधानमंत्री को अन्तिम श्रद्धा सुमन अर्पित करके धर्मशाला लौट आया। मगर आने से पहले दिल्ली में युद्ध में घायल सैनिकों को अस्पताल में मिलकर आया। जिसे मिला वे अधिकतर अफसर थे। कई बहुत तकलीफ में थे और पीड़ा भोग रहे थे। जब मैं पलंगों के बीच, घायलों के सुबकते परिवारों के बीच से गुजरा तो सोचा कि यही है युद्ध का असली परिणाम भीषण मानव संकट। झगड़ों की अन्य बातें तो फिर भी शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाई जा सकती हैं।

थोड़ी तसल्ली कहीं थी तो सिर्फ इतनी कि अस्पतालों में तो फिर भी अच्छी देखभाल हो रही है। कई जो संघर्ष में फंसे थे उन्हें ऐसी सुविधा नहीं मिली होगी।

एक पखवाड़े बाद इन्दिरा गांधी ने भारत के प्रधानमंत्री पद की शपथ ली। चूंकि अक्सर उनके पिता से मिलते वक्त मैं हर बार उनसे भी मिलता रहा था, इसलिए मैंने उन्हें अपने करीब ही महसूस किया। वे भी मुझे करीबी मानती हैं इस विश्वास का भी कारण था। एक से ज्यादा बार उन्होंने अपने लिए तकलीफदेह बातों व व्यक्तियों को लेकर मुझे विश्वास में लिया था। मैंने समझा कि मैं उन्हें इतना जानता हूं कि उनके प्रथम शासन के आखिर में एक अवसर पर मैंने उन्हें याद दिलाया कि किसी नेता के लिए आम आदमी के संपर्क में रहना बेहद आवश्यक है।

मैं स्वयं भी छोटी उम्र में ही यह बात जान गया था कि जिसे नेतृत्व करना है वह आम जनता के नजदीक रहे। अन्यथा आपके इर्द गिर्द के सलाहकार व कर्मचारी अपने फायदे के लिए आपको भ्रमित कर सकते हैं और चीजों को साफ तौर पर समझने से रोकने की कोशिश कर सकते हैं।

प्रत्येक भारतीय प्रधानमंत्री की तरह इन्दिरा गांधी का भी तिब्बती शरणार्थियों की हार्दिक सहायता के लिए मैं बहुत ज्यादा कृतज्ञ हूं। शुरू से ही वह मसूरी के तिबेतन होम्स फाऊन्डेशन की सदस्या और शिक्षा के क्षेत्र में बहुत सहायक रहीं। जब पढ़ाई के महत्व की बात आती तो उनके विचार अपने पिताजी जैसे हो जाते। लेकिन इमरजेंसी के बाद उनकी निन्दा के लिए काफी सख्त भाषा का प्रयोग किया गया। कुछ लोग उन्हें तानाशाह भी कहते थे मगर मैंने देखा कि मार्च 1977 में वोटरों ने अपना निर्णय दिया तो उन्होंने बड़ी सहजता एवं सम्मान पूर्वक सत्ता त्याग दी। मेरे लिए वह लोकतन्त्र का बहुत अच्छा उदाहरण था। संसद में व बाहर काफी विवाद था मगर उन्होंने जब वक्त आया तो बिना मुश्किल पैदा किए विदा ली। मुझे राष्ट्रपति निक्सन के बारे में भी ऐसा ही याद आता है। अक्सर नेतृत्व परिर्वतन को रक्तपात का संकेत माना जाता है। यह वास्तव में ही सभ्य देशों का लक्षण है कि वहां लोकतांत्रिक प्रणाली व्यक्तिगत हितों पर विजय पाती है।

इसी समय चीनी जन गणतंत्र ने घरेलू राजनीति की बिल्कुल ही भिन्न तस्वीर पेश की। 1960 के अर्द्ध-दशक से लेकर 1976 में माओ की मृत्यु तक देश व इसके उपनिवेशों में खूनी और हिंसक उफान आते रहे थे। इस तथाकथित 'सांस्कृति क्रान्ति' की सही तस्वीर उभरने में कई वर्ष गुजर

गए। पता लगा कि यह दौर न केवल निरुद्देश्य पागलपन का था बल्कि माओ की पत्नी चिआंग-चिंग का व्यवहार भी साम्राज्ञी सा रहा। इसी वक्त मैंने समझा कि कम्युनिस्ट नेता, जिन्हे पहले मैं कई शरीरों में रह रहा एक साझा दिमाग मानता था, एक दूसरे की गर्दन पर सवार हैं।

तो भी उपद्रव की हद का अनुमान लगाने के अलावा कुछ नहीं किया जा सकता था। अन्य कई तिब्बतियों के साथ मैंने भी जाना कि हमारी प्यारी जन्म भूमि पर कई भयानक घटनाएं हो रही हैं। लेकिन संचार तो टूटा हुआ था पूरी तरह।

162

आज़ाद शरणार्थी

हमारी खबरों का एकमात्र स्त्रोत थे वे नेपाली व्यापारी जिन्हें यदा कदा सीमा पार आने दिया जाता। उनसे बहुत कम और बासी खबरें मिल पातीं। उदाहरण के लिए 1959 में तिब्बत में कई जगहों पर बड़े पैमाने पर जनक्रांति की खबर मुझे एक साल बाद मिली। कुछ लोगों के अनुसार 1959 में जितने लोग मरे थे उससे ज्यादा तो तब मरे जब बदला लेने की कार्यवाही शुरू हुई।

अब हमें मालूम है कि अशांति फैलने की ऐसी कई घटनाएं हुई। यद्यपि मेरा बीजिंग के नेताओं के साथ प्रत्यक्ष संबंध न था जिन्होंने अब मुझे "भिक्षु के वेश में भेड़िया" कहना शुरू कर दिया था। मैं चीनी सरकार के गुस्से का केन्द्र-बिन्दु बन गया था तथा ल्हासा में मेरी लगातार निन्दा की जा रही थी कि मैं सिर्फ धार्मिक नेता होने का ढोंग कर रहा था। असल में, चीनियों ने कहा कि मैं चोर था, हत्यारा था, और बलात्कारी भी। उन्होंने तो यहां तक कह डाला कि मैं श्रीमती गांधी के लिए कुछ हैरानीभरी यौन संबंधी पूजाएं कर रहा था।

इस तरह पन्द्रह साल तक तिब्बती शरणार्थी एक अंधेरी दुनिया में रहे। आज तो अपने घर लौटने का अवसर उससे भी कहीं दूर लगता है, जितना पहली बार निर्वासन में आने पर दिखता था। लेकिन रात के बाद दिन निकलता है और इन वर्षों के दौरान पुनर्वास कार्यक्रम का सुफल निकला।

धीरे-धीरे शरणार्थी सड़क शिविरों से हटाकर भारत में इधर-उधर नई बस्तियों में पहुंचाये गये। कुछेक शरणार्थी भाईयों ने भारत छोड़कर दुनिया के दूसरे हिस्सों में घर बसा लिए। लिखे जाने के वक्त तक लगभग 1200 कनाडा और अमरीका में बराबर अनुपात में फैले हैं, कोई 2000 स्विट्जरलैण्ड में और 100 ग्रेट ब्रिटेन में और एक युवा दंपत्ति के आयरलैण्ड में होने के साथ-साथ मुट्ठी भर शरणार्थी लगभग हर यूरोपीय देश में हैं।

पुनर्वास की इस दूसरी लहर में निर्वासन में तिब्बती सरकार ने भारत के बाहर कई देशों में कार्यालय खोले। पहला काठमाण्डू में खोला गया, दूसरा न्यूयार्क में और उसके बाद एक-एक करके ज्यूरिख, टोकियो, लन्दन, और वाशिंगटन में खुले। इन देशों में रह रहे तिब्बतियों के हितों का ध्यान रखने के अतिरिक्त ये कार्यालय हमारे देश, संस्कृति, इतिहास व जीवन आदि पर भी सूचनाएं प्रदान करते हैं।

1968 में मैंने अपने आठ वर्ष के निवास स्वर्ग आश्रम से एक छोटे घर बायरन कॉटेज में जाने का निश्चय किया। यह घर पहले वाले से बड़ा नहीं था मगर इसमें एक नवनिर्मित कम्पाउन्ड था जिसमें निजी कार्यालय और भारतीय सुरक्षा कार्यालय के साथ-साथ प्रवचन कक्ष व एक कार्यालय मेरे लिए था। निर्वासन में तिब्बती सरकार अब सैंकड़ों कर्मचारियों की एक मजबूत संस्था बन चुकी थी। इनमें से अधिकांश लोग कुछ दूरी पर स्थित कार्यालयों के काम्पलैक्स में चले गए थे। जब यह पुनसंगठन हो रहा था तो मेरी मां एक नये घर कश्मीर कॉटेज में चली गई। हालांकि शुरू में उनकी जाने की ज्यादा इच्छुक न थी और मैं अब पुनः सच्चा भिक्षु जीवन बिता सकता था।

चीनी आंख की किरकिरी

163

बॉयरन कॉटेज में आने के शीघ्र बाद मैंने नामग्याल मठ की पुनः स्थापना की जिसके भिक्षु पहले स्वर्ग आश्रम के ऊपर एक छोटे से घर में रहते थे। आज यह मेरे निवास से ज्यादा दूर नहीं है। थोड़ा बाद 1970 में सुग्लाखांगे नामक नये मन्दिर का भी काम पूरा हुआ। इसका मतलब था

कि अब मैं पारंपरिक तिब्बती कलैण्डर के विभिन्न उत्सवों में उचित वातावरण में भाग ले सकता था। आज नमग्याल के पास ही बौद्ध विद्या का स्कूल है जहां भिक्षु समुदाय में शास्त्रार्थ कला जीवित रखी जाती है। अक्सर दोपहर में मन्दिर का आंगन भगवा वेश वाले युवा सन्यासियों से भरा रहता है जो अपने इम्तिहानों के अभ्यास करते वक्त ताली बजाते, सिर हिलाते और हंसते दिखाई देते हैं।

1963 में मैंने बोन धर्म के प्रतिनिधियों समेत विभिन्न विभागों के प्रमुखों की बैठक बुलाई। हमने अपनी आम दिक्कतों तथा तिब्बती बौद्ध संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को बचाने तथा चलाये रखने की रणनीतियों पर विचार किया। कई दिनों के बाद अन्त में मैं संतुष्ट था कि यदि हमें सही सुविधांए मिल जायें तो हमारा धर्म जीवित रहेगा। और फिर मेरे अपने मठ के उद्घाटन के बाद मैंने बुक्सा द्वार से बचे 1300 भिक्षुओं को लेकर दक्षिणी राज्य कर्नाटक में गन्देन, सेरा और ट्रेपुंग मठ की पुनः स्थापना की।

आज जब हम निर्वासन में चौथे दशक की शुरूआत कर रहे हैं तो हमारे यहां कोई छः हजार से ज्यादा बड़ा भिक्षु समुदाय है। मैं यहां तक भी कहना चाहूंगा कि हमारे यहां जरूरत से ज्यादा भिक्षु हैं। लेकिन महत्व आखिरकार इनकी गुणवत्ता और समर्पण का है, न कि गिनती का।

1960 के दशक के आखिर में एक और सांस्कृतिक कार्यक्रम शुरू हुआ था। वह 'लाईब्रेरी ऑफ तिबेतन वर्क्स एण्ड आर्काइव्ज़' है जिसमें न केवल चालीस हजार से ज्यादा मूल तिब्बती ग्रन्थ हैं, बल्कि यह अंग्रेजी व तिब्बती दोनों भाषाओं में पुस्तकें भी प्रकाशित कर रहा है। 1990 के दौरान इसने अंग्रेजी की 200 वीं पुस्तक प्रकाशित की। पुस्तकालय भवन पारंपरिक तिब्बती शैली में बना है शरणार्थियों द्वारा अपने साथ लाई गई वस्तुएं रखी हैं। जो कुछेक चीजें लोग साथ ला पाये उनमें बहुत से ग्रन्थ व अन्य धार्मिक कलाकृतियां और थांका हैं। इनमें से कई तो विशेष तौर पर दलाई लामा को भेंट की गई हैं। मैंने ये वस्तुएं इन संस्थानों को दे दीं।

वास्तव में बायरन कॉटेज मे जाने से पहले मैं कई हफ्ते बीमार रहा। भारत-पाक युद्ध के शान्त होने पर 1966 के शुरू में मैं जब धर्मशाला लौटा तो शाकाहारी भोजन बड़े चाव से लेता रहा। दुर्भाग्य से बहुत कम ही

तिब्बती व्यंजन होंगे जिनमें मांस का प्रयोग न होता हो। अतः रसोईयों को बिना मांस के स्वादिष्ट भोजन बनाना सीखने में थोड़ा वक्त लग गया। अन्ततः उन्हें सफलता मिली और वे स्वादिष्ट भोजन बनाने लगे। मुझे भी अच्छा लगता है। इसी बीच कई भारतीय दोस्तों ने मुझे भोजन में दूध तथा कई तरह के मेवे लेने का महत्व बताया। मैंने उनकी सलाह पूरी आस्था से मानी। नतीजा यह हुआ कि बीस महीनों बाद मुझे तेज पीलिया हो गया।

164

आज़ाद शरणार्थी

पहले दिन मैंने उल्टियां कीं। इसके बाद दो तीन हफ्ते भूख गायब रही और मैं पूरी तरह निस्तेज हो गया। हिलने डुलने में खासा कसरत करनी पड़ती। और ऊपर से मेरी चमड़ी चमकीले पीले रंग की हो गई। मैं खुद ही बुद्ध दिखता था। कुछ लोग कहते कि दलाई लामा सुनहरे पिंजरे में कैदी सा रहता हैः और अब तो मेरा शरीर भी सुनहरा हो गया था।

आखिरकार मेरी बीमारी जो हेपीटाइटिस-बी नामक बीमारी निकली, ठीक हो गई मगर भारी मात्रा में तिब्बती दवाईयां खाने के बाद जिनके बारे में मैं अगले अध्याय में ज्यादा बताऊंगा। जब मैंने दोबारा रुचिपूर्वक भोजन करना शुरू कर दिया तो डॉक्टरों' ने कम चिकनाई वाले भोजन, कम मेवे और कम दूध लेने को तो कहा ही, उन्होंने यह भी कहा कि मैं दोबारा मांस खाना शुरू कर दूं। उन्हें बेहद खौफ था कि बीमारी ने मेरे लीवर को स्थाई नुक्सान पहुंचाया है तथा उनकी राय में मेरी उम्र संभवतः घट गई है। बहुत से भारतीय डॉक्टरों की भी यही राय थी। तो न चाहते हुए भी मैं पुनः मांस खाने लगा। अब मैं मांस खाता हूं मगर उन मौकों पर नहीं जब मुझे आध्यात्मिक क्रियाकलाप करने होते हैं। मेरे उदाहरण का अनुसरण करने वाले कई तिब्बतियों के साथ भी यही हुआ।

मैं नए घर में शुरू से ही अति प्रसन्न था। स्वर्गआश्रम की तरह वृक्षों से घिरा अपनी बगीची वाला यह भवन भी अंग्रेजों ने एक पहाड़ी की चोटी पर बनवाया था। जिस घाटी में धर्मशाला स्थित है उसका तथा धौलाधार पर्वत श्रृंखलाओं का यहां से अच्छा नजारा मिलता है। इसका एक आकर्षण हजारों लोगों को संबोधित करने की बाहर जगह है तो दूसरा इसका बाग

है। मैंने शुरू से ही इसमें काम करवाना आरंभ कर दिया था और इसमें फलदार वृक्ष व फूल दार पौधे लगवाये। यह काम मैंने अपने हाथों से किया बागवानी में मुझे आनन्द आता है। अफसोस यह है कि कुछ ही वृक्षों को फल लगे और वे भी कड़वे। मगर तसल्ली उन पक्षियों तथा कई प्रकार के जानवरों को देखकर दे लेता हूं जो इसमें आते रहते हैं।

वन्य जीव देखने में मुझे बागवानी से भी ज्यादा मजा आता है। इस खातिर मैंने अध्ययन कक्ष की खिड़की के पास बाहर पक्षियों के बैठने का स्थान बनाया हुआ है। इसे तार व जालियों से घेरा हुआ है ताकि वे अपने छोटे भाईयों को हड़पने वाले बड़े शिकारी पक्षियों से बचे रहें। लेकिन फिर भी इससे काम नहीं चल पाता। कई बार इन मोटे, लालची घुसपैठियों के लिए मुझे एयर गन का इस्तेमाल करना पड़ता है जौ मैंने भारत आने के शीघ्र बाद ली थी। नोर्बुलिंका में अपने बचपन में तेरहवें दलाई लामा की बन्दूक के अभ्यास से काफी वक्त मैंने गुजारा है और अब मैं काफी अच्छी निशानेबाजी कर लेता हूं। वैसे मैं उन्हें मारता नहीं हूं। मेरी मंशा तो उन्हें थोड़ी तकलीफ देना होता है ताकि उन्हें अक्ल आ जाये।

बायरन कॉटेज में मेरे दिन पहले की तरह गुजरने लगे।

चीनी आंख की किरकिरी

165

हर सर्दी में शरणार्थी बस्तियों में जाता और वक्त-वक्त पर प्रवचन देता। धार्मिक अध्ययन भी मैंने जारी रखा। साथ ही मैंने पश्चिमी विचारों के बारे में थोड़ा पढ़ना शुरू किया विशेषकर विज्ञान, नक्षत्रशास्त्र और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में। और फुर्सत के पलों में फोटोग्राफी के पुराने शौक को फिर शुरू किया। तेरह या चौदह वर्ष की उम्र में मैंने लामा सेनशप सेरकान रिंपोछे की मेहरबानी से पहला बॉक्स कैमरा प्राप्त किया था।

शुरू में तो मैं रील धुलवाने का काम उसी के माध्यम से करवाता। तब वह दिखावा करता कि रील उसी की है। ऐसा वह मुझे बचाने के लिए करते क्योंकि उसे डर रहता था कि कहीं कोई ऐसा फोटो न हो जो दलाई लामा

के खींचने योग्य न हो। इन फिल्मों को वह व्यापारी के पास ले जाता जो इन्हें भारत से बनवाकर लाते थे। बाद में फिर मैंने नोर्बुलिंका में एक डार्क रूम बना लिया और अपने एक कर्मचारी जिग्मे तारिंग से खुद फोटो बनाना सीख लिया।

नये घर में आकर मैंने अपना दूसरा शौक भी पुनः शुरू किया, घड़ियां सुधारने का। यहां पहले वाले घर से ज्यादा जगह थी। सो मैंने एक वर्कशाप बना ली और औजार जमा कर लिये। जहां तक मुझे याद आता है मुझमें और तेरहवें दलाई लामा में एक साझा पहलू है घड़ियों तथा जपमाला की तरफ खिंचाव। और जब मैं स्वभाव में अंतर देखता हूं तो अक्सर सोचता हूं कि मैं उनका पुनार्वतार तो हो ही नहीं सकता। लेकिन जब घड़ियों और जपमाला में हमारी रूचि पर विचार करता हूं तो जानता हूं कि निस्सदेह मैं ही हूं।

जब मैं बहुत छोटा था तब अपने पूर्वाधिकारी की जेब घड़ी रखता था। मगर, मुझे कलाई घड़ी की चाहत थी। हालांकि लोगों ने मुझे इसके खिलाफ ही राय दी। जब मैं इतना बड़ा हो गया कि सेरकान रिंपोछे को यकीन दिला सकूं कि मुझे घड़ियां सचमुच ही चाहिएं तो उन्होंने मेरे लिए ल्हासा बाजार से एक रोलेक्स व एक ओमेगा घड़ी खरीद दी। विश्वसनीय नहीं लगता मगर सच है कि बहुत पुराने दिनों में जब तक कि चीनी हमें सभ्यता सिखाने नहीं आये थे, उन दिनों में भी ल्हासा में स्विस घड़ियां खरीदना संभव था। दरअसल बहुत ही कम वस्तुएं रही होंगी जो वहां न मिलती हों। वर्ना तो इंग्लैण्ड के यार्ले साबुन व मारमाइट से लेकर लाइफ पत्रिका का पिछले महीने का अंक तक वहां आसानी से मिल जाता था।

कहने की जरूरत नहीं है कि घड़ियां मिलते ही जो काम मैंने सबसे पहले किया, वह था-उन्हें खोलना। पहले तो अन्दर जब सूक्ष्म से पुर्जे देखे तो जल्दबाजी का अफसोस हुआ मगर उन्हें वापस बिठाने तथा उनकी गति कम या तेज करना सीखने में मुझे ज्यादा वक्त नहीं लगा। इतना ही खुश तब हुआ जब इनके लिए वर्कशॉप बना डाली। मैंने कुछेक नामुराद घड़ियां अपने परिवार की व दोस्तों की भी ठीक कीं। औजार आज भी तैयार हैं मगर वक्त ही नहीं मिलता। और फिर आजकल बनने वाली कई घड़ियां बिना खरोंच के खुलती भी कहां हैं? मुझे भय है कि मैंने उन कई लोगों को

निराश किया होगा जिनकी घड़ियां ठीक करके लौटा तो दीं मगर एकदम नई जैसी ठीक नहीं।

आज़ाद शरणार्थी

मैंने आधुनिक तकनोलॉजी से साबका रखा है मगर ये डिजिटल घड़ियां मेरे दिमाग में नहीं बैठतीं। ऐसी कई घड़ियों को मैंने बिगाड़ कर छोड़ा है। इन्हीं में से एक थी सुन्दर सोने की पैटेक फिलिप घड़ी जो मुझे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने उपहार में भेजी थी। इसमें सैकण्ड की अलग सुई तथा तारीख थी। यह मेरी समझ से तो बाहर थी ही उन व्यावसायिक घड़ीसाजों को भी यह समझ नहीं आई जिनके पास मैंने इसे बिगाड़ने के बाद सुधारने को भेजा था। कई साल पहले स्विट्जरलैण्ड की यात्रा पर गया तो इसे मैंने निर्माता को दिया। वही इसे ठीक कर पाए। सौभाग्य से ल्हासा से पलायन के वक्त यह किसी भारतीय घड़ीसाज के पास थी। मैंने एक घड़ी और बिगाड़ी थी अपनी सरकार के एक सदस्य की। मुझे बड़ा अफसोस है कि इसके टुकड़े मुझे लिफाफे में बन्द करके उस तक पहुंचाने पड़े।

लगे हाथ उन तीन बिल्लियों की चर्चा भी कर दूं जिन्हें मैंने भारत आकर पाला। पहली बिल्ली 1960 के दशक के अन्त में हमारे यहां आई। यह काले-सफेद धब्बों वाली सेरिंग थी जिसमें दोस्ताना व्यवहार के अलावा भी कई गुण थे। मेरे घर में जानवरों को कई कायदों में रहना पड़ता है जिनमें एक यह भी है कि वे भिक्षु-भिक्षुणियों जैसे हों। लेकिन सेरिंग में जो दुर्गुण था वह मैं बौद्ध सहन नहीं कर सकता था। अवगुण था चूहों के पीछे भागना। मुझे इस बारे में उसे कई बार अनुशासित करना पड़ता। मगर ऐन मौके पर वह जान गवां बैठी। दरअसल वह मेरे घर में बड़े मजे से एक चूहे को मार रही थी। जब मैं चिल्लाया तो वह भागकर एक पर्दे की चोटी पर जा चढ़ी और पकड़ खो बैठी। जमीन पर गिरकर वह बुरी तरह घायल हो गई। मेरे बहुत इलाज के बावजूद वह उबर नहीं पाई और कुछ दिनों में ही मर गई।

कुछ दिनों बाद ही मैंने बगीची में एक बिल्ली का बच्चा देखा जिसे शायद उसकी मां छोड़ गई थी। मैंने इसे उठाकर देखा तो इसकी पिछली टांगें

उसी तरह मुड़ी हुई थी जैसी सेरिंग की मृत्यु के वक्त मुड़ी थीं। मैं इसे घर उठा लाया और इसके चलने योग्य होने तक देखभाल करता रहा। सेरिंग की तरह यह भी मादा थी लेकिन ज्यादा सुन्दर और शरीफ। वह मेरे दोनों कुत्तों के साथ भी घुलमिल गई। खासकर सांग्ये के साथ जिसकी रोयेंदार छाती पर वह लेटना पसंद करती।

जब दोनों कुत्तों के बाद वह भी मर गई तो मैंने पालतू जानवर न रखने का तय किया। मेरे वरिष्ठ गुरू और पशुओं को बहुत प्यार करने वाले लिंग रिंपोछे ने एक बार कहा भी था कि "पालतू जानवर अपने मालिकों के लिए आखिरकार बेचैनी का अतिरिक्त स्त्रोत होते है।" इसके अतिरिक्त बौद्ध विचार से जब सभी चेतन जीवों को आपकी प्रार्थना व ख्याल की जरूरत है तो सिर्फ एक या दो जीवों का ध्यान रखने व सोचने से क्या फायदा?

लेकिन 1988 की सर्दियों में मेरे घर के मुख्य द्वार के सामने किचन में मुझे एक बीमार बिल्ली का बच्चा व उसकी मां दिखाई दिए। मैंने उन्हें घर में आश्रय दिया। मैं उस वक्त हैरान रह गया जब मैंने पाया कि अपने दो पूर्ववर्तियों की तरह उनकी पिछली दो टांगे भी मुड़ी हुई थीं। सो मैं उसे तिब्बती दवाईयां तथा ड्रापर से दूध तब तक पिलाता रहा

जब तक कि वह चलने फिरने योग्य नहीं हो गई और फिर वह हमारे परिवार में शामिल हो गई। इन पक्तियों के लिखे जाने तक उसका कोई नाम नहीं है जो वक्त आने पर उसे मिल जायेगा। इसी बीच वह बड़ी जिन्दादिल और उत्सुक साबित हुई। जब मुझे कोई मिलने आता है तो वह निरीक्षण करने आती है। अब तक वह चूहों का पीछा तो नहीं करती मगर मेरी मेज पर पड़े भोजन को देखकर मौका मिलने पर वह नियंत्रित नहीं रह पाती।

जानवरों के बारें में मैंने इतना देखा है कि बेशक वे पालतू भी हो जायें, सारी सुविधाएं भी हों लेकिन मौका पाने पर भाग जाने के चक्कर में रहते

हैं। इससे मेरे इस विश्वास को बल मिलता है कि आजादी की इच्छा प्रत्येक प्राणी में होती है।

विभिन्न तबके के लोगों से मिलना मेरे इकतीस बरस के इस निर्वासन का महत्वपूर्ण पहलू रहा है। शुक्र है कि भारत एक आजाद देश है और यहां कोई रुकावट नहीं कि किस से मिलूं, किससे नहीं। कई बार मुझे वाकई ही असाधारण लोगों से मिलने का मौका मिला है। लेकिन मुझे ऐसे लोग भी मिलते है जो मन से भी बीमार होते हैं और तन से भी। लेकिन अधिकतर मुझे आम आदमी व औरतें मिलते हैं।

जब कभी मैं लोगों से मिलता हूं तो मेरा उद्देश्य यही रहता है कि जो बन पड़े करूं तथा जो सीख सकूं, सीखें।

कभी कभार यह मेलजोल अजीब भी होता है मगर मुझे याद आता है कि हर मामले में मैं आने वाले से दोस्ताना ढंग से ही विदा हुआ हूं। मेरा ख्याल है कि ऐसा सच्चाई की प्रेरणा से ही संभव होता है।

मैं विभिन्न धार्मिक प्रथाओं के लोगों समेत पिछड़े इलाके के लोगों से मिलकर विशेषतया बहुत खुश होता हूं। एक प्रसिद्ध उदाहरण जे. कृष्णामूर्ति का है। मैंने उन्हें प्रखर दिमाग वाला काफी पढ़ा लिखा और प्रभावशाली व्यक्ति पाया। यद्यपि वे सीधे से दिखाई देते थे तो भी जिन्दगी और इसके मायनों पर उनके विचार बड़े साफ थे। अन्ततः मैं उनके कई अनुयायियों से भी मिला, जिन्होंने उनकी शिक्षाओं से खूब लाभ उठाया।

उस समय की मधुरतम याद वह है जब मुझे अमेरिकी बेनेडिक्टाईन सन्यासी फादर टॉम्स मेर्टन से मिलने का सौभाग्य मिला। वे थाईलैण्ड में अपनी त्रासद मौत से कुछ हफ्ते पहले नवम्बर 1968 में धर्मशाला आये थे। हम तीन दिन लगातार दो घन्टे प्रतिदिन मिले। मेर्टन मध्यम कद के सुडौल तथा थोड़े गंजे व्यक्ति थे। बड़े बड़े बूट और अपने भारी सफेद चोगे के मध्य कमर पर चौड़ी चमड़े की बेल्ट बांधते। लेकिन इस बाहरी दृश्य की यादगार से ज्यादा महान तो उनका आंतरिक चरित्र था, जिसे वे प्रकट करते। वे वाकई विनम्र और हार्दिक आध्यात्मिक व्यक्ति थे। मैं पहली बार किसी आदमी में आध्यामिकता देख रहा था जो ईसाईयत मानता हो। उसके बाद तो ऐसे गुणों वाले बहुत लोग मिले मगर, मेर्टन ही थे जिनसे

मैंने क्रिश्चियन शब्द का सच्चा अर्थ जाना।

168

आज़ाद शरणार्थी

हमारी मुलाकातें बड़े प्रसन्नता भरे वातावरण में होती। मेर्टन मजाकिया भी थे और ज्ञानी भी। मैं उन्हें 'कैथोलिक गेशे' कहता। हम आपसी रुचि के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मामलों पर बातें करते और सन्यास के बारे में सूचनाओं का आदान-प्रदान करते। मैं पश्चिम की सन्यास प्रथाओं के बारे में जो कुछ जान सकता जानने में लगा रहता। वे मुझे कई बातें बताते जो मुझे हैरानी में डाल देतीं। उनमें स्मरणीय तो यही है कि ईसाई साधक साधना करते वक्त कोई विशेष आसन नहीं अपनाते। मेरी समझ में आसन तथा यहां तक कि श्वसन भी जरूरी हैं। हमने इसाई सन्यासी व सन्यासिनों द्वारा लिए जाने वाले प्रण पर भी बातें कीं।

उधर मेर्टन मुझसे बौद्ध आदर्शों के बारे में अधिक से अधिक पूछते रहते। उन्हें उम्मीद थी कि उन्हें तंत्रवाद सिखाने वाला कोई गुरू मिल ही जायेगा। कुल मिलाकर आदान-प्रदान बड़ा लाभदायक रहा। इसलिए भी कि मुझे उनसे पता लगा कि बौद्ध धर्म तथा कैथोलिकवाद में बहुत सी संभावनाएं हैं। इसलिए उनकी मौत पर मुझे बहुत दु:ख हुआ। मेर्टन ने हमारी दो भिन्न धार्मिक प्रथाओं के बीच मजबूत पुल का काम किया। और इससे भी बड़ी बात तो यह कि उन्होंने मुझे यह समझने में मदद की कि अपना प्यार और कृपा की शिक्षाओं के साथ प्रत्येक धर्म अच्छे मानव पैदा कर सकता है।

फादर टॉमस मेर्टन से मेरी मुलाकात के बाद मैं कई अन्य इसाईयों के काफी संपर्क में आया। अपनी यूरोप यात्रा के दौरान मैंने कई देशों के विभिन्न मठों की यात्रा की और हर बार दर्शन करके प्रभावित हुआ। जिन सन्यासियों से मैं मिला उनके समर्पण भाव को देखकर बड़ी ईर्ष्या हुई। यद्यपि उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है मगर गुणवत्ता और समर्पण भाव बहुत ज्यादा। इसके विपरीत, निर्वासन में हम तिब्बतियों के यहां बहुत ज्यादा सन्यासी हैं। निर्वासन जनसंख्या का चार या पांच प्रतिशत मगर वह समर्पित भाव कहां?

स्वास्थ्य व शिक्षा के लिए समर्पित संस्थाओं के माध्यम से ईसाइयों के काम से भी मैं बहुत प्रभावित हुआ। भारत में ही इनके कई अद्भुत उदाहरण हैं। इस क्षेत्र में हम अपने ईसाई भाईयों से कितना कुछ सीख सकते हैं। कितना फायदा हो यदि बौद्ध भी समाज को ऐसा योगदान दे पायें। मैं महसूस करता हूं कि बौद्ध भिक्षु व भिक्षुणियां दया के बारे में बातें तो बहुत करते हैं मगर सिर्फ जुबानी जमा खर्च। कई बार मैंने इस मामले पर तिब्बतियों व अन्य बौद्धों से बात की है और ऐसी संस्थाएं बनाने को उत्साह से प्रोत्साहन देता रहा हूं। लेकिन यह भी सच है कि यदि हम ईसाईयों से कुछ सीख सकतें हैं तो वे भी हमसे कुछ सीख सकते हैं। उदाहरण के लिए साधना व दिमाग की एक-सूत्री एकाग्रता की जो तकनीक हमने विकसित की हैं, वे शायद उन्हें धार्मिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में लाभ पहुंचायें।

1960 के दशक के अन्त का संयोग हुआ भारत नेपाल और भूटान में एक लाख निर्वासित तिब्बतियों के पुनर्वास के सपने के सच होता दिखने से। हालांकि तिब्बत से मिली खबरें बड़ी हताशा भरी थीं लेकिन मैं भविष्य की तरफ

सच्चे और सुदृढ़ आशावाद की भावना से देख रहा था। लेकिन मेरे नियन्त्रण से बाहर घटनाओं की दो श्रृंखलाओं ने मुझे पुनः याद करा दिया कि हमारी स्थिति कितनी डांवाडोल है।

इनमें से पहली उन लगभग चार हजार शरणार्थियों की है जो भूटान में बस गए थे। भूटान राज्य एक दूरस्थ देश है जो भारत की सुदूर पूर्वी सीमा पर तथा तिब्बत के मध्य प्रांत ऊत्सांग के दक्षिण में पड़ता है। तिब्बत की तरह यहां विशाल पहाड़ हैं और हमारी तरह बौद्ध धर्म को समर्पित लोग रहते हैं। तिब्बत के विपरीत यह संयुक्त राष्ट्र का पूर्ण सदस्य है।

भूटान के स्वर्गीय राजा उन, तिब्बतियों के प्रति बड़े उदार थे जिन्होंने उनसे उनके देश में शरण मांगी थी। उन्होंने भारत सरकार की सहायता से मेरी

जनता का जमीन, व यातायात की सुविधा देकर कृषक बस्तियां बनाने में मदद की।

शुरू में सब ठीक चल रहा था और तिब्बती भी बड़े खुश थे। जब बोधगया में 1974 में मैंने 'कालचक्र' संस्कार कराया तो मैं उनके एक समूह से मिला था और उन्होंने बताया था कि सब ठीक चल रहा है। वे अपने मेजबानों की सराहना कर रहे थे, विशेषकर नये राजा जिग्मे वांगचुक की। उन्होंने राज्य के मामले संभालने में परिपक्वता का परिचय दिया था। लेकिन कुछ ही महीनों बाद दूध में खटाई पड़ गई। तिब्बती समुदाय के बाईस प्रमुख लोगों को गिरफ्तार किया गया, प्रताड़ित किया गया और बिना मुकदमा चलाये राजधानी थिम्पू की एक जेल में ठूंस दिया गया। मेरा व्यक्तिगत प्रतिनिधि ल्हाडिंग (स्वर्गीय राजा का एक रिश्तेदार) भी उनमें से एक था। मुझे इस खबर से क्षोभ हुआ तथा महसूस किया। पूर्ण जांच पड़ताल होनी चाहिए। हालांकि मैंने इन व्यक्तियों के विरूद्ध षड्यन्त्र के आरोपों का विश्वास नहीं किया लेकिन जांच कभी नहीं हुई और न ही सही बात सामने आई। बाद में मुझे पता लगा कि भूटानी सरकार के एक आंतरिक मामले में इन तिब्बतियों को बलि का बकरा बनाया जा रहा था।

इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के बाद कई तिब्बतियों ने भूटान छोड़ने का निश्चय किया। लेकिन जो रह गए वे आज भी शान्ति से रह रहे हैं इसके बावजूद कि उनके प्रति अभी भी कुछ शक तथा रोष है। तो भी में भूटानी जनता और सरकार का उनके अहसानों के प्रति कृतज्ञ हूं और विश्वास करता हूं कि भविष्य में हमारे पारंपरिक मैत्रीपूर्ण संबंध पूरी तरह पुनः बहाल होंगे।

दूसरा दुखद प्रकरण है सी.आई.ए. द्वारा प्रशिक्षित व सुसज्जित गुरिल्लों का जो हिंसक तरीकों से तिब्बती आजादी पुनः हासिल करने को संघर्षरत थे। मैंने बहुत बार ग्यालो थोंडुप व दूसरों से इस कार्रवाई की विस्तृत जानकारी लेनी चाही है मगर पूरी कहानी कभी सामने नहीं आई। मुझे पता है कि तिब्बत के ठीक साथ सीमा पर नेपाल के एक सुदूर क्षेत्र में मस्तांग नामक जगह पर 1960 में एक गुरिल्ला शिविर स्थापित किया गया था। शरणार्थी समाज में कई हजार जवान वहां एकत्र हुए थे। यद्यपि, अमरीकियों से वास्तविक प्रशिक्षण पाने वालों का अनुपात बहुत कम था पर दुर्भाग्य से इस कैंप की सेना रखने की प्रक्रिया सुनियोजित नहीं थी।

आज़ाद शरणार्थी

परिणामस्वरूप भावी घुसपैठियों को बहुत दिक्कतें उठानी पड़ीं। वैसे स्वयं तिब्बत के भीतर संघर्ष कर रहे कई अतिविशिष्ट रूप से बहादुर स्वतन्त्रता सेनानियों द्वारा उठाये गए खतरों की तुलना में ये कुछ भी नहीं थी।

जब शिविर पूरी तरह काम करने लगा तो इन गुरिल्लों ने कई बार चीनियों की नाक में दम किया और एक बार तो एक काफिले को तहस नहस कर दिया। इस हमले में उन्होंने मार्च 1959 से सितम्बर 1960 के बीच ल्हासा में 87 हजार मौतों के रिकार्ड का दस्तावेज पकड़ा था। इन सफलताओं का एक सकारात्मक परिणाम यह हुआ कि इनसे मनोबल बढ़ा। लेकिन यह अभियान लगातार व प्रभावी ढंग से वे नहीं चल पाए जिसे संभवतया तिब्बती जनता के कष्टों में वृद्धि ही हुई। इससे भी बुरी बात तो यह हुई कि इन गतिविधियों से चीनी सरकार को विदेशी शक्तियों की गतिविधियों से तिब्बती आजादी पुनः प्राप्त करने वालों पर दोषारोपण का मौका मिल गया जबकि यह सारे की सारा तिब्बती पहल पर हुआ था।

1970 के दशक में चीनी सरकार को अपनी मान्यता देने के बाद अमरीकियों ने गुरिल्लों को सहारा देना बन्द कर दिया जिससे पता चलता है कि उनकी यह सहायता उनकी कम्युनिस्ट विरोधी नीतियों का ही आईना था। यह तिब्बती आजादी की पुनः बहाली के लिए दी गई सहायता नहीं थी।

लेकिन गुरिल्ले लड़ने पर आमादा थे। इसके कारण चीनी सरकार ने जो उनकी गतिविधियों से काफी तंग रही होगी, मस्तांग में इन गुरिल्लों के हथियार डलवाने को नेपाल सरकार से कहा, भले ही तिब्बतियों और नेपाल सरकार के बीच कुछ प्रबन्ध रहे होंगे। लेकिन जब उन्होंने ऐसा करना चाहा तो गुरिल्ले यह कह कर इनकार कर गए कि वे लड़ते रहेंगे भले ही अब उन्हें नेपाली सेना के साथ भी लड़ना पड़े।

मैंने गुरिल्लों के इरादों की हमेशा प्रशंसा की है। लेकिन मैं उनकी हरकतों के पक्ष में कभी नहीं रहा। तब मैंने समझा कि हस्तक्षेप करना चाहिए।

मुझे पता था कि अब उन पर प्रभाव डालने का एकमात्र रास्ता व्यक्तिगत अपील ही हो सकता था। तदानुसार मैंने भूतपूर्व कुसुन देपोन पी. टी. ताकला को उनके पास मेरा टेप किया गया सन्देश ले जाने को कहा। इसमें मैंने कहा कि नेपालियों के साथ लड़ने में कोई तुक नहीं है, इसलिए भी कि कई हजार तिब्बती शरणार्थी जो नेपाल में बसे हैं, उन्हें भी दुःख भोगना पड़ सकता है। इसके बजाए उन्हें नेपाली सरकार का अहसानमन्द होना चाहिए। इसलिए उन्हें हथियार फेंककर शान्तिपूर्वक बस जाना चाहिए। तिब्बती संघर्ष को लंबी अवधि की नीति की जरूरत है।

पी. टी. ताकला ने मुझे बताया कि इसके बाद कई लोगों ने महसूस किया कि वे ठगे गये हैं। उनके कुछेक नेताओं ने हटने के बजाये सचमुच ही अपनी गर्दनें काट लीं। मझे यह सुनकर काफी तकलीफ हुई। दरअसल स्वतन्त्रता सेनानियों से अपील करते वक्त मेरे मन में मिश्रित भावनाएं थीं। इतनी बहादुरी, ऐसी निष्ठा, तिब्बत के प्रति इस प्यार को चुनौती देना एक तरह से तो गलत था। लेकिन दिल से मैं जानता था कि ठीक बात यही हो सकती थी।

गुरिल्लों में अधिकतर ने हथियार फेंक दिए। लेकिन कुछेक ने जो सौ से कम ही होंगे, मेरी दलील अनदेखी कर दी। नतीजा यह हुआ कि जब वे सीमा के एक तरफ से दूसरी तरफ जाते तो नेपाली सेना द्वारा उनका पीछा किया जाता। आखिरकार एक घात में वे पकड़े गए और उन्हे वही हिंसक मौत मिली जिसकी उन्हें उम्मीद थी। और इस प्रकार तिब्बती इतिहास में इस सबसे दुःखद प्रकरण का अन्त हो गया।

-11-

पूरब से पश्चिम

1967 में जब बसन्त ऋतु में मैं जापान और थाईलैण्ड गया तो भारत से बाहर यह मेरी पहली यात्रा थी। इसके बाद तो चीनी भाईयों और बहनों द्वारा अक्सर खड़ी की गई मुसीबतों के बावजूद भी मेरी यात्राएं बढ़ती गई। दुभाग्य तो इस बात का है कि समुद्र पार की मेरी ज्यादातर यात्राएं हालांकि पूर्णतया व्यक्तिगत और अक्सर बाहर के किसी तिब्बती या बौद्ध समुदायों के निमन्त्रण पर होती हैं मगर चीनी इन्हें हमेशा ही राजनैतिक मानते हैं। और मुझे जब भी कोई राजनेता मिलता है उसे बीजिंग के अधिकारियों द्वारा राजनैतिक बयान देना समझा जाता है। इसी कारण से कई अवसरों पर बहुत से प्रमुख नेताओं से मेरा परिचय अपनी सरकार के या चीनी अप्रसन्नता के डर से नहीं कराया जाता।

उन शुरू की यात्राओं के दौरान वियतनाम युद्ध अपनी पराकाष्ठा पर था। मुझे उस मौके की याद आती है जब हम हवाई जहाज में बैठे ऊंची हवा में बढ़े जा रहे थे कि मैंने काफी बड़ा एक जहाज पीछे से आता देखा। मैंने पहचाना कि यह बी 52 बमवर्षक था। बड़े अफसोस से मैंने महसूस किया कि यह अपना भार किसी समुद्र पर नहीं बल्कि मेरे जैसे अन्य मानवों पर निर्दयता से हल्का करेगा। मुझे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि जमीन से 30 हजार फुट की ऊंचाई पर भी आदमी आदमी की अमानववीयता से नहीं बच सकता।

टोक्यो में उतरकर उत्तम मानवीय स्वभाव के लक्षण देखकर तबीयत प्रसन्न हो गई। पहली चीज मुझे नजर आई वह थी अतिविशिष्ट साफ सफाई। हर वस्तु इतनी साफ थी जितनी मैंने कभी न देखी थी। शीघ्र ही मैंने देखा कि यह बाहरी सफाई भोजन पर भी लागू है जो बड़े करीने से

परोसा गया था। मुझे पता चला कि जापानी परम्पराओं में खाना परोसे जाने का तरीका खाने के स्वाद से भी ज्यादर महत्वूर्ण माना जाता है। एक अन्य चीज जिसने मेरा ध्यान आकर्षित किया, वह थी जापानी सड़कों पर कारों व ट्रकों की भारी संख्या, जो सारे दिन और रात लोगों और उनके सामान के लाने व ले जाने में व्यस्त रहती थी।

यह देखकर अत्याधुनिक तक्नोलाजी की असीम उपयोगिता का महत्व समझ में आया। मैं यह जानने को उत्सुक था कि जापान ने भौतिक उन्नति के बावजूद अपनी पारम्परिक संस्कृति एवं मूल्यों को अपने से दूर नहीं किया है।

जापान में युवा तिब्बती छात्रों से मिलकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। तिब्बती भाषा बोलने वाले या तिब्बत के बारे में गहन जानकारी रखने वाले जापानियों से भी मिलकर मैं अत्यधिक प्रसन्न हुआ। तेरहवें दलाई लामा के काल में कई जापानी विद्वान अध्ययन के लिए तिब्बत आये थे। अतः यह प्रसन्नता का विषय था कि दोनों देशों के बीच सम्बन्धों की पुनर्स्थापना करने का मौका मिला, हालांकि अब हम शरणार्थी की तरह थे।

थाईलैण्ड में मेरे अनुभव बिल्कुल अलग थे। मैंने पाया कि वहां के लोग आश्चर्यजनरूप से तनाव विहीन एवं सामान्य थे। जबकि जापान में वेटर तक में मैंने औपचारिकता महसूस की। थाईलैण्ड में आचार व्यवहार के कुछ मानक हैं जिन्हें पूरा कर पाना आसान नहीं है। थाई परम्परा के अनुसार आम लोगों को संघ (बौद्ध भिक्षु वहां इसी नाम से जाने जाते है) के प्रति हमेशा आदर दर्शाना होता है। लेकिन भिक्षु यदि इस आदर को जो कि लोग साष्टांग दण्डवत के माध्यम से पेश करते हैं, स्वीकार कर लेता है तो इसे गलत माना जाता है। मुझे इस स्थिति के लिए अपने को अनुकूल बनाने में काफी दिक्कत भी हुई। सामान्य तौर पर, मैं हमेशा अभिवादन का जवाब दिया करता था। अपने को नियंत्रित करने के प्रयासों के बावजूद कई बार मेरा हाथ अपनी मर्जी से उठ जाता था आर्शीवाद के लिए।

इसी यात्रा के दौरान उक्त थाई परम्परा के कारण मेरे सामने एक मनोरंजक संकट आया जब वहां के राजा ने मुझे दोपहर के भोजन पर बुलाया। मैं उनसे हाथ मिलाऊं? मेरे द्वारा हाथ न मिलाना उन्हें खराब भी लग सकता है। कोई भी इस बारे में स्पष्ट नहीं था। जब मैं वहां गया तो वह स्वयं आगे बढ़कर गर्मजोशी के साथ हाथ मिलाने आ गए।

वहां एक और दिक्कत थी वह थी गरमी, जो दक्षिणी भारत से भी ज्यादा थी। साथ में मच्छर भी। दोनों मिलकर मेरी नींद भगा देते थे। एक सकारात्मक पक्ष भी था। कई वरिष्ठ भिक्षुओं से मिलकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। जापान की तरह यहां भी चर्चा के लिए बहुत विषय थे। अलग-अलग परम्पराओं के बावजूद कई पद्धतियां एक जैसी थीं। इन्हें देखकर मैंने महसूस किया कि बौद्ध धर्म की तिब्बती परम्परा उसका पूर्ण रूप है।

1973 में मैं पहली बार यूरोप और स्कैण्डीनेविया की यात्रा पर गया। छह सप्ताह की इस यात्रा के दौरान 11 देशों का भ्रमण किया। अंत में मैं बहुत थक गया था। फिर भी प्रसन्न था क्योंकि इस दौरान काफी नयी जगह देखीं तथा नये लोगों से मुलाकातें की थीं। मैं इसलिए भी प्रसन्न था कि कई पुराने सम्बन्ध एक बार फिर ताजे हो गये थे। हाइनरिश हैरर से मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। वह हमेशा की तरह सामान्य और हंसमुख थे तथा उसका मजाकियापन पहले

जैसा ही था। बहुत वर्षों पहले वह धर्मशाला आए थे। बचपन में मैं जब उनसे आखिरी बार मिला था तब उनके बाल पीले थे, जिनके लिए मैं उन्हें चिढ़ाया करता था। पर अब वे पक चुके थे। इसके अलावा इतने वर्षों में और कोई अंतर नहीं आया था। पर्वतारोहण करने के कारण उनकी मजबूत अंगुलियां मुझे बहुत लुभाती थीं। हालांकि पिछली मुलाकात के

बाद वे कई बार दुर्घनाग्रस्त हो चुकी थीं। न्यू गिनी में एक अभियान दल का नेतृत्व करते समय हुई दुर्घटना के बावजूद वे पूरी तरह पहले की तरह ही थे।

सबसे पहले मैं रोम में रुका जहां मैंने परम पूज्य पोप से भेंट की। जैसे ही विमान वहां उतरने वाला था, मैं यह देखने को उत्सुक था कि क्या यहां की भूस्थिति अलग है जिसके कारण पूर्व और पश्चिम में अंतर माना जाता है। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध से सम्बद्ध पुस्तकों में तमाम यूरोपीय शहरों की असंख्य फोटो देखने के बावजूद मैं यह नहीं कल्पना कर पाया था कि वहां मुझे कैसा दृश्य देखने को मिलेगा। मुझे उस वक्त राहत मिली जब वहां वैसे ही पेड़, वनस्पति तथा मानव का रहन सहन देखा जैसा मैं पूर्व में देखता था।

विमान के उतरने के बाद मैं सीधा वैटिकन सिटी गया जहां मैंने पाया कि आकार व पुरातात्विक महत्व में सेंट पीटर्स बैसिनीका पोटला से काफी कुछ मिलता है। इसी के साथ स्विस गार्ड बेहद रंगीन ड्रेस में बहुत ही हास्यास्पद लग रहे थे। वे सजावट की वस्तु लग रहे थे। छठे पोप पाल से मेरी वार्ता संक्षिप्त थी, पर मैंने उन्हें यह बता दिया कि मानव जाति में बगैर किसी भेदभाव के आध्यात्मिक मूल्यों के महत्व में मेरा भरोसा है। पोप भी मेरी बात से पूरी तरह सहमत थे। हमारी भेंट बड़े सौहार्दपूर्ण माहौल में समाप्त हुई।

उसी दिन में एक सप्ताह के लिए स्विटज़रलैण्ड जाने के लिए विमान से रवाना हो गया। वहां मैं लगभग 200 तिब्बती बच्चों से मिला जिन्हें स्विस परिवारों ने गोद ले लिया था। मैंने उन बच्चों को बहुत शर्मीला पाया तथा मेरे प्रति उनका व्यवहार भी असामान्य था। यह देखकर दुख भी हुआ कि उनमें से ज्यादातर तो अपनी मातृभाषा बोलना भूल गये थे। लेकिन 1979 में जब मैं यहां फिर आया तो स्थिति में बहुत अंतर था। बच्चों ने तिब्बती भाषा के पाठ पढ़े थे तथा मुझसे टूटी फूटी तिब्बती बोली भी वैसे ही जैसी मैं अंग्रेजी बोलता हूं। छह साल पहले की उनकी त्रासद स्थिति याद करने पर तथा आज उनके चेहरों पर मुस्कुराहट देखकर मुझे बहुत खुशी हुई। यह जानकर भी प्रसन्नता हुई कि स्विटजरलैण्ड के निवासियों ने मुक्त हाथों से उनका स्वागत किया था। स्पष्ट था कि वे प्यार तथा

दयालुता के माहौल में पले बढ़े थे।

स्विटजरलैण्ड से मैं हालैण्ड गया वहां मैं जिन लोगों से मिला उनमें से एक यहूदी रब्बी था। यह बड़ा ही भावुक अनुभव था। भाषाई दिक्कतों के चलते हम बातचीत नहीं कर पाये, लेकिन उसकी कोई जरूरत भी नहीं थी। उसकी आंखों में उसके लोगों के सारे कष्ट साफ दिखाई दे रहे थे यह देखकर मैं रो पड़ा।

हालैण्ड में मैंने दो दिन बिताये तथा कुछ घण्टे बेल्जियम में।

अप्रैल 1959 में भारत पहुंचने के कुछ दिन बाद लिया गया मेरा चित्र

7 सितंबर 1959 के दिन भारतीय प्रधानमंत्री निवास में मैं पंडित जवाहरलाल नेहरू और उनकी पुत्री इंदिरा गांधी के साथ

बोधिवृक्ष के नीचे पूजा।
मेरे बायीं ओर लिंग रिंपोछे बैठे हैं।

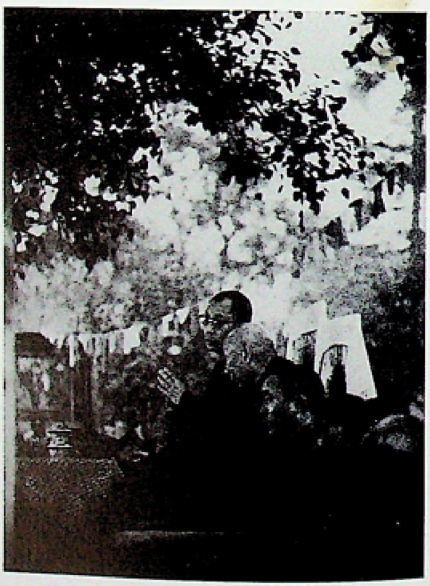

पुनर्वास के आरंभिक दिनों में भारत में एक तिब्बती शरणार्थी बस्ती

एक समारोह में मैं परंपरागत धार्मिक वेशभूषा में

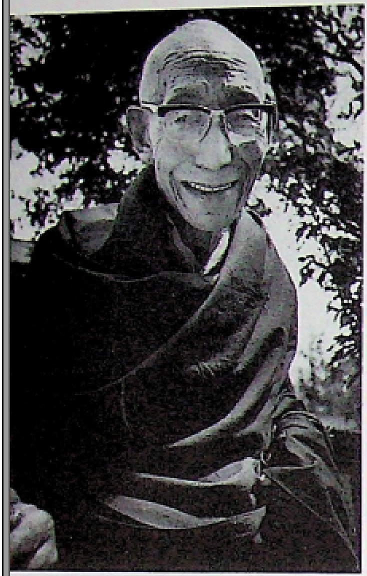

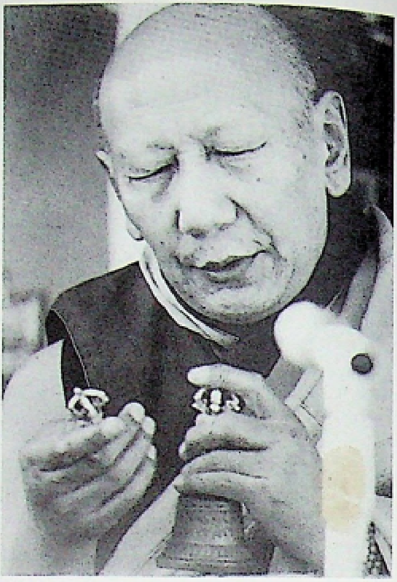

(ऊपर बाएं) 1978 में त्रिजांग रिंपोछे भारत में

(ऊपर) उन्हीं दिनों लिंग रिंपोछे

(बाएं)समाधि के दौरान नेचुंग

(ऊपर दाएं) परमपावन पोप जान पाल द्वितीय के साथ इटली में, 1982

(नीचे दाएं) कैंटरबरी के आर्चबिशप डा. राबर्ट रंसी के साथ ब्रिटेन में, 1988

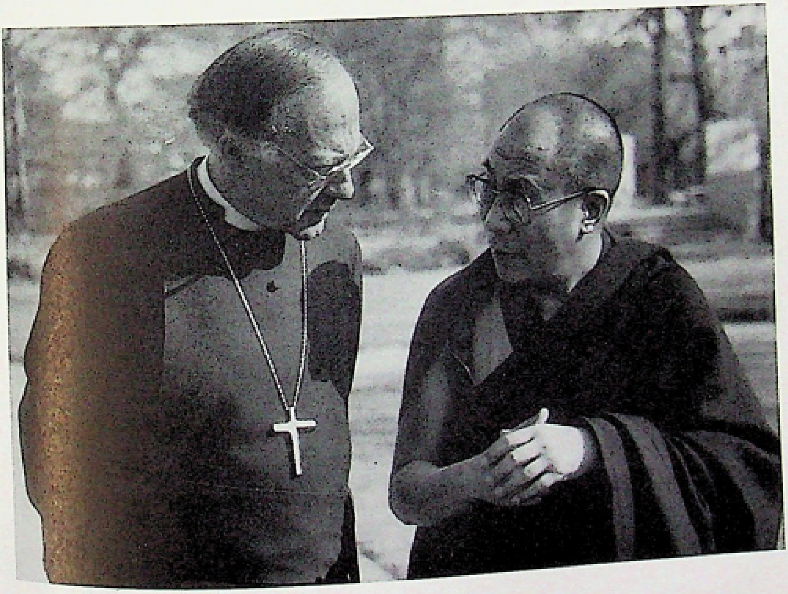

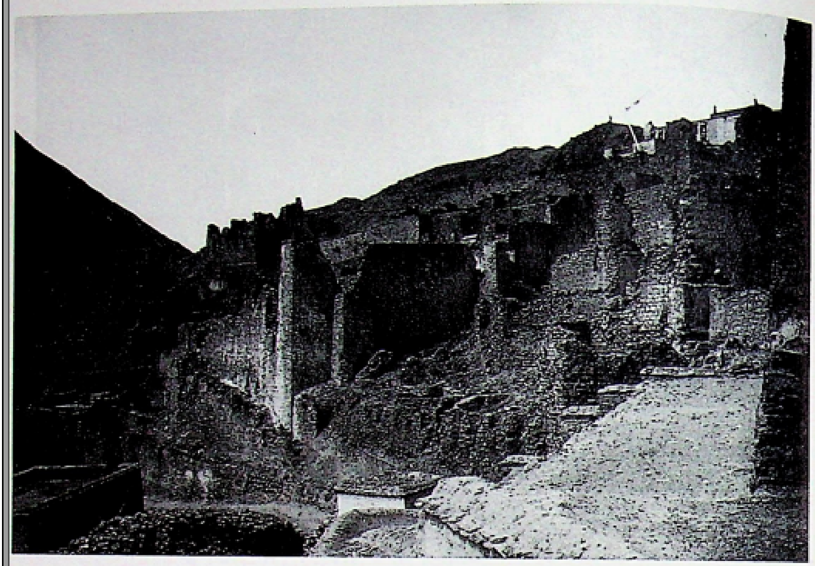

(बाएं) चीनी सेना द्वारा विनाश के बाद गंदेन मठ

(बाएं नीचे) ड्योलिंग मठ जिसे बर्बाद करने के बाद घोड़े बांधने के लिए प्रयोग किया जाता है।

(दाएं) मार्च 1989 में ल्हासा में तैनात चीनी सेना

(नीचे)ल्हासा में मार्च 1989 प्रदर्शनों के दौरान जान बचाने को भागते दो भिक्षु

ओस्लो में 10 दिसंबर 1989 को नोबेल शांति पुरस्कार पाने के बाद मैडल और प्रशस्ति पत्र के साथ

इसके बाद आयरलैण्ड, नार्वे, स्वीडन तथा डेनमार्क गया। हर जगह बस एक या दो दिन रुका। समय इतना कम था कि इन जगहों की झलक से ज्यादा कुछ नहीं पा सका। पर हर जगह मैंने स्वागत एवं दयालुता का माहौल पाया तथा लोगों में तिब्बत के बारे में और जानने की जिज्ञासा। यह स्पष्ट हो गया कि विश्व भर के लोग मेरे देश तिब्बत के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानने के इच्छुक हैं। इस उत्साहवर्धक यात्रा से एक खुशी मुझे यह हुई कि जिन लोगों ने तिब्बती शरणार्थियों के लिए मदद भेजी थी, उन्हें मैं व्यक्तिगत तौर पर धन्यवाद कह सका। उदाहरणार्थ, नार्वे, डेनमार्क व स्वीडन में मैं उन संस्थाओं में भी गया जिन्होंने 40 तिब्बती पुरूषों व महिलाओं को मैकेनिक तथा किसान के रूप में प्रशिक्षित किया था।

वह देश जहां मैंने सबसे ज्यादा समय बिताया वह था ब्रिटेन वहां मैं दस दिन रुका तथा मेरा यह विश्वास भी पक्का हो गया कि सभी पश्चिमी देशों में ब्रिटेन के तिब्बत के साथ सबसे गहरे सम्बन्ध हैं। मुझे तब आश्चर्य हुआ, जब मैंने पाया कि कुछ वृद्ध मुझसे तिब्बती में बातचीत कर रहे हैं। पता चला कि वे या उनमें से कुछ के माता पिता कभी न कभी तिब्बत में तैनात रह चुके हैं। इनमें से एक थे हफ रिचर्डसन जिनसे मैं दस वर्ष पूर्व धर्मशाला में मिल चुका था।

ब्रिटेन में मेरी मुलाकात सर हैराल्ड मैकमिलन से हुई। मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। वे मुझे असाधारण रूप से अच्छे लगे क्योंकि उनमें गांभीर्य तथा नम्रता का अदभुत सामंजस्य था। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों में रुचि भी दिखाई इसी यात्रा में एक अन्य व्यक्ति से मुलाकात हुई और हम गहरे दोस्त बन गये वे थे हम्फ्री कारपेंटर, वेस्टमिंस्टर के तत्कालीन डीन। उनकी पत्नी मुझे हमेशा 'मेरा लड़का' कह कर पुकारती थी।

1960 में एक भारतीय समाचार पत्र में प्रकाशित रिपोर्ट में था कि राष्ट्रपति आइजनहावर ने संकेत दिये हैं कि यदि दलाई लामा अमेरिका आएं तो वे मेरा स्वागत करेंगे। अमरीका जाने की सम्भावना जब 1972 में तलाशी गयी तो पता चला कि वीज़ा मिलने में कुछ दिक्कत हो सकती है। मैं अमरीका जाने के लिए बहुत उत्सुक था क्योंकि कहा जाता था कि

वह पृथ्वी पर सबसे अमीर तथा स्वतंत्र देश है। लेकिन वहां मैं 1979 से पहले नहीं जा सका।

अमरीका पहुंचने पर सबसे पहले मैं न्यूयार्क गया जहां मैं स्वतन्त्रता का माहौल देखकर बहुत प्रभावित हुआ। जिन लोगों से मैं मिला वे मित्रातापूर्ण, खुले एवं तनावरहित थे। लेकिन साथ ही पाया कि शहर का कुछ भाग बहुत ही ज्यादा गन्दा था। यह देखकर दुख भी हुआ कि कितने सारे बेघर लोग आने जाने के रास्तों या बरामदों में शरण लिये हुए थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी सम्पन्न एवं समृद्ध भूमि पर कोई भिखारी भी हो सकता है। मुझे याद आया जो मेरे साम्यवादी मित्र बताया करते थे कि कैसे अमीरों के फायदे के लिए "अमरीकी साम्राज्यवादी कागजी शेर" गरीबों का शोषण करते हैं। पूर्व में रहने वाले अनेक लोगों की तरह मैं भी मानता था कि अमरीका स्वतन्त्रता के पक्षघर हैं, जबकि वास्तव में बहुत कम लोग तिब्बत के बारे में जानते थे। अमरीका को अच्छी तरह जानने के बाद में महसूस करने लगा हूं

कि अमरीका की राजनीतिक प्रणाली अपने ही आदर्शों पर खरी नहीं उतरती है।

इन सब बातों का यह अर्थ नहीं कि अमरीका की इस पहली यात्रा का मैंने आनन्द नहीं उठाया या प्रभावित नहीं हुआ। छात्रों को सम्बोधित करने में मुझे विशेष तौर पर बहुत आनन्द आया। वहां लगातार सद्भावना अभिव्यक्त होती रही भले ही मैंने कितनी ही खराब अंग्रेजी बोली। उन्हें हर बात समझ में आई या नहीं लेकिन उनका प्रत्युत्तर गर्मजोशी से भरा था। इस से आम जनता के बीच विदेशी भाषा अंग्रेजी बोलने की मेरी झिझक खुली और आत्मविश्वास आया, जिसके लिए मैं उन लोगों के प्रति कृतज्ञ हूं। अब यदा-कदा सोचता हूं कि इस दयालुता ने मेरे अंग्रेजी सुधारने के कमजोर इरादे को कहीं शह तो नहीं दी। मैंने अंग्रेजी सुधारने का मन बनाया हुआ था मगर धर्मशाला लौटा तो यह संकल्प हवा हो चुका था। परिणाम यह कि मैं जर्मनी और फ्रांस या अन्य यूरोपीय लोगों से बात

करना ज्यादा पसंद करता हूं जो मेरी तरह मोटी जुबान में अंग्रेजी व्याकरण की टांग तोड़ते हैं। इसे अंग्रेजों के साथ बहुत कम बोलता हूं क्योंकि उनमें से कई मुझे रिजर्व और औपचारिक लगते हैं।

इन शुरूआती यात्राओं के बाद से तो मैं कई बार वापस गया। मुझे उस यात्रा का बेहद आनन्द आता है जिसमें मैं सभी तबके के लोगों से मिलकर बात कर सकूं उनमें से कुछ गरीब हैं तो कोई धन्ना सेठ, कोई पढ़ा लिखा तो कोई अंगूठा छाप, कोई धार्मिक है तो कोई नास्तिक। अब तक मेरे इसी विश्वास को बल मिला है कि आप कहीं भी जायें ऊपरी दो चार अन्तरों को छोड़कर लोग एक जैसे ही मिलेंगे। सभी को मेरी तरह खुशी चाहिए। आंसू कोई नहीं चाहता। और फिर, हर कोई प्यार की कद्र करना जानता है, इसे लुटाना भी जानता है। मैंने पाया है कि इन्हीं बातों के ध्यान से दोस्ती तथा समझबूझ पैदा होती है।

कुल मिलाकर मैंने इन चीजों को पश्चिमी समाज में खूब पाया है। मैं उनकी ऊर्जा, सृजनशीलता व ज्ञान-पिपासा की सराहना करता हूं। दूसरी तरफ उनकी बहुत सी बातों पर चिन्ता भी होती है। मुझे उनमें 'काले व सफेद' की बात सोचने व 'ये या वो' की तरफ झुकाव नजर आया है। इन बातों से आपसी निर्भरता और सापेक्षता की अनदेखी होती है। उनमें उन क्षेत्रों को अनदेखा करने की प्रवृति है जो इन काले और सफेद के बीच की चीज होती है।

एक और बात जो पश्चिम में मुझे नजर आई है, वो यह कि वे लोग बेशक बहुत बड़े शहरों में रहते हैं मगर मानवता के समूह से कटे, अलग-थलग। मुझे यह बहुत ही अजीब लगता है कि इतनी सुख सुविधाएं हैं, हजारों भाई बहन उनके पड़ौसी हैं। मगर वे हैं कि अपने कुत्तों और बिल्लियों से ही सच्चा प्यार कर पाते हैं। इससे आध्यात्मिकता की कमी साफ नजर आती है। एक और बात मैंने पायी कि पश्चिम में लोग बड़े शहरों में आराम से तो रहते हैं लेकिन बाकी मानव समाज से कटे रहते हैं। मुझे देखकर हैरानी होती है कि इतनी समृद्धि के बावजूद और हजारों पड़ोसियों के बावजूद वे अपने मन की भावनाएं केवल अपने कुत्तों और

बिल्लियों के सामने प्रकट करते हैं। यह कहीं आध्यात्मिक मूल्यों की कमी को दिखाता है। इस समस्या का एक हिस्सा शायद यह भी है कि इन देशों में जिन्दगी काफी ज्यादा स्पर्धापूर्ण है जिससे भय और असुरक्षा की भावनाएं जन्म लेती हैं।

मुझे यह अकेलेपन की भावना का संकेत उस चीज से मिला जो मैंने एक बार विदेश यात्रा के दौरान किसी धनवान के यहां मेहमान होकर देखी थी। सुख-सुविधा, ऐशो-आराम की खातिर बना लंबा-चौड़ा घर और घर में सौ तरह की चीजें। लेकिन जब मैं उनके बाथरूम में गया तो हाथ धोने के बेसिन पर गोलियों की दो बड़ी बोतलें देखे बिना न रह पाया। उनमें नींद की गोलियां थीं। यह एक सबूत है कि सिर्फ भौतिक समृद्धि से अन्तहीन खुशी नहीं मिला करती।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि मैं किसी के निमन्त्रण पर ही बाहर जाता हूं। कई बार मुझे लोगों के समूह को संबोधित करने को कहा जाता है। उस वक्त मेरा नजरिया तीन पहलुओं का होता है। पहली बात, मानव होने के नाते "सार्वजनिक जिम्मेवारी" की बात करता हूं। इसका अर्थ है वह जिम्मेवारी जो हमारी एक दूसरे के प्रति तथा अन्य जीवों के प्रति व सारी प्रकृति के प्रति भी है।

दूसरी बात, बौद्ध होने के नाते विभिन्न धर्मों के बीच सामंजस्य व सूझबूझ के लिए जो बन पड़ता है, करता हूं। बता ही चुका हूं कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि दार्शनिक अन्तरों के बावजूद जिनमें से कुछेक तो मूलभूत हैं सभी धर्मों का लक्ष्य है मानव को बेहतर इंसान बनाना तथा मनवता को खुशी ढूंढने में सहायता करना। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं किसी प्रकार के विश्व धर्म या 'श्रेष्ठ धर्म' की वकालत करता हूं। इसके बजाए मैं धर्म को दवा मानता हूं। विभिन्न बीमारियों के लिए विभिन्न दवायें होती हैं। इसीलिए चूंकि सभी की आध्यात्मिक 'बीमारी' एक जैसी नहीं है अतः विभिन्न आध्यात्मिक दवाओं की जरूरत होगी।

अन्त में एक तिब्बती और उससे भी ज्यादा दलाई लामा होने के नाते,

लोगों द्वारा रूचि दिखाने पर, अपने देश, जनता और संस्कृति की बात करता हूं। यद्यपि जब कोई मेरी मातृ-भूमि और अधिकृत तिब्बत में मेरे देशवासी भाई बहिनों के दुःख तकलीफों में रूचि लेता है तो मैं बहुत प्रोत्साहित होता हूं इससे न्याय के लिए लड़ने के मेरे संकल्प को भी ऊर्जा मिलती है। तो भी मैं उन्हे तिब्बत समर्थक नहीं समझता। बल्कि मैं उन्हे न्याय-समर्थक समझता हूं।

एक और बात जो इन यात्राओं में मैंने देखी वह है युवाओं द्वारा मेरी कही बातों में रूचि लेना। मेरा ख्याल है यह उत्साह मेरे द्वारा पूर्ण अनौपचारिकता पर बल देने से आता है। मुझे भी तो युवा श्रोताओं से वार्ता का आदान-प्रदान बहुत महत्वपूर्ण लगता है। वे बुद्ध के शून्यता के सिद्धांत, ब्रह्माण्ड विज्ञान और आधुनिक भौतिकी पर मेरे विचारों से लेकर सैक्स तथा नैतिकता तक के संबंध में सब कुछ जान लेना चाहते हैं। मुझे वही प्रश्न ज्यादा पसंद आते हैं जो अनापेक्षित व जटिल हों। इससे मुझे उन विचारों, उन बातों में रूचि लेनी पड़ती है जो कभी पहले मेरे ध्यान में न आयी हों। अतः मुझे मदद मिलती है। यह एक तरह से शास्त्रार्थ का रूप ले लेती है।

आज़ाद शरणार्थी

दूसरी बात मैंने विशेषकर पश्चिम के लोगों में यह पाई कि उनका दिमाग बहुत ज्यादा शक्की होता है। मैं सोचता हूं यह सकारात्मक भी हो सकता है। मगर तभी जब इसे और ज्यादा जानकारी हासिल करने का आधार बनाया जाये।

शायद इनमें सबसे ज्यादा संशयी पत्रकार होते हैं जिनसे मिलकर विदेश यात्राओं के दौरान दलाई लामा होने के नाते मेरा साबका पड़ता रहता है। लोग अक्सर इन्हें बहुत सख्त व आक्रामक मानते हैं। लेकिन मैं प्रायः इन्हें ऐसा नहीं मानता। यद्यपि शुरू में वातावरण थोड़ा तनावपूर्ण होता है मगर, बाद में ज्यादातर लोग दोस्ताना ही निकलते हैं। कई बार तो सवाल जवाबों का दौर बड़ा गंभीर हो जाता है। ऐसा होता है तो राजनीति की बात आने पर मैं चुप्पी साध लेता हूं। लोगों को अपनी राय बनाने का रखने का

अधिकार है तो उनके विचार बदलने में मुझे कोई तुक नहीं नजर आती।

पिछले दिनों एक विदेश यात्रा पर, यही हुआ। प्रेस कांफ्रेंस खत्म हो चुकने पर कई लोगों ने महसूस किया कि दलाई लामा ने अच्छे जवाब नहीं दिये। लेकिन मैंने चिन्ता नहीं की लोगों को स्वयं ही तय करने दिया जाये कि तिब्बत का पक्ष न्यायपूर्ण है, या नहीं।

अखबार वालों के साथ असंतोषजनक सामना होने वाली इन घटनाओं से भी बुरी तो वे रहीं जब मैं कई मौकों पर टी. वी. पर आया। एक बार फ्रांस में मुझे सजीव प्रसारित हो रहे एक न्यूज प्रोग्राम में बुलाया गया। मुझे बताया गया था कि प्रस्तुतकर्ता मुझसे सीधे ही फ्रेंच में बात करेगा। जो वह कहेगा उसका अनुवाद एक ईयरफोन के जरिए मुझ तक अंग्रेजी में पहुंचता रहेगा। लेकिन, मुझे तो ईयर फोन से अंग्रेजी का एक शब्द भी समझ नहीं आया।

इसी तरह एक बार वाशिंगटन में था तो मुझसे ऐसा ही करने को कहा गया। हां, इस बार स्टुडियों में मैं अकेला था। इन्टरव्यू करने वाला मुझसे न्यूयार्क से बात कर रहा था। मुझे सीधे उस स्क्रीन पर देखने को कहा गया जिसमें उसका नहीं बल्कि मेरा खुद का चेहरा दिख रहा था। मुझे बड़ी गड़बड़ हुई। अपने आप से बातें करना मुझे धेले भर भी अच्छा नहीं लगा और नतीजा यह रहा कि मेरी जुबान तालू से ही चिपकी रही।

जब कहीं बाहर जाता हूं तो यथासंभव दूसरे धर्माचार्यों से मिलने की कोशिश करता हूं ताकि एक दूसरे के धर्म पर बातें हो पायें। एक विदेश यात्रा में ऐसी ही इच्छा वाले एक ईसाई से मुलाकात हो गई। इससे भिक्षुओं के आदान-प्रदान का कार्यक्रम भी शुरू हुआ। कुछ हफ्तों के लिए तिब्बती भिक्षु ईसाई चर्चों में गए जबकि उतने ही इसाई सन्यासी भारत आये। यह दोनों ही पक्षों के लिए बड़ा फायदेमंद रहा। विशेषकर इसलिए कि हमें दूसरे लोगों की विचारधारा की गहरी समझ मिल सकी।

मुझसे मिले विभिन्न धार्मिक व्यक्तियों में से कुछ की चर्चा ही कर लूं। वर्तमान पोप का मैं बहुत सम्मान करता हूं। कुछ यों कहूं कि हमारी समान पृष्ठभूमियों की वजह से हम शायद समान धरातल पर खड़े हैं। पहली बार मिला

तो वह मुझे व्यावहारिक, खुले दिमाग के बेलाग व्यक्ति लगे। मुझे उनके महान आध्यात्मिक नेता होने में कोई शक नहीं है। पोप जॉन पाल की तरह जो आदमी अपने भावी हत्यारे को 'भाई' कह सके वह जरूर ही उच्च दर्जे का धर्म पालक होना चाहिए।

मदर टेरेसा भी उनमें से एक हैं जिनसे मैं आक्सफर्ड, इग्लैण्ड की क्रान्फ्रेंस से वापसी पर 1988 में (जिसमें वह भी उपस्थित थी) दिल्ली हवाई अड्डे पर मिला था, जिनका मैं हार्दिक सम्मान करता हूं। मैं उनके पूर्ण विनम्रता के व्यवहार पर मुग्ध रह गया। बौद्ध नजरिए से उन्हें बोधिसत्व माना जा सकता है।

एक अन्य व्यक्ति जिन्हे मैं उच्च दर्जे का आध्यात्मिक स्वामी मानता हूं वे हैं एक कैथोलिक सन्यासी जिन्हे मैं स्पेन में मोंज़ेराट के निकट एक कुटी में मिला था। वहां उन्होंने पूर्व में रहने वाले सन्तों की तरह रोटी, पानी और थोड़ी सी चाय पर कई वर्ष निर्वाह किया था। वह बहुत कम अंग्रेजी बोलते मुझसे भी कम-मगर उनकी आँखों में झांककर मैं जान गया कि मैं धर्म के सच्चे पालक एक अतिविशिष्ट व्यक्ति से बातें कर रहा हूं। जब मैंने पूछा कि आप किसकी साधना करते हैं तो उन्होंने बड़ी सादगी से कहा था 'प्यार' की। उसके बाद से वह मुझे आधुनिक मिला-रे-पा लगने लगे। बौद्ध संत मिला-रे-पा ने अपना पूरा जीवन एक गुफा में साधना करते तथा आध्यात्मिक पदों की रचना में बिता दिया था।

केंटर बरी के आर्कबिशप डा. राबर्ट रून्सी, जिनके साहसी प्रतिनिधि टेरी वेट को अपनी प्रार्थनाओं में हमेशा याद करता हूं, से भी मेरी कई बार अच्छी वार्ताएं हुई हैं। हम दोनों ने यह दृष्टिकोण साझा किया कि धर्म तथा राजनीति को मिलना चाहिए। और दोनों सहमत थे कि मानवता की सेवा करना धर्म का स्पष्ट कर्तव्य है और इसे इस सच्चाई से आंखें नहीं मूंदनी चाहिएं। धार्मिक लोगों का सिर्फ प्रार्थना में ही लगे रहना काफी नहीं हैं। बल्कि विश्व की समस्याओं के समाधान में योगदान देना उनकी नैतिक

जिम्मेवारी है।

इस विचार पर एक भारतीय राजनीतिज्ञ से हुई बातें मुझे याद आ रही हैं। उसने बड़ी विनम्रता से मुझे कहा "मगर हम तो राजनीतिज्ञ हैं, धार्मिक लोग तो हैं नहीं। हमारा पहला काम राजनीति के जरिए लोगों की सेवा करना है।" इस पर मैंने जवाब दिया था, "राजनीतिज्ञ को किसी सन्त मुनी की अपेक्षा धर्म की ज्यादा जरूरत है। यदि कोई सन्त बुरे काम करेगा तो सिवा अपने किसी का नुकसान नहीं करेगा। लेकिन जो आदमी पूरे समाज को प्रभावित कर सकता हो और वह बुरा काम करे तो उससे ज्यादा नुकसान तो बहुत से लोगों का हो जायेगा।" मुझे धर्म व राजनीति में कोई अन्तर्विरोध नजर नहीं आता। क्योंकि धर्म क्या है? मेरे ख्याल से तो अच्छे उद्देश्यों से किया गया कोई भी कार्य धर्म है। दूसरी तरफ मन्दिर या चर्च में प्रार्थना कर रही भीड़ जिनके अच्छे उद्देश्य नहीं हैं, धार्मिक कार्य नहीं कर रहे होते।

मेरी यात्राओं के दौरान बहुत से राजनीतिज्ञों से बिना कोशिश किए परिचय होता रहता है।

आज़ाद शरणार्थी

ऐसे ही हैं ग्रेट ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमंत्री एडवर्ड हीथ जिनसे मैं चार बार मिला हूं। एक पहली निजी मुलाकात में नेहरू की तरह शुरू में उन्हें मेरी बातों पर ध्यान एकाग्र करने में दिक्कत हुई। लेकिन बाद की तीन मुलाकातों में हमारी तिब्बत व चीन के बारे में लंबी व बेलाग बातें हुई जिनके दौरान हीथ ने कृषि में चीन की सफलताओं पर काफी उत्साह दिखाया। वह मेरी चीन यात्रा के बाद वहां की यात्रा कर चुके थे। उन्होंने मुझसे यह भी कहा कि मैं जान लूं कि मेरी मातृभूमि में कई परिवर्तन हो चुके हैं विशेषकर दलाई लामा को समर्थन के संबंध में। उनकी राय में यह समर्थन विशेषकर युवा पीढ़ी में तेजी से गायब हो रहा था।

यह दृष्टिकोण किसी वरिष्ट राजनीतिज्ञ से विशेषकर उनसे जिनका चीन से काफी वास्ता रहा है, सुनकर बड़ा मनोरंजक लगा। तो भी मैंने बताया कि

मुझे दलाई लामा की स्थिति की चिन्ता नहीं हैं बल्कि उन साठ लाख लोगों के अधिकारों की चिन्ता है जो अधिकृत तिब्बत में रह रहे हैं। इसके बाद मैंने उन्हें बताया कि जहां तक मुझे पता है तिब्बत के युवाओं का दलाई लामा के प्रति समर्थन उच्चतम स्तर का है तथा मेरे निर्वासन ने जिस तरह लोगों को एक जुट किया है उतना शायद वे पहले कभी न हुए हों।

हमारी राय में अन्तर के बावजूद मैं आज भी उनके संपर्क में हूं तथा हीथ को विश्व मामलों का बड़ा ज्ञाता मानता हूं। मगर साथ ही, ऐसे अनुभवी व्यक्ति को भी चीनी सरकार धोखा तथा गलत सूचनाएं देने में सफल रही यह सोचकर चीनी प्रचार तंत्र से प्रभावित भी हुआ।

पिछले दो एक दशकों में पश्चिमी देशों की बौद्ध धर्म में तेजी से बढ़ती रुचि भी रुचिकर बात है। मुझे इसमें कोई विशेष महत्व नहीं नज़र आता लेकिन मैं बहुत प्रसन्न भी हूं कि संसार भर में तिब्बती बौद्धमत के कोई पांच सौ से ज्यादा केन्द्र होंगे जिनमें से कई तो यूरोप और उत्तरी अमेरिका में ही हैं। यदि कोई बौद्ध नियम अपनाकर फायदा पाता है तो मुझे हमेशा ही खुशी होती है। लेकिन जब लोगों के धर्म बदलने की बात आती है तो मैं अक्सर बहुत ध्यान से सोचने की सलाह देता हूं। किसी नये धर्म का अनुसरण करना बड़ा कठिन होता है। इससे मानसिक अन्तर्द्वन्द्व भी पैदा होता है।

तो भी उन स्थानों में भी जहां बौद्धमत अभी नया है, मैंने लोगों के फायदे के लिए कई अवसरों पर धार्मिक समारोह कराये हैं। उदाहरण के लिए मैंने भारत से बाहर कई देशों में "कालचक्र" दीक्षा दी है ऐसा करने में मेरा उद्देश्य सिर्फ तिब्बती जीवन व विचारधारा की अर्न्तदृटि देना ही नहीं होता बल्कि सूक्ष्म आन्तरिक स्तर पर विश्व शान्ति के पक्ष में प्रयास करना भी होता है।

पश्चिम में बौद्धमत के प्रसार के विषय में मैं कहना चाहूंगा कि नये अनुयाइयों में मैंने धार्मिक कट्टरता की प्रवृति देखी है। यह नितान्त गलत है। यह संघर्ष का एक और स्त्रोत बन जाता है और इससे मानव समुदाय में फिर विभाजन होता है। मैंने उस योगदान, जो दूसरे धर्म मानव प्रसन्नता में दे सकते हैं,

के प्रति गहरा आदर होने के कारण दूसरे धर्मों के समारोहों में भाग लिया है। प्राचीन व नवीन कई तिब्बती लामाओं का अनुसरण करते हुए, यथासंभव विभिन्न प्रथाओं की धार्मिक शिक्षा मैं लेता रहा हूं। यह भी सच है कि कुछ विचाराधाराओं ने अपने अनुयाइयों से अपने ही मत में ही रहने की मांग की है लेकिन लोग हमेशा वही करने को मुक्त हैं जो वे ठीक मानें। और फिर तिब्बती समाज दूसरे लोगों की आस्थाओं के प्रति अति सहिष्णु रहा है। तिब्बत में न केवल मुसलमान समुदाय फल फूल रहा था बल्कि इसाई मिशनों को भी बिना किसी बाधा के प्रवेश दिया गया।

जहां तक मेरे धर्मपालन की बात है, मैं बोधिसत्व आदर्शों को प्राप्त करते रहने की कोशिश में जिया हूं। बौद्ध विचार के अनुसार बोधिसत्व उसे कहते हैं जो सभी जीवों को कष्टों से मुक्ति दिलाने की कोशिश में खुद को न्यौछावर कर देते हैं। बोधिसत्व शब्द को बोधि व सत्व से अलग अलग अर्थ से समझा जा सकता है। बोधि का अर्थ है समझबूझ या सच्चाई की अन्ततः प्रकृति का ज्ञान और सत्व वह है जो सार्वभौमिक दया के उद्देश्य वाला हो। इस प्रकार बोधिस्त्व आदर्श का मतलब हुआ अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त दया करने की आकांक्षा करना। इसी खोज के कारण मैंने बौद्ध भिक्षु बनने का फैसला किया। तिब्बती सन्यास के 253 नियम हैं। 364 नियम भिक्षुणियों के लिए हैं। उनका यथासंभव पालन करके मैं खुद को संसार के कई विघ्नों और जीवन की चिन्ताओं से मुक्त रखता हूं। इनमें से कुछ एक तो सदाचार संबंधी है मसलन मठाधीश के कितना पीछे भिक्षु को चलना चाहिए इत्यादि जबकि अन्य व्यवहार से संबंधित हैं। चार प्रमुख प्रण इन साधारण मनाहियों के हैं कि सन्यासी किसी को मारे नहीं, चोरी न करे और आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में झूठ न बोले। उसे सच्चा ब्रह्मचारी भी रहना चाहिए। यदि वह इनमें से एक भी प्रण तोड़ता है तो वह सन्यासी नहीं रहता।

यदाकदा मुझसे पूछा जाता है कि ब्रह्मचर्य के प्रण की क्या असल में जरूरत है और क्या यह सचमुच ही संभव है? इतना कहना ही पर्याप्त है

कि इसके पालन का मतलब लैंगिक इच्छाओं का दमन नहीं है। इसके विपरीत इन इच्छाओं का अस्तित्व स्वीकारना बेहद जरूरी है और तर्क की शक्ति से उनको पार करना है। सफल होने पर इसका परिणाम विचारों के लिए बड़ा लाभदायक हो सकता है। दैहिक इच्छा की बड़ी दिक्कत तो यही है कि यह अन्धी इच्छा है। "मैं उस व्यक्ति के साथ लैंगिक संबंध स्थापित करना चाहता हूं" का अर्थ है कि ऐसी इच्छा बताना जो कि बौद्धिकता से निर्देशित नहीं है। कोई यह कहे कि "मैं विश्व से गरीबी मिटाना चाहता हूं" तो यह बौद्धिकता से निर्देशित बात हुई। और फिर लैंगिक इच्छा की संतुष्टि से अस्थाई संतोष ही मिलता है। महान भारतीय विद्वान नागार्जुन ने यों कहा था :

खुजली होने पर हम खुजलाते हैं पर कम या ज्यादा खुजलाने से बेहतर है कि खुजली हो ही ना

आज़ाद शरणार्थी

जहां तक मेरी दैनिक क्रियाओं का संबंध है, मैं कम से कम साढ़े पांच घण्टे प्रतिदिन प्रार्थना, साधना और अध्ययन में बिताता हूं। इससे भी ऊपर यह कि मौका मिलने पर दिन में भी तथा भोजन करते वक्त या यात्रा करते वक्त प्रार्थना कर लेता हूं। ऐसा करने के पीछे मुख्यतया तीन कारण हैं। पहली बात, इससे मेरी रोजाना की प्रार्थना पूरी होती है। दूसरी बात, इससे वक्त भला गुजर जाता है और तीसरी बात, इससे भय का शमन होता है। लेकिन मुझ जैसे बौद्ध के दैनिक जीवन व धार्मिक क्रियाओं में ज्यादा गंभीर अन्तर है भी नहीं। धर्म का पालन तो मेरा चौबीस घण्टे का काम है। दरअसल उठने से लेकर नहाने तक खाने और सोने तक भी कुछ विशेष प्रार्थनाएं निर्धारित हैं। तांत्रिक अनुयाइयों के लिए मृत्यु की महत्वपूर्ण तैयारी में वे अभ्यास आते हैं जो गहरी नींद और सपनों की हालत में किए जाते हैं।

यद्यपि, मेरे लिए भोर का वक्त बड़ा सर्वोत्तम है। उस समय दिमाग खूब ताजा और तीव्र होता है। इसलिए मैं लगभग चार बजे उठ खड़ा होता हूं। जागने पर दिन की शुरूआत करता हूं मन्त्रों के उच्चारण से। तब बुद्ध के

सामने आधे घण्टे के लिए दण्डवत होने के पहले मैं गर्म पानी पीता हूं और अपनी दवा लेता हूं। दण्डवत के दो पहलू हैं एक तो इससे प्रवीणता और उचित उद्देश्य की प्रेरणा बढ़ती है। और दूसरे यह अच्छी कसरत है। दण्डवत के बाद प्रार्थना करता रहता हूं और स्नान भी चलता रहता है। इसके बाद मंत्रोच्चर करता सैर को निकल जाता हूं। सवा पांच के आसपास नाश्ते के वक्त लौटता हूं। इस भोजन को जो काफी ज्यादा होता है आधा घण्टे में ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते निबटाता हूं।

सुबह पौने छह से आठ तक साधना चलती है और इसमें सिर्फ 6.30 बजे बी. बी. सी. के समाचार बुलेटन सुनने के लिए थोड़ा देर रुकता हूं। तब आठ के बाद दोपहर 2 बजे तक बौद्ध दर्शनशास्त्र का अध्ययन चलता है। उसके बाद से 12.30 बजे तक समाचार पत्र पढ़ता हूं, या सरकारी कागज देखता हूं। 12.30 पर भोजन करते समय धार्मिक ग्रन्थ पढ़ता हूं। एक बजे ऑफिस जाकर कर्मचारियों से या फाइलों से निबटता हूं और शाम पांच बजे तक लोगों से मिलता हूं। घर लौटने पर फिर प्रार्थना व साधना का एक संक्षिप्त सा दौर चलता है। टी. वी. पर कुछ देखने लायक हुआ तो 6.00 बजे चाय के वक्त से पहले देख लिया। चाय के बाद 8.30 या 9.00 बजे सोने से पहले एक बार फिर तिब्बती ग्रन्थों का अध्ययन और प्रार्थना। इसके बाद नींद बड़ी गहरी आती है।

यह नियम बदलता भी रहता है। कई बार सुबह पूजा में शामिल होना या दोपहर में उपदेश देना भी होता है। हां मगर इसके बावजूद सुबह शाम की प्रार्थना व साधना के कार्यक्रम को बहुत ही कम बदलता हूं।

इन कार्यक्रमों के पीछे तर्क बड़ा सीधा सा है। इसके पहले हिस्से में मैं जब दण्डवत होता हूं तो बुद्ध, धर्म तथा संध में 'शरण ले रहा होता' हूं। अगली अवस्था बोधिचित्त या अच्छा हृदय बनाने की है। यह दो चीजों से आता है। एक तो सभी चीजों का अस्थायित्व स्वीकार करके दूसरे, यह जानकर कि मानव की

असली प्रकृति कष्ट है। इन दो विचारों के आधार पर परोपकारी हुआ जा सकता है।

स्वयं में परोपकार या दया की भावना बढ़ाने के लिए मैं कुछेक मानसिक व्यायाम करता हूं जो मेरे तथा कथित दुश्मनों समेत, सभी जीवों के प्रति प्यार बढ़ाते हैं। उदाहरण के लिए मैं खुद को समझाता रहता हूं कि स्वयं मानव के बजाए मानव के काम ही किसी को किसी का दुश्मन बनाते हैं। व्यवहार का मौका मिलने पर वही व्यक्ति अच्छा दोस्त बन जाता है।

मेरी साधना का शेष भाग 'शून्यता' से संबंधित है जिस दौरान मैं अन्तर्निभरता के अर्थ पर विचार एकाग्र करता हूं। इसका एक अंश 'दैवी योग' है जिस दौरान मैं स्वयं को विभिन्न 'देवताओं' का क्रमिक होने की कल्पना में विभिन्न 'मण्डलों' का प्रयोग करता हूं। इसका मतलब स्वतन्त्र बाह्य अस्तित्व में विश्वास होने का नहीं लगा लेना चाहिए। ऐसा करते वक्त मैं अपना दिमाग उस बिन्दु पर केन्द्रित करता हूं जहां यह इन्द्रियों के ज्ञान से ग्रस्त नहीं होता। यह मूर्च्छा नहीं है। क्योंकि मेरा दिमाग सतर्क रहता है बल्कि विशुद्ध सोचता है। इसका जो मतलब मैं लेता हूं, वह समझाना बड़ा मुश्किल है जितना मुश्किल किसी वैज्ञानिक के लिए 'काल और समय' का अर्थ व्यक्त कर पाना होता है। शुद्ध मस्तिष्क का अनुभव न भाषा से बताया जा सकता है न प्रतिदिन के अनुभव से। इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह आसान काम नहीं है। निपुणता पाने में कई साल लग जाते हैं।

मेरी दैनिक क्रियाओं का एक और पहलू है, मृत्यु का विचार। मेरे ख्याल से मृत्यु के बारे में कोई अपनी जिन्दगी में दो बातें कर सकता है। एक है मृत्यु को अनदेखा किए रखने का। मगर इस हालत में यह विचार कुछ सीमित समय के लिए ही दूर हो पाता है। या दूसरा यह कि अपनी मौत के अवसरों का सामना करके इसके विश्लेषण की कोशिश की जाये। ऐसा करने से मृत्यु से होने वाली अवश्यंभावी पीड़ा को कुछ कम किया जा सकता है। लेकिन, मैं बौद्ध होने के नाते मृत्यु को जिन्दगी की आम प्रक्रिया मानता हूं। यह उतनी ही सच है जितना मेरा 'संसार' में होना। पता है कि इससे नहीं बचा जा सकता, तो चिन्ता भी किस बात की ? बल्कि मृत्यु तो फटे या पुराने होने पर वस्त्र बदलने जैसी प्रक्रिया है। फिर भी

मौत का अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि कब और कैसे आ जाए। अतः यही उचित है कि मौत आने से पहले कुछ सावधानियों का पालन किया जाए।

बौद्ध होने के नाते मैं यह भी विश्वास करता हूं कि मौत का वास्तविक अनुभव महत्वपूर्ण है। इसके बाद ही लाभदायक और अति गंभीर अनुभव हो सकते हैं। यही कारण है कि महान आध्यात्मिक स्वामी भौतिक अस्तित्व से मुक्ति पा जाते हैं यानी साधना लीन हालत में ही मृत्यु की गोद में समा जाते हैं। ऐसा जब होता है तो डॉक्टर द्वारा 'मृत' घाषित किए जाने के काफी देर बाद तक मुर्दा गलना शुरू नहीं होता।

मेरी आध्यात्मिक दिनचर्या तभी बदलती है जब कभी मैं एकान्तवास में जाता हूं।

184

आज़ाद शरणार्थी

ऐसे अवसरों पर अपनी दैनिक प्रार्थना के अतिरिक्त मैं कुछ विशेष साधनाएं भी करता हूं। यह मेरा रोजाना की साधना का समय तथा बौद्ध दर्शनशास्त्र की पढ़ाई का समय भी ले लेती है। ये दोनों काम फिर मुझे दोपहर में करने पड़ते हैं। चाय के बाद वाले कार्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं होता। लेकिन इसमें भी कोई पक्का नियम नहीं है। कई बार बाहरी दवाब के कारण मुझे सरकारी काम निबटाने पड़ते हैं या किसी से मिलना पड़ता है। उस अवस्था में सारी दैनिक क्रिया को फिर से सही क्रम में लाने के लिए मुझे नींद की कुर्बानी देनी पड़ती है।

इस एकान्तवास का उद्देश्य किसी व्यक्ति को भीतरी विकास पर पूर्ण ध्यान केन्द्रित करने के योग्य बनाना होता है। मुझे ऐसे अवसर बहुत कम मिल पाते हैं। यदि वर्ष में दो हफ्ते मिल जायें तो मैं सौभाग्य मानता हूं। हालांकि कभी कभार मैंने एकाध महीना भी निकाला है 1973 में मेरी तीन-वर्षीय एकान्तवास की तीव्र इच्छा थी लेकिन दुर्भाग्यवश परिस्थितियों ने साथ नहीं दिया। इसे अब भी मैं किसी दिन करना चाहता हूं। इसी बीच मुझे संक्षिप्त दौर निकालने होते हैं जिन्हे मैं "बैटरी चार्जिंग" कहता हूं। एक

हफ्ता वास्तविक तरक्की या विकास के लिए काफी नहीं होता। मगर इससे मैं पुनः काफी ऊर्जा पा लेता हूं। मस्तिष्क को किसी सीमा तक प्रशिक्षित करने में काफी वक्त लग जाता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक विकास में मैं स्वयं को अभी भी बहुत आरंभिक अवस्था में मानता हूं।

एकान्तवासों के लिए कम वक्त मिल पाने का एक और कारण मेरा काफी यात्रााएं करना भी है। लेकिन इन पर मुझे अफसोस नहीं होता। यात्रा करके मैं अपने अनुभव और उम्मीदें जितने लोगों से साझा कर लेता हूं, उतना वैसे संभव नहीं होता। ऐसा में बौद्ध भिक्षु होने के दृष्टिकोण से कह रहा हूं। मगर इसका मतलब मेरा यह विश्वास करना नहीं है कि सिर्फ बौद्ध मत के पालन से ही लोग स्वयं खुश हो सकते हैं तथा दूसरों को खुशी दे सकते हैं। इसके विपरीत मेरा विश्वास है कि यह उन लोगों के लिए भी संभव है जिनका कोई धर्म ही नहीं है। मैं बौद्धमत को सिर्फ एक उदाहरण के रूप में प्रयोग करता हूं क्योंकि जिन्दगी की हर बात ने इसकी वैधता में मेरा विश्वास पुष्ट किया है। इसके अतिरिक्त छः साल की उम्र से ही भिक्षु हूं तो इसके बारे में कुछ तो जानता ही हूं।

-12-

जादू या रहस्य?

तिब्बती बौद्धमत के तथा कथित जादुई पहलू पर मुझसे अक्सर सवाल पूछे जाते हैं। कई पश्चिमी लोग जानना चाहते हैं कि क्या तिब्बत पर

लोबसांग राम्पा और कुछ अन्य द्वारा लिखी पुस्तकें सच हैं जिनमें उन्होंने रहस्यमयी क्रियाओं की बात की है? वे मुझसे यह भी पूछते हैं कि क्या 'शांबा-ला' (कुछ ग्रन्थकारों द्वारा तिब्बत के उत्तरी निर्जन क्षेत्रों में छिपा पौराणिक देश) का अस्तित्व है? 1960 वाले दशक के शुरू में मुझे एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक का पत्र मिला जिसने लिखा था कि उसने सुना है कि कुछ उच्च लामा अलौकिक कारनामे कर सकते हैं। और पूछा था कि क्या इनके बारे में सही निश्चय करने के लिए उसे कुछ प्रयोग करने दिये जाएंगे।

पहले दो सवालों के जवाब में अक्सर मैं कहता हूं कि इनमें से अधिकतर पुस्तकें काल्पनिक हैं तथा 'शांबा-ला' का अस्तित्व है तो, मगर लौकिक रूप में नहीं। साथ ही इससे इनकार करना भी गलत होगा कि कुछ तान्त्रिक क्रियाएं वास्तव में ही रहस्यमयी घटनाओं को जन्म देती हैं। यही कारण था कि मैंने अधमने से उस वैज्ञानिक को लिखा था कि उसने जो कुछ सुना है वह सच है तथा मैं इस प्रयोग के पक्ष में भी हूं, मगर खेद इस बात का है कि जिस व्यक्ति पर ये प्रयोग हो सकते हैं वह अभी पैदा नहीं हुआ। वास्तव में उस समय कुछ व्यावहारिक कारण थे जो इस तरह की जांचों में भाग लेना संभव नहीं था।

लेकिन उसके बाद से कुछ विशिष्ट क्रियाओं की प्रकृति की वैज्ञानिक जांचों के लिए मैं सहमत हुआ था। इनमें पहली जांच की गई थी डा. हर्बर्ट बेन्सन द्वारा जो आजकल अमेरिका के हारवर्ड मेडिकल स्कूल में डिपार्टमेंट आफ बिहेवियरल मेडिसिन के अध्यक्ष हैं। जब मेरी 1979 की यात्रा के दौरान हम मिले तो उन्होंने बताया था कि वह 'रिलेक्सेशन रिस्पांस' नामक क्रिया का विश्लेषण कर रहे हैं। यह शारीरिक क्रिया तब होती है जब कोई व्यक्ति साधनावस्था में जाता है। उन्होंने महसूस किया कि यदि वह उन्नत दर्जे के साधकों पर प्रयोग कर पाए तो इससे प्रक्रिया की ज्यादा समझ मिल सकेगी।

आज़ाद शरणार्थी

आधुनिक विज्ञान के महत्व में विश्वास होने के नाते मैंने उन्हें प्रयोग करने

को कह दिया हालांकि मैं थोड़ा हिचकिचा रहा था। कुछ तिब्बती इस बात से परेशान थे। वे महसूस कर रहे थे कि ऐसी क्रियाएं गुप्त रखनी चाहिएं क्योंकि उनका उद्गम गोपनीय विचारधाराओं से हैं। इस सोच को काटते हुए मैंने संभावना व्यक्त की थी कि इन जांचों से शायद न केवल विज्ञान का ही भला होगा बल्कि साधकों का भी। और इस तरह सारी मानवता का भला हो सकता है।

इस प्रयोग में डा. बेनसन संतुष्ट थे कि उन्हें कुछ अतिविशिष्ट नजर आया (उनकी खोजें बाद में कई पुस्तकों और 'नेचर' समेत कई पत्रिकाओं में छपी थीं) वह भारत में अपने साथ दो सहायक व कई सूक्ष्म उपकरण लाये थे और धर्मशाला के निकट भिक्षुओं के आवास में उत्तर में, लद्दाख तथा सिक्किम में कई भिक्षुओं पर उन्होंने प्रयोग किए।

प्रयुक्त भिक्षु तुम-मो योग के साधक थे, जो तान्त्रित विद्याओं में प्रवीणता के प्रदर्शन के लिए बनाये गये थे। चक्र (उर्जा केन्द्र) तथा नाड़ी (उर्जा चैनल) पर साधना करके साधक चेतना के स्थूल स्तरों की गतिविधियों पर नियन्त्रण व अस्थाई रूप से रोक लगा सकता है और इस प्रकार सूक्ष्म स्तरों को अनुभव कर सकता है। बौद्ध विचारों के अनुसार चेतना के कई स्तर हैं। स्थूल का संबंध बोध से है स्पर्श, दृष्टि और गन्ध इत्यादि से जबकि सूक्ष्म स्तरों को मृत्यु के समय महसूस किया जा सकता है। 'तन्त्र' का एक उद्देश्य साधक को मृत्यु का 'अनुभव' कराना है क्योंकि तभी तो अति शक्तिशाली आध्यात्मिक बोध हो सकता है।

जब चेतना के स्थूल स्तरों का दमन किया जाता है तो शारीरिक प्रक्रियाएं देखी जा सकती हैं। डा. बेनसन के प्रयोगों में शरीर का तापमान बढ़ना (भीतर से गुदा में तथा बाहर चमड़ी के थर्मामीटर से मापा गया) शामिल था जो 18 डिग्री फारेनहाईट (10 डिग्री सेन्टीग्रेड) तक बढ़ा। हालांकि बाहरी तापमान जमाव से भी काफी नीचा था तो भी ठण्डे पानी में भिगोकर सन्यासियों के चारों तरफ लपेटी गई चादर भी उनके तापमान में वृद्धि से सूख गई। डा. बेनसन गवाह थे, उन्होंने बर्फ पर नंगे बैठे भिक्षुओं से भी यह प्रयोग करके देखा। उन्होंने पाया कि वे भिक्षु शरीर के तापमान में गिरावट के बिना रातभर स्थिर बैठ सकते हैं। उन्होंने इन प्रयोगों के दौरान यह भी देखा कि साधकों द्वारा सांस लेना भी सात सांस प्रति मिनट

कम हो गया था।

मानव शरीर और इसकी कार्य-विधि का हमारा ज्ञान इतना पर्याप्त नहीं जो व्याख्या की जा सके कि क्या हुआ होगा। डा. बेनसन का विश्वास है कि उनमें शामिल कुछ मानसिक प्रक्रियाएं साधक को अपने शरीर में जमा वसा को खर्च करने योग्य बना सकती हैं- यह प्रक्रिया पहले सर्दियों में निश्चल हो जाने वाले जानवरों तक ही सीमित मानी जाती थी। बात चाहे कुछ भी हो मगर मेरी रुचि तो इस बात में है कि कुछ चीजें ऐसी भी हैं जिनके बारे में आधुनिक विज्ञान

हम तिब्बतियों से सीख सकता है। ज्यादा क्या प्रशंसा करूं, मेरा विश्वास है कि हमारे अनुभवों के कई अन्य क्षेत्र और भी हैं जिनके फायदे के लिए जांच की जा सकती है। उदाहरण के लिए मुझे उम्मीद है कि किसी दिन भविष्यवेत्ताओं पर भी खोज हो सकेगी जो हम तिब्बतियों की जिन्दगी के तौर-तरीकों का एक महत्वपूर्ण अंग बना हुआ है।

लेकिन भविष्यवेत्ताओं के बारे में विस्तार से बताने से पहले इस बात पर जोर दूंगा कि इनका उद्देश्य, आम ख्याल के अनुसार सिर्फ भविष्य बताना ही नहीं है। यह तो उनके कामका सिर्फ एक हिस्सा है। इनके अतिरिक्त वे रक्षक के रूप में तथा कुछ मामलों में घाव भरने वाले के रूप में भी काम करते हैं। लेकिन उनका मुख्य कार्य लोगों को धर्म के पालन में सहायता देना है। एक बात और जो ध्यान रखने की है वह यह कि भविष्यवेत्ता शब्द खुद में ही भ्रामक है। इसका भाव यह हुआ कि इन लोगों के पास भविष्यकथन की शक्तियां हैं मगर यह सही नहीं। तिब्बती प्रथाओं में कुछ ही आदमी व औरतें ऐसे हैं जो लौकिक व अलौकिक के बीच माध्यम का काम करते हैं। उनके लिए नाम है 'कुटेन' जिसका अर्थ हुआ "भौतिक आधार"। मैं यह भी बताना चाहूंगा कि भविष्य वेत्ताओं के बारे में ऐसी बातें कहीं जाती हैं मानो वे आदमी हों। उन्हे ज्यादा सही 'आत्माएं' कहा जा सकता है जो किसी विशेष चीज आदमी या जगह से जुड़ी हों (उदाहरण

के लिए बुत से)। लेकिन इसका भाव यह भी नहीं लेना चाहिए कि उनका बाह्य स्वतंत्र अस्तित्व है।

प्राचीनकाल में तिब्बत भर में हजारों भविष्यवेत्ता रहे होंगे। बहुत कम बचे। मगर सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण जिन्हें तिब्बती सरकार प्रयोग करती हैं अभी भी हैं। इनमें से मुख्य को नेचुंग ओझा कहा जाता है। उसके माध्यम से दलाई लामा के संरक्षक आराध्यों में एक दोर्जी द्राक्देन प्रकट होते हैं।

नेचुंग मूलतः तिब्बत में भारतीय मुनि धर्मपाल के वंशज के साथ आए और मध्य एशिया के बाटा होर नामक जगह पर बसे। आठवीं सदी में राजा त्रिसोंग देस्तेन के शासन में भारतीय तान्त्रिक स्वामी व तिब्बत के सर्वोच्च आध्यात्मिक संरक्षक पदमसंभव ने उसे साम्ये मठ का रक्षक नियुक्त किया। (साम्ये असल में तिब्बत में बना पहला बौद्ध मठ था और इसकी स्थापना एक और भारतीय विद्वान संत शांतिरक्षित द्वारा की गई थी) अन्ततः दूसरे दलाई लामा ने नेचुंग, जो अब तक ड्रेपुंग मठ के साथ जुड़ गया था, के साथ निकट संबंध बना लिए और उसके बाद से दोर्जी द्राक्देन को क्रमिक दलाई लामाओं का व्यक्तिगत रक्षक नियुक्त किया गया।

नव वर्ष उत्सवों के दौरान नेचुंग ओझा से परामर्श लेना दलाई लामा व सरकार के लिए कई सैकड़ों वर्षों से प्रथा बना हुई है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट सलाह लेनी हो तो उसे अन्य मौकों पर भी बुलाया जा सकता है। यह बीसवीं सदी के पाठकों के लिए दूर की कौड़ी लग सकता है। यहां तक कि कुछ तिब्बती जो अपने आप को 'प्रगतिशील' समझते हैं, वे भी मेरे भविष्यवेत्ता से परामर्श लेने

को सन्देह की नजर से देखते हैं। लेकिन मैं ऐसा इसलिए करता हूं कि अतीत में मैंने कई बार उनसे प्रश्न पूछे हैं और हर बार उसका उत्तर उचित पाया है। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि मैं सिर्फ उन्हीं की सलाह पर ही निर्भर रहता हूं। ऐसी बात नहीं। मैं उनसे उसी तरह राय लेता हूं जिस तरह काशाग की या अपनी अन्त प्रेरणा की राय लेता हूं। मैं देवताओं को अपना

'ऊपरी सदन' मानता हूं। काशाग मेरा निचला सदन है। राज्य के मामलों पर निर्णय लेने से पहले अन्य किसी नेता की तरह दोनों सदनों से परामर्श लेता हूं। और कभी-कभार नेचुंग के परामर्श के साथ-साथ में कुछ भविष्यवाणियों को भी ध्यान में रखता हूं।

यद्यपि दोनों विभिन्न तरीकों से काम करते हैं तो भी एक तरह से नेचुंग व दलाई लामा की तिब्बत के प्रति समान जिम्मेवारी होती है। मेरे नेतृत्व का काम शान्तिपूर्ण है। उसका रक्षक व संरक्षक की क्षमता का काम क्रोधपूर्ण। लेकिन हमारे कार्य समान होने के बावजूद मेरा व उसका संबंध कमाण्डर व लेफ्टिनेंट का है। मैं उसके सामने कभी नहीं झुकता। नेचुंग दलाई लामा के सामने झुकते हैं। फिर भी हम काफी करीब हैं, दोस्तों जैसे। जब मैं छोटा था तो यह बड़ा मर्मस्पर्शी होता। नेचुंग मुझे खूब चाहता और मेरा ध्यान रखता। उदाहरण के लिए यदि वह देखता कि मैंने कपड़े बेध्यानी से या 'लापरवाही से पहने हैं तो वह आकर मेरी कमीज, चोगे इत्यादि को ठीक करता।

लेकिन इस तरह के लाड़ के बावजूद नेचुंग हमेशा मुझे आदर देता रहा। चाहे सरकार के साथ उसके संबंध बिगड़ गए हों, जैसे कि राजप्रतिनिधि के पिछले कुछ सालों के दौरान बिगड़ गए थे तो भी मेरे बारे में पूछे जाने पर उत्साहपूर्वक अवश्यम्भावी जवाब देता। साथ ही सरकार की नीति के बारे में प्रश्नों पर वह परेशान कर डालने वाले जवाब भी दे सकता है। कई बार वह सिर्फ व्यंग्यपूर्ण हंसी का ठहाका लगा देगा। मैं जब चौदह साल का था तब हुआ एक वाकया मुझे यांद आ रहा है। नेचुंग से चीन के बारे में एक प्रश्न पूछा गया। सीधा जवाब देने के बजाए, कुटेन पूर्व की तरफ मुड़ा और आगे की तरफ तेजी से झुकना शुरू कर दिया। देखकर डर लग रहा था क्योंकि उसके सिर पर रखा वजनी मुकुट और उसकी तेजी से हिलती गर्दन के कारण उसकी गर्दन टूट सकती थी। उसने इस तरह पन्द्रह बार किया होगा और किसी को शक न रहा कि खतरा कहां है।

नेचुंग से निबटना आसान नहीं है। उसके जुबान खोलने से पहले काफी वक्त और धैर्य चाहिए। वह बहुत कम तथा कर्कश बोलता है जैसे पुराने जमाने के दादे-परदादे बोलते हों। छोटे-मोटे मामलों के लिए वहां जगह नहीं है। वहां आप बड़े मामलों पर ही प्रश्न पूछिए और प्रश्न ढंग से

कीजिए। वह कुछ चीजों को पसंद या नापसंद भी करता है। मगर आसानी से इन्हें बताता नहीं।

धर्मशाला में नेचुंग का अपना मठ है। मगर वह अक्सर मेरे पास आ जाता है। औपचारिक मौकों पर उसका भारी भरकम वेश होता है। सुनहरी रेशमी किनारी का सजावटी वस्त्र जिसमें कई तहें होती हैं और यह ढका होता है लाल और

नीले तथा हरे और पीले रंग के पुरानी डिजाइनों से। छाती पर गोलाकर दर्पण पहने होता है जो वैदूर्यमणि व नील मणियों से घिरा होता है तथा दर्पण जैसे चमकीले स्टील पर दोर्जी द्राक्देन के मंत्र। कार्यवाही शुरू करने से पहले वह एक तरह का साज पहन लेता है जिस पर चार झण्डे तथा तीन विजय पताका होती हैं। कुल मिलाकर सारा भार कोई सत्तर पौण्ड से ज्यादा हो जाता है और वह यदि मूर्च्छा में न आया हो तो इस वजन के साथ बड़ी मुश्किल से चल पाए।

समारोह शुरू होता है सींगो, झांझ मंजीरे व ढोल बजाने के साथ प्रार्थना व आहवान बोले जाने से। कुछ देर बाद वह मूर्च्छावस्था में पहुंच जाता है। जिसे अब तक सहायक ने सहारा दिया होता है, अब वह मेरे सिंहासन के सामने एक छोटे स्टूल पर चढ़ा दिया जाता है। प्रार्थना का पहला चक्र पूरा होने पर दूसरा शुरू होता है और मूर्च्छावस्था गहरी हो जाती है। अब इस मौके पर एक बड़ा मुकुट उसके सिर पर रख दिया जाता है। इसका भार तीस पौण्ड के लगभग होता है। कभी पुराने समय में यही अस्सी पौण्ड से ज्यादा भरी होता था।

अब कुटेन का चेहरा ही बदल जाता है और फूले गाल तथा बाहर को निकली आंखों से वह बड़ा अजीब नजर आता है। वह जल्दी-जल्दी सांस लेना तथा जोर से फुंकारना शुरू कर देता है। फिर पल भर को, उसका श्वसन बन्द हो जाता है। इसी वक्त मुकुट इतना कसकर बांध दिया जाता

है कि यदि सचमुच ही वहां कुछ न घट रहा हो तो उसकी गर्दन घुट जाये। अब सारा साज बाज पूरा हो जाता है और उसका नश्वर चौखटा फैलता साफ दिखाई देता है।

इसके बाद वह झटके से आगे झपटकर सहायक से समारोही तलवार पकड़ता है और धीमे, शानो-शौकत वाले मगर कुछ अटपटे ढंग से नाचना शुरू कर देता है। फिर वह मेरे सामने आकर या तो दण्डवत होता है या कमर से इतना झुकता है कि मुकुट जमीन को छूने लगे। और हां, इस वक्त उसके मुकुट का भार उसे बिल्कुल महसूस नहीं होता। लेकिन आराध्य का भार भविष्यवेत्ता से बड़ी मुश्किल से संभल रहा होता है तथा वह रबड़ के बबुए की तरह हिलता है। हावभाव यूं होते हैं मानों काफी शक्ति का स्प्रिंग उसे चला रहा हो।

इसके बाद नेचुंग व मेरे बीच शब्दों का आदान-प्रदान होता है जिसमें वह पूजा का चढ़ावा अर्पण करता है। तब मुझे जो भी व्यक्तिगत प्रश्न पूछने हों, पूछ लेता हूं। जवाब देकर वह स्टूल पर वापस चला जाता है और सरकार के सदस्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों को सुनता है। इनका जवाब देने से पहले तलवार को अपने सिर पर घुमाता हुआ कुटेन पुनः नाचना शुरू कर देता है। इस समय वह पुराने जमाने का भयानक तिब्बती योद्धा सरदार सा दिखाई देता है।

जैसे ही दोर्जी द्राक्देन बोलना खत्म करता है, कुटेन आखिरी अर्पण करता है और निर्जीव व निढाल होकर जमीन पर गिर पड़ता है जिसका अर्थ है दोर्जी जा चुके हैं। उसका सहायक भागकर मुकुट खोलता है और उसे वापस होश में लाता है। समारोह चलता रहता है।

यह भी अजीब लग सकता है कि कई बार उसके जवाब बहुत ज्यादा अस्पष्ट होते हैं।

आज़ाद शरणार्थी

जैसे मेरे ल्हासा से पलायन के वक्त जवाब बड़ा विशिष्ट हो सकता है।

लेकिन मेरा ख्याल है कोई वैज्ञानिक जांच उसकी घोषणा की वैधता से सहमत या असहमत नहीं हो सकती। यही बात तिब्बती अनुभवों के कुछ अन्य क्षेत्रों के लिए भी सच है। मसलन तुल्कू का अवतार ढूंढने का मामला। तो भी मुझे उम्मीद है कि किसी न किसी दिन इन दोनों मसलों की कुछ जांच की जा सकेगी।

असल में तुल्कू को पहचानने की प्रक्रिया बहुत ही तार्किक है। यह बात अलग है कि ऐसा लगता नहीं। बौद्ध विश्वास है कि पुनर्जन्म सच्चाई है। यह भी मान लें कि पुनर्भवतार का उद्देश्य सभी चेतन जीवों के कष्टों को दूर करने की कोशिश है, तो साफ हो जाना चाहिए कि हम किसी व्यक्ति को खोज सकते हैं। इससे उन्हें शिक्षित करने तथा दुनिया में स्थापित करने का मौका मिलता है ताकि वे यथाशीघ्र अपना भलाई का काम जारी रख सकें।

पहचानने की प्रक्रिया में कुछ भूलें हो सकती हैं मगर अधिकतर तुल्कुओं (अब ये कुछ सैंकड़ा ही होंगे जबकि चीनी हमले से पहले तिब्बत में शायद कुछ हजार रहे होंगे) की जिंदगी इस व्यवस्था के प्रभाव की सही पुष्टि है।

पहले कह चुका हूं कि पुनर्भवतार का कुल उद्देश्य किसी व्यक्ति के काम को आगे बढ़ाना है। इस बात का प्रभाव तब और भी बढ़ जाता है जब किसी विशेष व्यक्ति का अगला अवतार खोजने की बात आती है। उदाहरण के लिए मैं यूं तो सभी जीवों की सहायता करने की कोशिश करता हूं मगर विशेष तौर पर कोशिश मेरे तिब्बती भाईयों की सहायता की रहती है। इसलिए तिब्बतियों के आजादी हासिल करने से पहले यदि मैं स्वर्गवासी हो जाऊं तो यह मान लेना बड़ा तर्कपूर्ण रहेगा कि मैं तिब्बत के बाहर ही दोबारा जन्म लूंगा। हां, यह हो सकता है कि तब मेरी जनता के लिए दलाई लामा की जरूरत न हो तो वे दलाई लामा खोजने की जहमत ही न उठाए। इसलिए मैं किसी कीट पतंगे या जानवर के रूप में भी जन्म ले सकता हूं जिससे अधिकतर संख्या में जीवों का फायदा हो।

यह एक पहचानने की प्रक्रिया भी उतनी रहस्यमयी नहीं है जितनी सोची जाती है। इसमें संभावनाएं घटाई जाती हैं। माना हम किसी विशेष भिक्षु का पुनर्भवतार खोज रहे हैं। पहले यह देखा जाता है वह कब और कहां मरा। तब यह समझकर कि उसका नया अवतार एक या दो साल में मृत्यु

के बाद जन्म लेगा या दो साल का समय अनुभव से पता चलता है उसके बाद एक समय सारिणी बना ली जाती है। पुनर्भवतार लगभग अठारह महीने या संभवतया दो वर्ष बाद जन्मेगा। यानि पिछले भिक्षु की मृत्यु के पांच साल बाद बच्चा तीन या चार साल के बीच होना चाहिए अतः इस प्रकार खोजने का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

अब यह देखना है कि वह जन्म किस जगह लेगा। यह बड़ा आसान है। क्या तिब्बत में ही होगा या बाहर? यदि बाहर तब तो बड़े ही सीमित स्थान हैं यानि भारत, नेपाल या स्विट्जरलैण्ड इत्यादि के तिब्बती समुदाय में खोजा जा सकता है। अब यह देखना है कि कौन सा शहर? इसका अनुमान पिछले अवतार की जिन्दगी से लगाया जाता है।

इस प्रकार जो गुण और चयन आधार मैंने बताये हैं इनके बाद अगला काम रहता है एक खोजी दल बनाना। इसका मतलब यह नहीं है कि लोगों का एक दल उस तरह जाता है जैसे खजाना ढूंढने जा रहा हो। अक्सर इतने से ही बात बन जाती है कि समुदाय के भीतर लोगों को कह दिया जाये कि तीन और चार साल के ऐसे बच्चे का पता लगायें जो उम्मीदवार सा दिखता हो। अक्सर सहायक संकेत मिल ही जाते हैं। मसलन, बच्चे के जन्म के समय कोई दैवी घटना होना या बच्चे में कोई अतिसाधारण गुण होना।

इस दौर में कई बार दो या तीन या इससे भी ज्यादा संभावनाएं हो सकती हैं। कई बार खोजी दल बनाने की जरूरत ही नहीं पड़ती अगर पहले वाला अवतार अपने आने वाले अवतार व उसके मां-बाप का नाम लिख जाए। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता है। कई बार भिक्षु के अनुयायियों को स्पष्ट स्वप्न आता है या कल्पना में दिख जाता है कि अवतार कहां ढूंढा जाये। पिछले दिनों एक उच्च लामा ने निर्देश दिया कि उसके पुनर्जन्म की खोज न की जाये। उसने कहा कि उसकी सही पहचान के चक्कर में पड़ने के बजाए उस व्यक्ति को ही उसका उत्तराधिकारी स्थापित कर दिया जाये जो बौद्ध धर्म व उसके समुदाय की बेहतर सेवा करता लगे। कोई पक्के

लोहे की लकीर जैसे नियम नहीं होते।

यदि कई बच्चे उम्मीदवार दिखते हों तो पिछले अवतार का सुपरिचित व्यक्ति अंतिम परीक्षा लेता है। यदि कोई बच्चा उसे पहचान ले तो इसे पक्का सबूत माना जाता है। मगर कई बार शरीर के चिन्हों पर भी विचार किया जाता है।

कई मामलों में भविष्यवेत्ता या ऐसे व्यक्ति से भी परामर्श लिया जाता है जिसमें गोन-शे यानि आन्तरिक बल से दूर की घटना देखने की शक्ति हो। ये लोग एक 'टा' नामक तरीका प्रयोग करते हैं। यानि शीशे में वास्तविक बच्चा दिख सकता है या कोई भवन या बच्चे का नाम भी हो सकता है। मैं इसे "प्राचीन टी.वी." कहता हूं। यह उस अनुभूति के समतुल्य है जो मेरी खोज के समय रेलिंग रिंपोछे को हुई थी। जब मेरी खोज शुरू हुई थी तो ल्हामोई ल्हात्सो झील में रेलिंग रिंपोंछे ने अक्षर अ, क, म तथा मठ का घर का नजारा देखा था।

यदा-कदा मुझे भी अवतार की खोज में निर्देश के लिए बुलाया जाता है। इन हालतों में अन्तिम फैसला लेने की जिम्मेवारी मेरी होती है कि उम्मीदवार का चयन सही है या नहीं। यहां मैं बता दूं कि मेरे पास आंतरिक बल से दूर की घटना देखने की कोई शक्ति नहीं है। ऐसी शक्ति विकसित करने का न समय है न अवसर। मेरे पास विश्वास करने का कारण है कि तेरहवें दलाई लामा के पास इस क्षेत्र में कुछ योग्यता थी।

मैं यह कैसे करता हूं इसके लिए मैं अपने वरिष्ठ शिक्षक लिंग रिंपोछे की कहानी बताता हूं। लिंग रिंपोछे के प्रति मेरे मन में हमेशा ही सम्मान रहा है और जब मैं बच्चा था तो उनके नौकर को देखते ही डर जाता था उनके कदमों की सुपरिचित आवाज सुनता तो मेरे दिल की धड़कन डूबने लग और जब कभी जाती।

लेकिन धीरे-धीरे यह भय सम्मान और दोस्ती में बदलता चला गया। जब

थोड़ा वक्त पहले वह नहीं रहे तो मुझे लगा कि उनके बिना जी पाना बड़ा मुश्किल होगा। वह ऐसी चट्टान बन गए थे जिस पर मैं पांव जमाए खड़ा था।

1983 की गर्मियों के आखिर में जिन दिनों मैं स्विट्जरलैण्ड में था, मैंने उनकी आखरी बीमारी की बात सुनी थी कि उन्हें आघात लगा था और लकवा मार गया। इस खबर ने मुझे खूब परेशान रखा। तो भी बौद्ध होने के नाते मैं जानता हूं कि चिन्ता से कोई फायदा नहीं। यथाशीघ्र मैं धर्मशाला भागा जहां मैंने उन्हें बहत बुरी शारीरिक दशा में पाया। भला हो उनकी उम्र भर के सख्त मानसिक प्रशिक्षण का जो उनका दिमाग अब भी उतना ही कुशाग्र था। अचानक मृत्यु से पहले उनकी हालत कई महीनों तक नियंत्रण में रही। अंत में वे नीम बेहोशी में थे जिससे वह कभी उभर नहीं पाये और 25 दिसंबर 1983 को वे चल बसे। लेकिन यदि उनके असाधारण व्यक्ति होने का सबूत चाहिए तो बता दूं कि उन्हें मृत घोषित करने के तेरह दिन बाद तक, गर्म वातावरण होने के बावजूद उनका शव अक्षत रहा। ऐसा लगता था मानो उनकी जान बाकी हो जबकि डाक्टर उन्हें मृत घोषित कर ही चुके थे।

जब मैं उनके स्वर्गवासी होने के तरीके के बारे में सोचता हूं कि लिंग रिंपोछे ने अपनी बीमारी लंबे समय तक क्यों खींचे रखी? जानबूझकर ताकि मुझे उनके बिना जीना आ जाये। लेकिन, यह भी आधी कहानी ही है। क्योंकि बात तिब्बतियों की है तो कहानी खत्म होती ही नहीं। लिंग रिंपोछे का पुनर्भवतार खोज लिया गया है और वह तीन साल का तेज और शरारती बच्चा है। उसकी खोज के वक्त उसने खोजी दल के एक सदस्य को साफ तौर पर पहचान लिया था। सिर्फ अठारह महीने का था वह, तो भी उसने सदस्य को नाम से पुकारा तथा मुस्कुराता हुआ उसके पास चला गया। उसके बाद उसने अपने पूर्वाधिकारी की बहुत सी चीजें पहचान लीं।

जब मैं पहली बार इस बच्चे से मिला तो मुझे इसकी पहचान में कोई शक न रहा। वह इस तरह व्यवहार कर रहा था मानो मुझे पहचानता हो और साथ ही उसने मेरे प्रति आदर प्रकट किया। उस वक्त मैंने इस छोटे लिंग रिंनपोछे को एक बड़ी सी चाकलेट दी। वह हाथ बढ़ाए इसे थामे रहा और

जितनी देर मेरे पास रहा, सिर झुकाए रहा। कोई और बच्चा इतनी देर बिना चखे चाकलेट रखे और यूं औपचारिकता से खड़ा रहे, मैं तो ऐसा नहीं सोच सकता। जब मैं उससे अपने घर मिला और उसे दरवाजे पर लाया गया तो उसने वही किया जो रिंपोछे करते थे। साफ था कि उसे अपना रास्ता याद था। और फिर जब वह मेरे अध्ययन कक्ष में आया तो उसने मेरे एक अनुचर से भी जान पहचान दिखाई जो उस वक्त टूटी टांग से उबर रहा था। अनुचर को इस छोटे रिंपोछे ने पहले तो गंभीरता से एक खाताग दिया और फिर हंसते खिलखिलाते हुए उसने उसकी एक बैसाखी उठाई और यूं दौड़ने फांदने लगा मानो यह ध्वज का डण्डा हो।

इसी बच्चे की एक और प्रभावशाली कहानी सुनिए। मुझे बोधगया में उपदेश देना था

और इस बच्चे को दो वर्ष की उम्र में ले जाया गया था। बिना किसी से पूछे यह घुटनों के बल लुढ़कता सीढ़ियां चढ़कर मेरे बैडरूम में गया और मेरे बिस्तर पर खाताग रख दिया। आज यह लिंग रिंपोछे ग्रन्थोच्चार करता है। बस यह देखना बाकी है कि पढ़ना लिखना सीख जाने पर यह उन छोटे तुल्कुओं की तरह आश्चर्यजनक गति से ग्रन्थ याद कर सकता है या नहीं, जिस तरह ये छोटे तुल्कु कर लेते हैं। मानो जहां से पहले पढ़ना छोड़ा था, वहीं से शुरू कर रहे हों। मैं ऐसे कई छोटे बच्चों को जानता हूं जिन्हें ग्रंथों के कई पन्ने आसानी से याद थे।

पुनर्भवतार खोजने की प्रक्रिया में यकीनन ही रहस्य का कुछ तत्व है। मगर बौद्ध होने के नाते इतना कहना ही पर्याप्त है कि माओ या लिंकन या चर्चिल जैसे व्यक्ति सिर्फ 'यूं ही' नहीं हो जाते।

तिब्बती अनुभवों का एक क्षेत्र और भी है तिब्बती चिकित्सा प्रणाली का जिसकी मैं चाहता हूं कि वैज्ञानिक जांच हो। यद्यपि यह प्रणाली कोई दो हजार वर्ष पुरानी है और यह प्राचीन फारस समेत कई स्त्रोतों से निकली

है। मगर आज इसके सिद्धान्त पूरी तरह बौद्ध हैं। इस वजह से इसकी रंगत पश्चिमी चिकित्सा से बिल्कुल भिन्न है। उदाहरण के लिए यह हर बीमारी की जड़ अज्ञान, तृष्णा या नफरत को मानता है।

तिब्बती चिकित्सा के अनुसार शरीर पर तीन नोपा का प्रभाव होता है। नोपा का अर्थ 'नुक्सान पहुंचाने वाला' है। मगर इसका अंग्रेजी अनुवाद अक्सर हयूमर्स' (हास्य) किया जाता रहा है। नोपा को हर वक्त शरीर में उपस्थित माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि शरीर कभी बीमारियों से या बीमारी होने की संभावना से मुक्त नहीं रहता। इनका सन्तुलन बना रहने से शरीर स्वस्थ रहता है। लेकिन किसी गड़बड़ से इन तीनों जड़ों में से कोई एक प्रकट हो जाती है जिसे मरीज की नाड़ी या मूत्र जांच से पता लगा लिया जाता है। कुल मिलाकर कलाई और छाती पर बारह मुख्य बिन्दु होते हैं, जहां धड़कन परीक्षण की जाती है। इसी प्रकार मूत्र की भी विभिन्न तरीकों से (रंग व गन्ध इत्यादि की जांच की जाती है।

रही इलाज की बात तो पहला काम व्यवहार व भोजन से जुड़ा है। दूसरा नम्बर दवाईयों का, एक्यूपंचर तथा मॉक्सीबुस्शन (सेंकने का विशिष्ट इलाज) का, तीसरा और चौथा सर्जरी का इत्यादि। दवाईयां भी जैविक पदार्थों से बनती हैं जिनमें यदा-कदा धातुओं के आक्साईड तथा खनिज (उदाहरण के लिए पिसा हुआ हीरा) मिलाए जाते हैं।

अब तक तिब्बती चिकित्सा प्रणाली की बहुत कम आधुनिक डाक्टरी जांच हो पाई है। लेकिन मेरे भूतपूर्व चिकित्सक डा. येशे धोंदेन ने अमेरिका की यूनिवर्सिटी ऑफ वर्जीनिया की प्रयोगशाला के विभिन्न प्रयोगों में भाग लिया था। मैं समझता हूं कि उन्होंने सफेद चूहे के कैंसेर के इलाज में कुछ आश्चर्यजनक अच्छे परिणाम दिखाए थे। मगर किसी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले भी काफी काम किए जाने की जरूरत है। इस बीच में अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर

इतना ही कह सकता हूं कि मुझे तिब्बती चिकित्सा बहुत प्रभावी लगी। मैं

इन दवाओं को लगातार लेता हूं। इलाज के लिए ही नहीं बल्कि बीमारी से बचे रहने को भी। मैंने पाया है कि इनसे शरीर मजबूत होता है जबकि दुष्प्रभाव नगण्य ही होते हैं परिणाम यह है कि साधना के मेरे लंबे और सघन दिनों के बावजूद मैंने कभी थकान नहीं महसूस की।

एक और क्षेत्र जिसमें आधुनिक विज्ञान व तिब्बती संस्कृति के बीच तालमेल की संभावना है वह प्रायोगिक जानकारी के बजाए सैद्धान्तिक ज्ञान है। कणिक भौतिकी (पार्टिकल फिज़िक्स) की कुछ आधुनिक खोजें मस्तिष्क तथा पदार्थ की अद्वैत अवस्था की तरफ संकेत करती प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए यह पाया गया है कि यदि निर्वात को दबाया (संघनित किया) जाये तो कहीं से कण प्रकट हो जाते हैं यानि पदार्थ कहीं अन्तर्वर्ती था। इन खोजों से विज्ञान तथा बौद्ध मध् यमिका के शून्यता सिद्धान्त के बीच कोई रास्ता खुलेगा। यह सिद्धान्त मानता है कि मस्तिष्क तथा पदार्थ अलग-अलग मगर परस्पर निर्भर हैं।

मैं आध्यात्मिक विश्वासों को वैज्ञानिक व्यवस्था पर लागू करने की कोशिशों के खतरे से अवगत हूं। क्योंकि बौद्धवाद जहां जन्म के बाद से 2,500 वर्षों से बना हुआ है, वहीं विज्ञान की पूर्णता की अपेक्षाकृत संक्षिप्त अवधि की प्रवृति बनी हुई है। मैं यह नहीं कहता कि भविष्यवेत्ता इत्यादि चीजें तथा जमाव वाली ठंड की परिस्थितियों में भी भिक्षुओं का बर्फ पर रात बिताना जादुई शक्तियों का प्रमाण है। फिर भी मैं अपने चीनी भाई बन्धुओं से सहमत नहीं हो सकता जो इन घटनाओं में हमारे विश्वास को पिछड़ेपन तथा जंगलीपन का सबूत मानते हैं। अतिकठोर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह नजरिया कोई सही नजरिया नहीं है।

और फिर यह बात भी तो है कि यदि किसी सिद्धान्त को मान लिया जाए तो इसका मतलब यह नहीं है कि उससे जुड़ी हर वस्तु वैध है। इस तुलना में ऐसे स्पष्ट प्रमाण मिलने के बाद भी कि साम्यवाद अपूर्ण व्यवस्था है आंखें मूंद कर बिना सोचे विचारे, मार्क्स या लेनिन की कही हर बात को मान लेना भी हास्यास्पद होगा। जिन क्षेत्रों का हमें ज्ञान नहीं है उनमें जांच के वक्त अति सावधानी की जरूरत होगी। यहां विज्ञान काम आ सकता है। आखिर हम चीजों को तभी रहस्यमय कहते हैं जब हम उन्हें समझ न पाए।

अब तक मैंने जांच के जितने परिणाम बताए हैं, उनसे सभी पक्षों को फायदा हुआ है। लेकिन मैं समझता हूं कि ये उतने ही सही हैं जितने सही प्रयोग किए गए। और फिर मैं इस बात से भी अवगत हूं कि किसी चीज को न ढूंढ पाने का अर्थ यह नहीं है कि उसका अस्तित्व नहीं है। इससे तो बल्कि यही सिद्ध होता है कि प्रयोग से यह खोजा न जा सका (माना मेरी जेब में अधातु से बनी कोई वस्तु है और मेटल डिटेक्टर इसका पता न लगा पाये तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मेरी जेब खाली है) यही कारण है कि हमें अति सावधानी से खोज करनी होगी। खासकर उन क्षेत्रों में जिनमें वैज्ञानिक अनुभव थोड़ा है। प्रकृक्ति द्वारा लगाये गए बन्धनों को भी दिमाग में रखा जाना अति महत्वपूर्ण है।

उदाहरण के लिए जहां वैज्ञानिक जांच मेरे विचारों को नहीं पा सकती तो इसका मतलब यह नहीं कि इनका अस्तित्व नहीं है। न ही यह कि किसी और जांच विधि से उन्हें नहीं पाया जा सकता। यही बात तिब्बती अनुभवों के साथ है। मानसिक प्रशिक्षण से हम वे तकनीक विकसित कर पाये हैं जिनकी विज्ञान अभी सही ढंग से व्याख्या भी नहीं कर सकता। और यही तो इस तिब्बती बौद्धमत और "जादू के रहस्य" का आधार है।

-13-

वतन की खबर

1959 के शुरू में जब तनाव अन्तिम प्रलय के शिखर की ओर फिर चढ़ना शुरू हो गया तो मैंने चेयरमैन माओ को भेजे गए चीनी सेना के एक ज्ञापन के बारे में सुना। इसमें कहा गया था कि चीनी सेना की लगातार उपस्थिति से तिब्बती अप्रसन्न हैं और अवज्ञा इतनी फैल गई है कि सभी जेलें भर चुकी हैं। कहते है कि माओ ने उत्तर दिया था घबराओ मत। तिब्बतियों की भावनाओं की परवाह मत करो, वे बेमतलब हैं। रही अवज्ञा की बात, तो जरूरत पड़ने पर सारी जनता को जेल में ठूंसने के लिए अधिकारियों को तैयार रहना चाहिए। इसके लिए जगह बनानी पड़ेगी। मुझे याद पड़ता है कि मैं यह सुनकर सहम गया था। कितना भिन्न था यह उस जमाने से जब मैं ल्हासा के हर कैदी को पहचान सकता था और हरेक को अपना साथी समझता था।

जब मार्च के बलवे के बाद माओ को यह रिपोर्ट भेजी गई कि व्यवस्था बहाल कर दी गई है तो उस वक्त की एक कहानी भी सुन लीजिए। कहते हैं रिपोर्ट सुनकर उसने पूछा था "और दलाई लामा का क्या हुआ?" जब बताया गया कि मैं भाग निकला हूं तो उसने जवाब दिया था "तब तो हम बाजी हार गए।" इसके बाद से तो इस महारथी से संबंधित सभी खबरें मुझे अखबार पढ़कर मिलती रही हैं। सितम्बर 1976 में माओ की मृत्यु हो जाने तक न तो मेरा ही और न निर्वासन में तिब्बती सरकार का ही बीजिंग से कोई संबंध रहा।

माओ की मृत्यु के वक्त मैं जम्मू कश्मीर के दूरस्थ भारतीय इलाके लद्दाख में था, जहां मैं 'कालचक्र' संस्कार करा रहा था। तीन दिवसीय इस समारोह के दूसरे दिन माओ चल बसे। तीसरे दिन सारी सुबह बरसात होती रही। लेकिन दोपहर में इतना सुन्दर इन्द्रधनुष निकला, जैसा मैंने शायद ही कभी देखा हो। मुझे पक्का यकीन था कि यह शुभ शगुन है। लेकिन इस शुभ लक्षण के बावजूद भी मुझे बीजिंग में होने वाले नाटकीय

गति से परिवर्तनों की उम्मीद नहीं थी। इसके शीघ्र बाद ही माओ की पत्नी चियांग चिंग के नेतृत्व की 'चण्डाल चौकड़ी' को, गिरफ्तार कर लिया गया।

शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि ये वही लोग थे जो कई वर्षों से बीमार चेयरमैन के नाम पर दुष्टतापूर्ण नीतियों को लागू करने तथा सांस्कृतिक क्रान्ति के जारी रहने को समर्थन देते, प्रभावशाली ढंग से चीन पर शासन कर रहे थे।

तब 1977 में पीपुल्स रिपब्लिक आफ चाईना के तत्कालीन राष्ट्रपति ली जियानियान ने कहा बताते हैं कि 'सांस्कृतिक क्रान्ति' से यद्यपि हमें काफी कुछ हासिल हुआ है मगर साथ ही इसने कुछ नुकसान भी पहुंचाया है। यह पहला संकेत था कि चीनियों के नेतृत्व ने आखिर सच्चाई का सामना करना शुरू कर ही दिया। इसके बाद अप्रैल में न्गाबो नावांग जिग्मे ने जो पेइचिंग प्रशासन में अंब तक उच्च पद का सदस्य बन चुका था तिब्बत के बारे में मेल मिलाप वाले बयान में सार्वजनिक घोषणा की कि चीन दलाई लामा तथा उसके अनुयाइयों जो भारत भाग गए हैं उनके लौटने का स्वागत करेगा। 1960 के दशक के बाद से चीनी उन सभी को जो तिब्बत छोड़ गए थे यह कहकर बुला रहे थे कि उनका खुली बांहों से स्वागत किया जायेगा।

यह बयान लोगों को वापस लुभाने के लिए सघन प्रचार अभियान की शुरूआत बना। हमें "अब तिब्बत में अभूतपूर्व खुशियों" के बारे में बहुत कुछ सुनायी पड़ने लगा। उसके शीघ्र बाद माओ के पदेन उत्तराधिकारी हुआ गुओफेंग ने तिब्बती परंपाराओं की बहाली की बात की और बीस साल में पहली बार बुजुर्गो को जोखांग के मन्दिर की एक बार फिर परिक्रमा करने व राष्ट्रीय परिधान पहनने की अनुमति दी गई। सब कुछ बड़ा भला लग रहा था और लगा कि यही अन्तिम उम्मीदजनक संकेत नहीं सिद्ध होगा।

मुझे बहुत खुशी व हैरानी हुई जब 25 फरवरी 1978 को पंचेन लामा को कोई एक दशक बाद जेल से रिहा किया गया। और उसके शीघ्र बाद हू याओबांग ने, जो उस वक्त प्रबल था, राष्ट्रपति ली जियानियान की 'सांस्कृतिक-क्रान्ति' की घोषणा में संशोधन करते हुए कहा कि 'सांस्कृतिक क्रान्ति' पूरी तरह नकारात्मक अनुभव रहा है और इसने किसी भी तरह चीन का भला नहीं किया।

सह असाधारण परिवर्तन लग रहा था। लेकिन फिर भी मैंने महसूस किया कि यदि चीनियों का सचमुच ही हृदय-परिर्वतन हुआ है तो इसका सर्वोत्तम संकेत तिब्बत के प्रति असली खुलेपन से मिल जायेगा। इसलिए अपने 10 मार्च के वक्तव्य में जो तिब्बती जनता की राष्ट्रीय जनक्रांति की उन्नीसवीं वर्षगांठ पर दिया गया, मैंने चीनी अधिकारियों से कहा कि वे विदेशियों को बेरोकटोक तिब्बत में आने जाने दें। मैंने यह भी सुझाव दिया कि अधिकृत तिब्बत के तिब्बती परिवारों को निर्वासन में तिब्बतियों से मिलने दिया जाए। मैंने महसूस किया कि जैसा कहा जा रहा है वैसे साठ लाख तिब्बती यदि सचमुच ही हमेशा से ज्यादा प्रसन्न समृद्ध है तो हमें बहस की क्या जरूरत है। लेकिन हम मानेंगे तभी जब हमें स्वयं जाकर इन बयानों की सच्चाई जानने का मौका दिया जाये।

जब ऐसा लगा कि मेरे सुझावों पर ध्यान दिया जा रहा है तो मुझे हैरानी हुई।

आज़ाद शरणार्थी

क्योंकि ज्यादा समय नहीं बीता था कि पहले विदेशी यात्रियों को तिब्बत की यात्रा की अनुमति दी गई। इसके बाद बाहर रहने वाले तिब्बतियों को तिब्बत की यात्रा पर जाने और भीतर रहने वालों को बाहर जाकर तिब्बतियों से मिलने के प्रबन्ध कराये गए। मगर यात्राएं अप्रतिबन्धित अब भी नहीं थीं।

यह उथलपुथल चीन में उस वक्त हुई जब भारत में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। 1977 में इमरजेन्सी के बाद हुए चुनावों में श्रीमती इन्दिरा गांधी

हार गई थीं। उनकी जगह ली मोरारजी देसाई ने जिनकी जनता पार्टी ने आजादी के बाद पहली बार कांग्रेस पर सफलता पाई थी। ज्यादा समय नहीं बीता था कि इन्दिरा जी ने दोबारा सत्ता पा ली। इसी बीच मेरी मोरारजी देसाई से जान पहचान गहरी हुई, जिनसे मैं पहली बार 1956 में मिला था और उन्हें पहले ही जानता था, पसंद करता था।

इन पंक्तियों के लिखे जाने के वक्त तक वे सकुशल हैं यद्यपि बहुत बूढ़े हो चुके हैं और मैं उन्हें करीबी दोस्त मानता रहा हूं। वे अद्भुत चेहरेवाले असाधारण व्यक्ति हैं, जिन्दा दिल और चिन्ताओं से मुक्त। इसका मतलब यह नहीं कि उनमें दोष नहीं है। लेकिन महात्मा गांधी की तरह उनकी दिनचर्या बहुत कठोर है। वह पक्के शाकाहारी हैं और शराब, तम्बाकू को छूते तक नहीं। दूसरों से उनका व्यवहार भी बेलाग है। कभी मुझे हैरानी होती है कि कहीं वे ज्यादा ही बेलाग तो नहीं हैं। लेकिन यदि मेरी नजर में यह उनकी कमी है तो यह कमी तिब्बती जनता के प्रति उसकी मैत्री से पूरी भी हो जाती है। उन्होंने एक बार मुझे लिखा भी था कि भारतीय संस्कृति व तिब्बती संस्कृति एक ही बोधि वृक्ष की दो शाखाएं हैं। यह बिल्कुल सच है। मैं पहले स्पष्ट कर ही चुका हूं कि हमारे देशों के बीच संबंध बहुत गहरे हैं। कई भारतीय तिब्बत को धरती पर उतरा स्वर्ग मानते हैं। तिब्बत के दक्षिण में कैलाश पर्वतं तथा दक्षिणी-पश्चिम में मानसरोवर श्रद्धालु भारतीयों के तीर्थ स्थल हैं। इसी प्रकार हम तिब्बती लोग भारत को आर्यभूमि, ऋषियों का पवित्र देश मानते हैं।

1978 के अन्त में चीन में और भी उत्साहजनक परिवर्तन हुए जब देंग सियाओ-पिंग बीजिंग में प्रबल अधिकारी बनकर उभरे। ज्यादा उदारवादी धड़े के नेता के रूप में उनकी प्रबलता तिब्बत को असली उम्मीद दिखाती लग रही थी। मैं यह हमेशा महसूस करता रहा था कि देंग शायद एक दिन अपने देश के लिए महान काम करेगा। जब मैं 1954-55 के दौरान चीन में था तो उनसे कई बार मिला और प्रभावित हुआ था। हमारी लंबी वार्ताएं कभी नहीं हुई थीं मगर मैंने उनके बारे में काफी कुछ सुना था जैसे कि वे महान योग्यता वाले व्यक्ति हैं और संकल्पी तो हैं ही।

मुझे उनसे आखिरी बार मुलाकात की याद है जब मैंने उस छोटे से व्यक्ति को एक बड़ी आर्मचेयर में बैठे और आराम से मगर, विधिपूर्वक सन्तरे

छीलते देखा था। वह ज्यादा नहीं बोल रहे थे मगर स्पष्ट था कि कही हुई सब बातें सुन रहे थे। वे मुझे शक्तिशाली व्यक्ति लगे। अब ऐसा लग रहा था मानों

इन सभी गुणों के अतिरिक्त वे काफी बुद्धिमान व्यक्ति भी हैं। वह कुछेक उक्तियां भी छोड़ते जा रहे थे 'तथ्यों में से सच्चाई को जानना महत्वपूर्ण है" "जब तक बिल्ली चूहे पकड़ती है, तब तक क्या देखना कि यह काली है या सफेद," "जब आपका चेहरा भद्दा ही है, तो सुन्दर होने का दिखावा करने का क्या फायदा है"। इसके अतिरिक्त नीतियों के सम्बन्ध में वह राजनैतिक विचारधारा और खोखले नारों के बजाए अर्थव्यवस्था और शिक्षा इत्यादि पर ज्यादा चिन्तित नजर आये।

फिर नवम्बर 1978 में 34 कैदियों को जिनमें अधिकतर मेरे अपने प्रशासन के बड़े सदस्य थे, ल्हासा में बड़े समारोह में सार्वजनिक रूप से रिहा किया गया। इन्हें 'विद्राही नेताओं' में आखरी समझा जा रहा था। चीनी अखबार कह रहे थे कि नये तिब्बत' में महीना भर की यात्रा के बाद उनके लिए नौकरी ढूंढने में सहायता की जाएगी और यदि वे चाहेंगे तो बाहर जाने में भी सहायता की जाएगी।

नव वर्ष के आगमन से इन अतिविशिष्ट परिवर्तनों की लहर में कोई फर्क नहीं आया। एक जनवरी 1979 को जिस दिन चीन के पीपुल्स रिपब्लिक को अमेरिका ने औपचारिक रूप से मान्यता दी संयोगवश पंचेन लामा चौदह वर्ष बाद पहली बार अपने सार्वजनिक भाषण में दलाई लामा व उनके निर्वासित अनुयायियों को लौट आने की पुकार में सुर मिला बैठे। पंचेन लामा ने कहा "यदि दलाई लामा तिब्बती जनता की खुशी और भलाई में सच्ची रुचि रखते हैं तो उन्हें इस बारे में कोई शक नहीं होना चाहिए। मैं गारंटी देता हूं कि तिब्बत में तिब्बती लोगों के जीवन का वर्तमान स्तर 'पुराने समाज' से कई गुना बेहतर है।" एक सप्ताह बाद जब ल्हासा रेडियो ने बाहर के तिब्बतियों का स्वागत करने के लिए विशेष

स्वागत कमेटी के गठन की घोषणा की तो यही निमन्त्रण पुनः दोहराया गया।

इसके एक हफ्ता बाद ही ग्यालो थोन्डुप अनपेक्षित रूप से कानपुर आ पहुंचे जहां मैं एक धार्मिक सम्मेलन में भाग ले रहा था। मुझे बड़ी हैरानी हुई जब उसने घोषणा की कि उसने हांगकांग में (जहां वे अब रहते हैं) अपने कुछ विश्वासपात्र व पुराने दोस्तों से सुना है कि न्यू चाईना न्यूज एजन्सी 'शिन्हुआ' उससे संपर्क करना चाहती है। इसके बाद वह देंग सियाओ-पिंग के एक राजनयिक प्रतिनिधि से भी मिला था जिसने बताया कि चीनी नेता दलाई लामा के साथ संपर्क साधना चाहते हैं। सद्भावना की शुरूआत के लिए देंग ग्यालो को वार्ता के लिए बीजिंग निमन्त्रित करना चाहता है। ग्यालो ने इनकार कर दिया क्योंकि वह पहले मेरी राय लेना चाहता था।

सब कुछ बहुत अनपेक्षित था और मैंने तुरन्त जवाब नहीं दिया। पिछले दो साल की सभी घटनाएं दिलासा देती लग रही थीं। लेकिन जैसा कि एक भारतीय कहावत है कि "दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है" और दुर्भाग्य से चीनी नेतृत्व के साथ मेरे सभी अनुभव कहते हैं कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। ये नेता न केवल झूठ बोलते थे मगर उससे भी बुरी बात यह कि झूठ प्रकट होने पर जरा सा झेंपते भी नहीं थे। सांस्कृतिक क्रान्ति जारी थी तो इसे 'बड़ी भारी सफलता' कहा जा रहा था और अब इसे 'असफलता' बताया जा

रहा था। मगर झेंप का कहीं लेश मात्र संकेत तक नहीं। न ही ऐसी कोई बात जिससे यह लगे कि इन लोगों ने कभी वचन का पालन किया हो। सत्रह-सूत्री 'समझौते' में अनुच्छेद तेरह कि "चीनी अपनी इच्छा से सूई या धागा भी तिब्बत से नहीं लेंगे" के बावजूद भी उन्होंने सारा देश लूट लिया था। इससे भी बुरी बात यह कि अपने अनगिनत अत्याचारों द्वारा उन्होंने मानव अधिकारों का पूर्ण अपमान किया था। उनकी अपनी भारी जनसंख्या के कारंण चीनियों के विचार में मानव जिन्दगी तो सस्ती चीज

थी और तिब्बती जिन्दगियां तो और भी कम कीमत की थीं। इसलिए मैंने अतिसावधानी बरतना जरूरी समझा।

दूसरी तरफ मेरा मूल विश्वास है कि मानव की समस्याएं सिर्फ मानव संपर्क के द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं। इसलिए चीनी जो कुछ कह रहे थे उसे सुन लेने में कोई नुकसान न था। उन्हीं के साथ ही हम आशापूर्वक अपना दृष्टिकोण बता सकते थे। हमारे पास छुपाने को यकीनन ही कुछ न था। और यदि बीजिंग के अधिकारी सच्चे हैं तो भी हम तथ्य खोजी मिशन स्थिति का पता लगाने स्वयं भेज सकते थे।

ये बातें सोचकर तथा यह जानकर कि हमारा पक्ष सौ प्रतिशत सही और तिब्बत की पूरी जनता की इच्छा के अनुरूप था, मैंने अपने भाई से कहा कि मेरी तरफ से उसे जाने की इजाजत है। जब वह चीनी नेताओं से मिल लेगा तो हम अगले कदम पर विचार करेंगे। साथ ही मैंने भारत में चीनी दूतावास के माध्यम से बीजिंग प्रस्ताव भेजा कि धर्मशाला से तथ्य खोजी मिशन को तिब्बत इस नजरिए से भेजने की अनुमति दी जाये कि वह वहां असली स्थिति का पता लगा ले और लौटकर मुझे सूचना दे। मैंने अपने भाई को भी सुझाव दिया कि वह ध्यान रखे कि क्या ऐसा संभव है।

इसके शीघ्र बाद मेरे पास एक बिल्कुल नए माध्यम से एकदम नया और उत्तेजक समाचार मिला। मुझे मंगोलिया के रिपब्लिक व रूस के बौद्ध समुदायों की यात्रा करने का निमंत्रण दिया गया था। मैं जानता था कि मेरा वहां जाना बीजिंग के मेरे दोस्तों को शायद न पसंद आये। मगर दूसरी तरफ मैंने महसूस किया कि बौद्ध भिक्षु और इससे भी ऊपर दलाई लामा के रूप में मुझ पर अपने सह-धार्मियों की सेवा करने की जिम्मेवारी है। इसके अतिरिक्त मैं उन्ही लोगों को कैसे इनकार कर सकता था जिन्होंने मुझे यह उपाधि दी थी। और इससे भी बड़ी बात यह कि चूंकि जब मैं उच्च चीनी कर्मचारी था और मेरी गतिविधियां प्रतिबन्धित थी तो मेरी रूस जाने की इच्छा पूरी नहीं हो पाई थी। अतः मैं अब वहां तिब्बती शरणार्थी के रूप में जाने का मौका गंवाना नहीं चाहता था। इसलिए मैंने खुशी से हामी भर दी।

अब कोई अड़ंगा नहीं लगा और मार्च के आखिर में जब ग्यालो थोन्डुप धर्मशाला लौटा तो उसने बताया कि मेरा तिब्बत में तथ्य खोजी मिशन

भेजने का प्रस्ताव चीनी ने मान लिया है। इससे मुझे खूब हौसला मिला। लग रहा था कि चीन आखिर में तिब्बत के प्रश्न पर शान्तिपूर्ण हल पाने की कोशिश कर रहा है।

वतन की खबर

मिशन को रवाना करने के लिए अगस्त की एक तारीख तय की गई।

इस बीच जून के शुरू में मैं मंगोलिया के रास्ते मास्को के लिए रवाना हो गया। पहुंचने परं मैंने महसूस किया मानो चिर परिचित दुनिया में पहुंच गया हूं। मैंने एकदम वही दमनकारी माहौल पहचान लिया जो चीन में अच्छी तरह जाना था। पर इससे मैं निराश नहीं हुआ क्योंकि मैं देख रहा था कि जिन लोगों से मैं मिल रहा था वे काफी अच्छे और दयालु और आश्चर्यजनक रूप से विनम्र थे। इस विनम्रता का पता मुझे तब चला जब रूस के एक दैनिक समाचार पत्र का एक पत्रकार मुझसे इंटरव्यू लेने आया। उसके सवाल इस तरह से बनाए गए थे कि मेरे मुंह से चाटुकारिता भरी बातें ही निकलें। यदि मैं ऐसी कोई बात कहता जो सरकार के पक्ष में नहीं हो या मेरे जवाब वैसे न होते जैसे वह चाहता था तो वह मुझे गुस्से से घूरने लगता। एक अन्य मौके पर एक पत्रकार जो अपनी लिस्ट के सारे प्रश्न पूछ चुका तो बड़ा विनम्र होकर कहने लगा "अब आपके ख्याल मे मुझे आपसे क्या पूछना चाहिए ?"

मैं मास्को में जहां कहीं भी गया मैंने सतही समानता के नीचे वही सुन्दरता देखी। इससे मेरे इस विश्वास की और भी पुष्टि होती थी कि दुनिया में कोई भी जानबूझकर दुःख-तकलीफ नहीं चाहता। साथ ही मुझे व्यक्तिगत स्तर पर लोगों से संपर्क करने का महत्व याद आया। मैं स्वयं देख सकता था कि रूस वाले उनसे ज्यादा दैत्य नहीं थे जितने चीनी, ब्रिटिश या अमेरिकी हैं। जिस गर्मजोशी से रशियन आर्थोडॉक्स चर्च के सदस्यों ने मेरा स्वागत किया, वह मुझे विशेषकर मर्मस्पर्शी लगा।

मास्को से मैंने बुरियात रिपब्लिक की यात्रा की, जहां मैंने बौद्ध मठ में एक दिन बिताया। यद्यपि, मैं किसी से सीधी बातचीत नहीं कर सकता था तो भी मैंने देखा कि मैं उनकी प्रार्थना समझ सकता था क्योंकि यह तिब्बती भाषा में की जा रही थी। सारे संसार के कैथोलिक लेटिन भाषा प्रयोग करते हैं। ये भिक्षु लिखते भी तिब्बती थे। इससे भी ऊपर मैंने यह पाया कि हम आंखों से खूब अच्छी तरह बातें कर सकते थे। मैंने मठ में घुसते ही पाया कि प्रार्थना में कई भिक्षु व आम आदमी रो रहे थे। यह भी एक प्रकार की तीव्र अभिव्यक्ति थी जिसके प्रति तिब्बती बहुत भावुक हैं। और मैं तुरन्त भाईचारा महसूस करने लगा।

बुरियात की राजधानी उलान उदे का मठ उन असाधारण चीजों में से एक है जो मैंने रूस में देखी थीं। यह 1945 में तब बनावाया गया था जब स्टालिन अपनी सत्ता के शिखर पर था। मैं नहीं जानता कि यह कैसे हो सकता है मगर इससे मुझे यह समझने में सहायता मिली कि मानव मस्तिष्क में आध्यात्म की इतनी गहरी पैठ होती है कि इसे मिटाना पूर्णतया असंभव नहीं तो बहुत मुश्किल जरूर है। मेरे अपने देशवासी भाई बहनों की तरह बुरियात के लोगों ने अपने धर्म के लिए काफी लंबे समय तक खूब कष्ट उठाए थे। फिर भी जहां कहीं मैं गया, मैंने साफ प्रमाण देखा कि थोड़ा सा मौका मिलते ही आध्यात्मिक जीवन फलने फूलने लगता है।

आज़ाद शरणार्थी

इससे मेरा मत मजबूत हुआ कि बौद्धवाद व मार्क्सवाद के बीच संपर्क होना उतना ही जरूरी है जितना यह सभी धर्मों व भौतिकवादी विचारधारा के किसी रूप के बीच होना जरूरी है। जिन्दगी के दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे के साफ रूप से पूरक हैं। यह बड़ी बुरी बात है कि लोग इन्हें एक दूसरे का विरोधी मानते हैं। यदि सारी मानवता की समस्याओं का जवाब भौतिकवाद और तकनीक सचमुच ही हैं तो अति उन्नत औद्योगिक समाज में सभी चेहरे मुस्कराते नजर आने चाहिएं। लेकिन, ऐसा कहां होता है। इसी तरह यदि लोग आध्यात्म के मामलों से ही संबंध रखें तो उनके

धार्मिक विश्वास के अनुसार हम सब खुशीपूर्वक रहेंगे। लेकिन फिर तरक्की कहां हो पायेगी? आध्यात्मिक व भौतिक विकास दोनों ही चाहिएं। और मानवता को भी एक जगह आकर ठहर नहीं जाना चाहिए यह भी एक प्रकार की मौत ही है।

मैं उलान उदे से मंगोलिया रिपब्लिक की राजधानी उलान बातोर गया जहां भिक्षुओं का समूह मुझे मिला और भावभीना स्वागत किया। लेकिन इस खुशी व स्वाभाविकता को अधिकारियों की सहमति नहीं थी। पहले दिन लोग मुझे छूने के लिए सभी दिखाओं में भींचे जा रहे थे। लेकिन अगली सुबह मैंने पाया कि हर कोई यूं व्यवहार कर रहा था मानों वे बुत हैं। मैंने उनकी आंखों में आंसू देखे। जहां तेरहवें दलाई लामा सदी के शुरू में कुछ समय रहे थे मैं जब उस घर की यात्रा पर गया तो कोई भी मेरे करीब नहीं आया। लेकिन बाद में एक आदमी किसी तरह अधिकारियों की चुपचाप अवहेलना करने में सफल हो गया। ज्यों ही मैं संग्रहालय से निकला गेट पर एक व्यक्ति से हाथ मिलाते वक्त मैंने एक चीज हाथ में महसूस की। नीचे देखने पर पता लगा कि वह आशिर्वाद के लिए एक छोटी सुमिरनी जपमाला मेरे हाथ में दबा रहा था। यह देखकर मुझे उदासी भी हुई और दया भी आई।

इस संग्रहालय में ही मेरी निगाह एक तस्वीर पर पड़ी जिसमें एक भिक्षु के बड़े से मुंह में खानाबदोशों को अपने पशुओं के साथ चलता दिखाया गया था। इसे स्पष्टतया धर्म-विरोधी प्रचार के लिए बनाया गया था। मैं अच्छी तरह देखने के लिए करीब खिसका मगर मेरे गाईड ने बड़ी बेचैनी से मुझे इस साम्यवादी प्रचार के उदाहरण से दूर हटाने की कोशिश की। मैंने कहा कि मुझसे कुछ भी छुपाने की जरूरत नहीं है। तस्वीर जो कुछ कह रही थी उसमें भी तो कुछ सच्चाई थी ही। अब तथ्यों को छुपाना भी क्या? जिस तरह इस बिम्ब ने दर्शाया था उस तरह हर धर्म नुकसान कर सकता है, जनता का शोषण कर सकता है। यह दोष धर्म का तो नहीं है बल्कि उनका है जो यह करते हैं।

एक और रोचक घटना भी सुन लीजिए जो 'कालचक्र मण्डल' के एक माडल के बारे में है। मैंने देखा कि जिस ढंग से यह बना पड़ा था उसमें कुछ गलतियां हैं। इसलिए जब युवा महिला सदस्य मुझे इसका अर्थ

समझाने लगी तो मैंने कहा "देखो, मैं इन मामलों में विशेषज्ञ हूं, तो क्यों न में ही तुम्हें इसका अर्थ समझा दूं' और मण्डल की गलतियां बतानी शुरू कर दीं। मुझे इससे बड़ी तसल्ली मिली।

वतन की खबर

मैंने मंगोलों को जब जाना तो महसूस करना शुरू किया कि हमारे दोनों देशों के बीच संबंध कितने मजबूत रहे हैं। पहली बात तो हम दोनों का धर्म एक सा है। मैं पहले बता ही चुका हूं कि भूतकाल में कई मंगोल विद्वानों ने तिब्बत यात्रा की है और हमारी संस्कृति तथा धर्म में काफी योगदान दिया है। तिब्बती कई धार्मिक ग्रन्थों का भी प्रयोग करते हैं जो मंगोलों द्वारा लिखे गये हैं। और फिर हमारे कई रिवाज़ साझे हैं। उदाहरण के लिए खाताग का दिया जाना। एक थोड़ा सा फर्क यह है कि तिब्बती खाताग सफेद होते हैं जबकि मंगोलियन पीले, नीले या स्लेटी होते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इतिहास के लिहाज से मंगोलिया और तिब्बत में वही संबंध रहे हैं जो भारत और तिब्बत के बीच रहे हैं। इसको दिमाग में रखकर मैंने अपने-अपने समुदायों से विद्यार्थियों के आदान-प्रदान का प्रबन्ध कराया ताकि हमारे देशों के बीच के प्राचीन संबंध पुनर्जीवित हो सकें।

चलते वक्त मुझ पर रूस तथा मंगोलिया के पक्ष में कुछ अच्छे प्रभाव भी पड़े। इनमें से कुछ तो भौतिक प्रगति से संबंधित थे। विशेषकर मंगोलिया ने उद्योगों, कृषि तथा पशुपालन में काफी तरक्की की थी। उसके बाद मैं एक बार फिर 1987 में रूस गया तो यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई कि स्थितियों में नाटकीय रूप से बेहतरी हुई है। यह स्पष्ट प्रमाण था कि राजनैतिक आजादी से लोगों के सोच-विचार पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अब वे अपनी सच्ची भावनाएं प्रकट कर सकते थे और स्पष्ट तौर से ज्यादा खुश नजर आ रहे थे।

2 अगस्त 1979 को निर्वासन में तिब्बती सरकार के पांच सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल दिल्ली से तिब्बत के लिए बारास्ता बीजिंग रवाना हुआ। मैंने इनका चयन बहुत सावधानी से किया था। क्योंकि उनका सथासंभव वस्तुनिष्ठ होना महत्वपूर्ण था इसलिए मैंने वही व्यक्ति चुने जो

न केवल चीनी हमले से पहले के तिब्बत को जानते थे बल्कि जिन्हें आधुनिक दुनिया का भी थोड़ा बहुत पता था। मैंने यह भी ध्यान दिया कि उनमें तीनों प्रांतों ऊ-त्सांग, खम, आम्दो का एक-एक प्रतिनिधि भी हो।

मेरा भाई लोबसंग साम्तेन भी उनमें से एक था। वह वर्षों पहले सन्यास प्रण छोड़ चुका था। अतः हमारे परिवार मैं ही था जो अकेला 'संघ' में बचा था। अब उसमें वस्त्रों व दिखावे का आधुनिक दौर आया हुआ था। लंबे-लंबे बाल, घनी मूंछें। लोबसंग को वे तिब्बती अब शायद ही पहचान पायेंगे, जो उसे पहले जानते थे।

दस वर्ष से ज्यादा हो चुके और मैं अभी तक सही तरह नहीं जानता कि बीजिंग वाले हमारे प्रतिनिधिमण्डल पर 'नये' तिब्बत पर कैसा प्रभाव पड़ने की उम्मीद कर रहे थे। मेरा ख्याल है कि वे आश्वस्त थे कि प्रतिनिधिमण्डल को मातृभूमि में इतनी समृद्धि और संतुष्टि मिलेगी कि वे निर्वासन में रहने में कोई तुक न समझेंगे। और दरअसल इस भय से कि सही सोच वाले तिब्बती लोग कहीं प्रतिनिधिमण्डल पर हमला न कर दें, चीनी अधिकारियों ने तिब्बतियों को समझाया था

कि वे प्रतिनिधिमण्डल के प्रति शिष्ट रहें। मुझे भी शक है कि दलाई लामा तथा निर्वासन में तिब्बती सरकार का अस्तित्व चीनी सरकार के लिए पेरशानी का कारण था और चीन अब दुनिया की राय से बेचैन था। इसीलिए हमें लुभाने के हर तरीके इस्तेमाल हो रहे थे।

किस्मत अच्छी ही कहिए जो चीनी खुद पर इतने आश्वस्त थे। क्योंकि, पहला प्रतिनिधिमण्डल अभी बीजिंग में ही था कि चीनी अधिकारियों ने इस मिशन के बाद तीन और मिशन भेजने के मेरे प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

दो हफ्ते बीजिंग में बिताते हुए मेरे पांचों प्रतिनिधि मुलाकातें करते रहे और योजना बनाते रहे कि चार महीने की इस यात्रा में तिब्बत भर में कहां-कहां

जाया जाये। लेकिन, उनके आम्दो में पहुंचते ही चीनियों के पांसे उलटे पड़ने लगे। प्रतिनिधिमण्डल जहां कहीं जाता भारी भीड़, जिसमें खासकर युवा होते, इनके साथ हो लेते। इनसे आशीर्वाद चाहते तथा मेरा समाचार पूछते। इससे चीनी क्रोधित हो गए तथा उन्होंने ल्हासा में अधिकारियों को सावधान कर दिया। ल्हासा से जवाब आया "राजधानी में उच्च स्तर के राजनैतिक प्रशिक्षण के कारण यहां परेशानी की कोई संभावना नहीं है।"

फिर भी इन पांचों प्रतिनिधियों का हर कदम पर भव्य स्वागत हुआ। ल्हासा पहुंचने पर तो बड़ी भारी भीड़ ने उनका स्वागत किया प्रतिनिधिमण्डल द्वारा लाये गए फोटोग्राफ में गलियां हजारों शुभचिन्तकों की भीड़ से भरी हैं। इस भीड़ ने दूर रहने की चेतावनी की भी अवज्ञा की। शहर में एक सदस्य ने एक उच्च चीनी काडर के अधिकारी को अपने साथी से कहते सुना "पिछले बीस सालों की कोशिशें सिर्फ एक दिन में ही मिट्टी में मिल गयीं"।

आमतौर पर तानाशाही वाले देशों में जनता व नेताओं के बीच एक दूरी होती है। लेकिन यहां तो दिख रहा था कि चीनियों ने बिल्कुल ही गलत गणना की थी। यद्यपि ऐसा होने से रोकने के लिए उनका अच्छा खासा चौकसी प्रबन्ध था और जासूसी तंत्र भी बहुत बड़ा था मगर उनका जायजा पूरी तरह गलत हो गया था। लेकिन इससे भी ज्यादा हैरत वाली बात मुझे यह लगती है कि ऐसे अनुभवों के बाद भी चीनी यही व्यवस्था अभी भी बनाए हुए हैं। इसलिए उदाहरण के लिए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव हु याओबांग और देंग के उत्तराधिकारी ने अगले वर्ष तिब्बत यात्रा की तो उसे ऐसे गांव जो चीन जैसा ही था, में ले जाया गया और पूरी तरह गुमराह किया गया। 1988 में मुझे बताया गया कि जब एक प्रमुख चीनी नेता ने ल्हासा यात्राा की तो उसने एक बूढ़ी औरत से पूछा कि वह तिब्बत की वर्तमान हालात के बारे में क्या सोचती है? उसने रटी रटायी पार्टी लाईन दोहरा दी। वह इसे ही तिब्बतियों की सच्ची भावना समझ बैठा। यह तो वैसी ही बात हुई कि चीनी अधिकारी खुद को ही मूर्ख बनाना चाहते हैं। लेकिन कोई थोड़ा सा भी समझदार व्यक्ति समझ सकता है कि तगड़ी सजा की धमकी के भय में कोई अपने नकारात्मक विचार भला क्यों बतायेगा। ?
सौभाग्य से हु याओबांग पूरी तरह नहीं छला गया।

उसने तिब्बती जीवन-यापन की हालत पर गहरा क्षोभ सार्वजनिक रूप से प्रकट करके पूछा था कि क्या तिब्बत भेजा गया सारा पैसा पानी में फेंक दिया गया? उसने अधिकृत तिब्बत में तैनात चीनी काडर में से पच्चासी प्रतिशत को वापस बुलाने का भी वादा किया।

इन प्रस्तावित कदमों के बारे में बाद में बहुत कम ही सुनाई दिया। हु याओबांग ज्यादा समय तक पद पर नहीं रह सका और अन्ततः उसे चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव पद से इस्तीफा देने को मजबूर होना पड़ा। तो भी तिब्बत में चीन की गलतियां मानने में दिखाए गए उसके महान साहस की स्मृति मैं कृतज्ञता से करता हूं। उसके ऐसा करके दिखाने से साफ प्रमाण मिलता है कि चीनी नेतृत्व में भी हर कोई दमन की सरकारी नीति के पक्ष में नहीं है। लेकिन यदि हु याओबांग की स्वीकारोक्ति से तिब्बत पर लंबा प्रभाव नहीं पड़ा तो प्रतिनिधिमंडल द्वारा दिसंबर के आखिर में लौटकर धर्मशाला आकर बनाई गई रिपोर्ट का प्रभाव यकीनन ही पड़ा।

जब मैं अपनी दो लंबी यात्राओं रूस, मंगोलिया, ग्रीस, और अन्त में अमेरिका की यात्राओं से अक्तूबर 1979 में वापस आया तो प्रतिनिधिमण्डल के पांचों सदस्य लौट आये थे। वे अपना कई महीनों की यात्रा का विवरण सैकड़ों फिल्म रोलों तथा कई घण्टों की टेप की गयी वार्ताओं के रूप में लाये थे। वे तिब्बतियों द्वारा अपने निर्वासित परिवारों के नाम सात हजार पत्र भी लाये पहली डाक थी जो बीस से ज्यादा वर्षों के बाद तिब्बत से बाहर आई थी। यह

दुर्भाग्यवश 'नये' तिब्बत का वे नकारात्मक प्रभाव लेकर लौटे थे। साथ ही उनके सामने जमा हुए आंसू भरे तिब्बतियों की भीड़ इस बात का साफ प्रमाण थी कि चीनी अधिकारियों ने व्यवस्थित रूप से तथा निर्दयी तरीका प्रयोग करके हमारी प्राचीन संस्कृति को नष्ट करने की कोशिश की थी। इसके अतिरिक्त असंख्य वर्णन ऐसे थे जो वर्षों के अकाल, सार्वजनिक

भुखमरी, सार्वजनिक फांसी तथा भारी पैमाने पर मानवाधिकारों का उल्लंघन जिनमें या तो बंधुआ मजदूर शिविरों के लिए बच्चों का अपहरण या चीन में उन्हें अपहृत करके 'शिक्षित' करने, निर्दोष नागरिकों की कैद, यातना शिविरों में हजारों भिक्षुओं व भिक्षुणियों की हत्या शामिल हैं से संबंधित थे। यह बड़ी भयावह दास्तान थी और इसकी कहानी वे फोटोग्राफ सुना रहे थे जो मठों को इंट-पत्थरों के ढेर में या खाद्यान्न भण्डारों में या फैक्ट्रियों में या पशु-बाड़े में बदले जाने के गवाह थे।

लेकिन चीनी अधिकारियों ने स्पष्ट कर दिया था कि वे न तो प्रतिनिधिमण्डल से ही कोई आलोचना सुनेंगे और न ही निर्वासित तिब्बतियों से। उनका कहना था कि जब तक हम बाहर रह रहे हैं तब तक हम यह आलोचना नहीं कर सकते किं भीतर क्या हो रहा है। जब लोबसांग साम्तेन ने मुझे यह बात बताई तो मुझे वह घटना याद आ गई जो 1950 के दशक में हुई थी। चीनी पार्टी के एक सदस्य ने एक तिब्बती कर्मचारी से पूछा था कि तिब्बत में चीनी शासन पर उसकी क्या राय है? तिब्बती ने उत्तर दिया था "पहले मुझे देश छोड़ जाने दो, फिर बताऊंगा।"

आज़ाद शरणार्थी

तो यह भी सच है कि प्रतिनिधिमण्डल कुछ उत्साहजनक समाचार भी लाया था। उदाहरण के लिए वे बीजिंग में थे तो वे कई युवा तिब्बती विद्यार्थियों से मिले थे जिन्हें कम्युनिस्ट पार्टी काडर के रूप में शिक्षित किया जा रहा था। लेकिन पूरी तरह आंखें मूंदकर मार्क्सवादी या चीनी नीति समर्थक होने के बजाए वे तिब्बती आजादी के हक के प्रति पूर्णतया प्रतिबद्ध निकले। और यदि उन कई घटनाओं से देखें जिनमें आम तिब्बतियों ने दलाई लामा के प्रति सम्मान व प्यार प्रदर्शित करने के लिए चीनी अधिकारियों की खुली अवज्ञा की तो उनका दम खम साफ नजर आता है। वास्तव में ऐसा लगता है कि इन निराशा भरे अनुभवों से उनका संकल्प मजबूत ही हुआ है।

इस पहले प्रतिनिधिमण्डल का एक और अच्छा पहलू रहा पंचेन लामा से बीजिंग में मुलाकात करना। पंचन लामा के साथ चीनी अधिकारियों ने बड़ी निर्दयता का व्यवहार किया था और उन्होंने अपने शरीर पर देशभक्ति के पांच दाग दिखाये जो यातना दिए जाने के दौरान उसके शरीर को मिले थे। उन्होंने बताया कि मेरे निर्वासन में पलायन के बाद ताशिलहुंपों में उनके अपने मठ को चीनी सेना ने कोई क्षति नहीं पहुंचाई। लेकिन जब उन्होंने हमारे नये मालिकों की आलोचना शुरू की तो सैनिक भेज दिए गए। तब 1962 के दौरान उन्हें प्रिपेरेटरी कमेटी के चैयरमैन के रूप में मेरी जगह लेने को कहा गया। उन्होंने इसके बजाए इनकार करते हुए चैयरमैन माओ को 70 हजार शब्दों का लंबा ज्ञापन भेज दिया। परिणाम स्वरूप उनका पद छीन लिया गया। हालांकि माओ ने बेशर्मी से विश्वास दिलाया था कि उसकी शिकायतों पर ध्यान दिया जायेगा। मुट्ठी भर वृद्ध भिक्षु जो ताशिल्हुंपो वापस आ गए थे उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर आपराधिक गतिविधियों का आरोप लगाकर शिगात्से की जनता के सामने उनकी दुर्गति की गई।

1964 के शुरू में पंचेन लामा को पुनर्वास का अवसर दिया गया। उन्हें मोन्लम उत्सव, जो सिर्फ एक दिन होना था, के लिए ल्हासा की जनता को भाषण देते हेतु बुलाया गया था। वह भाषण देने पर सहमत हो गए। लेकिन चीनी अधिकारी तो तब भौचक्के रह गये जब उन्होंने जमा हुई भीड़ से कहा कि तिब्बती जनता का वास्तविक नेता तो दलाई लामा ही है। उन्होंने अपना भाषण इस लंबी हुंकार से खत्म किया था "दलाई लामा जिन्दाबाद"। उन्हें फिर से गिरफ्तार कर लिया गया और सत्रह दिन के गुपचुप मुकदमे के बाद उन्हें परिदृश्य से गायब कर दिया गया। कई लोगों को शक था कि उनकी हत्या कर दी गई है। लेकिन बाद में पता चला था कि उन्हें पहले तो घर में नजर बन्द रखा गया उसके बाद चीन की अधिकतम सुरक्षा वाली जेल में डाल दिया गया जहां उन्हें जबरदस्त यातना दी गई। हालात इतने कठोर थे कि उन्होंने कई बार आत्महत्या का प्रयास भी किया था।

तो पंचेन लामा जिन्दा थे और पहले से बेहतर। लेकिन प्रतिनिधिमण्डल ने देखा कि स्वयं तिब्बत की हालत बहुत खराब थी। यह सच था कि अर्थव्यवस्था बदल गई

और देश में हर चीज बहुतायत में थी। मगर इसका रत्तीभर फायदा भी तो तिब्बतियों को न था। क्योंकि सारी सुख-सुविधाएं तिब्बत पर कब्जा जमाए चीनियों की झोली में थीं। उदाहरण के लिए जहां पहले एक भी कारखाना नहीं होता था वहां अब कई कारखाने थे मगर इनका सारा उत्पादन चीन भेजा जा रहा था। और फैक्ट्रियों का योगदान भी वातावरण को दूषित करने के अतिरिक्त कुछ नजर नहीं आ रहा था। यही बात पनबिजली संयंत्रों पर भी लागू होती थी। और फिर प्रत्येक शहर और कस्बे में जहां चीनी क्वार्टर बिजली से जगमगाते रहते थे वहीं ल्हासा के तिब्बती हिस्से में हर कमरे में अधिकतम 15 या 20 वाट रोशनी का बल्ब टिमटिमाता रहता। और ये भी उस वक्त दगा दे देते, खासकर सर्दियों में, जब इन पनबिजलीघरों की बिजली बाकी के शहर में काफी खपत वाली जगहों की तरफ मोड़ दी जाती।

खेती के मामले भी चीनी जोर देते कि सर्दियों में पारंपरिक जौ की फसल के बजाए गेहूं बोया जाए। इसका कारण सिर्फ इतना सा था कि चीनी जौ के बजाए गेंहू खाते थे। परिणामस्वरूप एक दो अच्छी फसलों के बाद एक लंबे समय तक अकाल पड़ा। नई सघन कृषि पद्धति के कारण हुए परिवर्तनों से तिब्बत की ऊपरी उपजाऊ भूमि की पतली परत उतर गई और मीलों लंबा रेगिस्तान बन गया।

वन्य जीवन इत्यादि अन्य साधनों का भी इसी प्रकार शोषण किया गया। अनुमान लगाया गया था कि 1955 के बाद से लगभग 5 करोड़ वृक्ष काट गिराए गए हैं और लाखों एकड़ जगह से वनस्पति का नाम ही मिटा दिया गया है। पशुपालन में भी नाटकीय सुधार था। कई स्थानों पर तो पहले से दस गुना पशु चरागाहों में बढ़ गए थे। मगर चरागाह उतने ही थे। लेकिन अन्य जगहों में अतिशोषण का मतलब था कि उस वातावरण में पशु चराना संभव ही न रहा था। परिणाम स्वरूप सारी पारिस्थति असंतुलित हो चुकी थी। कभी उन्मुक्त घूमने वाले हिरण, कयांग तथा ड्रांग गायब हो चुके थे और हंस-बत्तखों के बड़े झुण्ड जो यहां की विशेषता थी,

तो ढूंढे नजर नहीं आते थे।

रही चिकित्सा की बात, अब यह स्पष्ट हो गया था कि वहां काफी संख्या में अस्पताल थे जैसा कि चीनी बता रहे थे। लेकिन, ये भी पूरी तरह प्रवासी चीनियों की भलाई के लिए थे। और जब कभी चीनियों को खून की जरूरत होती, यह रक्त तिब्बती 'स्वयं सेवियों' से लिया जाता।

पहले की अपेक्षा स्कूल भी बहुत ज्यादा थे। लेकिन, चीनियों को लाभपहुंचाने के लिए शिक्षा प्रोग्राम बंदल दिया गया था। उदाहरण के लिए पहले प्रतिनिधिमण्डल ने कहानियां सुनीं कि कैसे स्थानीय चीनी अधिकारियों ने केन्द्रीय प्रशासन से ज्यादा पैसा पाने के लिए दावा किया था कि वे तिब्बतियों के लिए सुविधाओं में सुधार कर रहे हैं। और फिर इन पैसों से उन्होंने अपने बच्चों का भला कर लिया था। चीनी जो शिक्षा दे रहे थे वह अधिकतर चीनी भाषा में दी जा रही थी। प्रयास किया जा रहा था कि 'पन्द्रह वर्ष के भीतर' तिब्बती भाषा का उन्मूलन कर दिया जायेगा। वास्तव में इनमें से कई स्कूल बच्चों के लिए लेबर

कैम्पों से ज्यादा कुछ न थे। जिनकी उचित दीक्षा शिक्षा हो रही थी, वे सिर्फ वह पन्द्रह सौ बच्चे थे जो 'एकता' बढ़ाने के नाम पर जबरदस्ती चीनी संस्थानों में भेज दिये गए थे।

मेरे प्रतिनिधियों ने पाया कि संचार के साधनों में नाटकीय सुधार आया हुआ है। प्रत्येक बस्ती को मिलाती, एक दूसरे को काटती सड़के हैं। भारी ट्रकों समेत उन पर हजारों वाहन भी दौड़ रहे हैं। मगर सभी चीनी सरकार के हैं। आम तिब्बती बिना अनुमति इधर-उधर नहीं जा सकता मान लिया जाये कि पिछले दिनों में नियमों में कुछ ढील दी गई थी मगर इस छूट का फायदा भी कितने उठा पाते हैं ?

इसी प्रकार उपभोक्ता वस्तुएं भी खूब थीं मगर मुट्ठी भर तिब्बतियों के अलावा खरीद तो कोई नहीं पाता था। बहुतायत जनता दयनीय गरीबी की

हालत में जी रही थी। प्रतिनिधियों ने सुना कि पिछले दिनों तक कोटा इतना कम था कि जो राशन तीस दिनों के लिए होता था वह घसीटकर मुश्किल से ही बीस दिन चल पाता था। उसके बाद दस दिन घास-फूस खाइये। उदाहरण के लिए महीने भर के मक्खन का राशन, जो पुराने जमाने में सिर्फ एक बार की चाय में काम आता था अब उसे होंठों पर ही लगाया जा सकता था। ये सदस्य जहां कहीं भी गये उन्होंने पाया कि कुपोषण के कारण लोग बौने होना शुरू हो गए हैं और लगभग चीथड़ों में गुजारा कर रहे हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि कान की बालियों जैसे वे आभूषण और श्रृंगार तो कब के हवा हुए जो कि सबसे गरीब तिब्बती भी पुराने वक्त में पहने रखता था।

हाड़तोड़ मेहनत पर भी लोगों पर इतने टैक्स हैं कि विश्वास न हो। मगर इन्हें टैक्स न कहकर 'किराया' या और कुछ भी कहा जाता है। यहां तक कि खानाबदोशों को भी अनिश्चित जिन्दगी के 'फायदों' के नाम पर टैक्स चुकाना पड़ता है। कुल मिलाकर तिब्बत के लिए आर्थिक कार्यक्रम भी एक यातना से कम नहीं था।

इतने में ही बस नहीं होती सदस्यों ने देखा कि तिब्बती संस्कृति का क्रूर दमन हो रहा है। उदाहरण के चीनी धुनों में केवल राजनैतिक जयजयकार के गीत ही गाने की आज्ञा थी। धर्म पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। हजारों मठों को अपवित्र कर दिया गया था। उन्होंने सुना कि किस तरह यह 1950 के दशक के बाद से ऐसा किया जा रहा है। हर मठ में पहले क्लर्क जाकर वस्तुओं की सूची बनाता। उसके बाद मजदूरों की टीम आकर कीमती चीजों को चीन भेजने के लिए ट्रकों पर लाद देती. जहां इस लूट के माल को या तो सोने के लिए पिघला दिया जाता या अन्तर्राष्ट्रीय कला बाजार में इन्हें बेचकर पैसे ले लिए जाते। उसके बाद फिर मजदूर जाते और छत की टाइलें, काठ-लकड़ी समेत उपयोगी सामान वहां से निकाल लाते। आखिर में स्थानीय जनता को 'भ्रष्ट' भिक्षुओं तथा पुराने समाज के प्रति "अपमान दिखाने के लिए मजबूर किया जाता। कुछ ही हफ्तों में वहां ईटों-पत्थरों के ढेर के अलावा कुछ भी न बचता।

इन मठों में तिब्बत की असली अचल संपत्ति थी। सैकड़ों वर्षों से तिब्बती परिवार, अपने से जो बन पड़ता इन मठों के दान दिए जा रहे थे। और अब यह सब माल चीन देश के अतिलोलुप पेट में हजम हो चुका था।

इससे भी तसल्ली नहीं हुई तो चीनी अधिकारियों ने तिब्बती जनसंख्या को नियन्त्रित करने का तय किया। प्रत्येक दंपत्ति के दो बच्चों की सीमा तिब्बत में लागू कर दी गई है। स्वयं चीन में यह लागू नहीं जैसा कि दावा किया गया था। जो इस कोटे से ऊपर जाता उसे चिकित्सा केंद्र, जिसे ग्यांत्से में 'वधशाला' कहते हैं, भेज दिया जाता। वहां बंध्याकरण से पहले गर्भवती औरतों का गर्भ गिरा दिया जाता। कई औरतों से अनिच्छा होते हुए भी जबरदस्ती गर्भ नियन्त्रण कराया जा रहा था क्योंकि पिछले दिनों तिब्बत से आयी महिलाओं से पता चला कि उनके भीतर कापर आई. यू. डी. फिट था।

और जब कभी लोग विद्रोह में उठ खड़े हुए, जैसा 1959 के बाद कई अवसरों पर हुआ है, तो गांव तहस नहस कर दिया जाता। निवासी कत्ल कर दिए जाते। दसियों हजारों जनता को जेल में ठूंस दिया जाता। वहां उन्हे बड़ी बुरी हालत में रखा जाता, यानी दिन में बेगार और रात देर गए तक 'थामजिंग' सत्र चलते। और भोजन इतना कि पेट भी न भरे लेकिन दम भी न निकले। मैंने स्वयं इसके बारे में कई तिब्बतियों से बात की है जो चीनियों के कैदी रहे थे। उनमें से एक थे डा. तेनजिन छोडाक जो 1950 के दशक के आखिर में मेरे कनिष्ट व्यक्तिगत डॉक्टर नियुक्त किए गए थे। जब पहला तथ्य खोजी मिशन बीजिंग गया तो मैंने प्रार्थना की थी कि वे वहां अधिकारियों से उसे रिहा करने तथा निर्वासन में मेरे साथ शामिल होने देने को कहें।

शुरू में कोई बात नहीं बनी मगर, एक वर्ष बाद उसे आखिरकार रिहा किया गया और चोद्राक 1980 के आखिर में मेरे पास धर्मशाला आये। अपने साथ क्रूरता व अपमान की जो दास्तान वे लाये थे वह लगभग अविश्वसनीय लगती थी। इन पिछले बीस वर्षों में वह कई बार भूख के कारण मौत के मुंह में जाते-जाते बचे थे। उन्होंने बताया कि कैसे उन्हें व उनके कैदी बन्धुओं को भोजन की जगह कपड़े खाने पर मजबूर होना

पड़ता था और किस प्रकार एक बार अस्पताल में साथ रह चुके उनके साथी ने हतोत्साहित होकर अपने थोड़े से मल में से निकले एक कीड़े को धोकर खा लिया था।

मैं इनमें से एक भी बात अकारण नहीं दोहरा रहा। मैं बौद्ध भिक्षु होने के नाते इन बातों को अपने चीनी भाईयों और बहनो को नाराज़ करने के लिए भी नहीं लिख रहा। बल्कि इसलिए लिख रहा हूं कि मैं अपनी जनता को शिक्षित करना चाहता हूं। निस्संदेह कई भले चीनी लोग भी हैं जो तिब्बत के वास्तविक हालात से वाकिफ नहीं हैं। न ही में ये भयानक तथ्य किसी कड़वाहट के साथ लिख रहा हूं। इसके विपरीत ये बातें हुई हैं। तो भविष्य की तरफ ताकने के

अलावा कुछ किया भी नहीं जा सकता। अब से कोई दस वर्ष पहले इस प्रथम तथ्य खोजी मिशन के लौटने के

बाद से इसकी खोजों की पुष्टि उसके बाद गए अन्य तिब्बती मिशनों, पत्रकारों, पर्यटकों समेत कई स्त्रोतों के साथ-साथ कुछ सहानुभूतिपूर्ण चीनियों से भी हो चुकी है। मगर इस बीच यह तस्वीर कई मायनों में और भी खराब हो चुकी है।

अब हम जानते हैं कि कोई 3 लाख से ज्यादा चीनी सैनिक तिब्बत में तैनात हैं जिनमें से कई भारत के साथ अभी भी विवादित सीमा पर हैं। साथ ही कम से कम 50 हजार सैनिक ल्हासा से एक दिन की यात्रा की दूरी पर पड़े हैं। और इसके अलावा यह भी कि चीन अपने आणविक अस्त्रों का कम से कम एक तिहाई हिस्सा तिब्बती भूमि पर लगाये है। तिब्बत दुनिया के सर्वाधिक यूरेनियम भण्डारों में से एक है। अतः चीनियों द्वारा इसके खनन से और ज्यादा विकिरणयुक्त कचरे से बड़े क्षेत्र को खतरा पहुंचने की आशंका है। और उत्तर-पूर्वी प्रांत अम्दो, जहां मैं पैदा हुआ था वहां इतना बड़ा गुलाग वहां है कि अनुमान है कि एक करोड़ कैदियों को वहां रखा जाता सकता है।

और भारी संख्या में चीनियों को तिब्बत में बसाने के प्रोग्राम के तहत अब तिब्बत में चीनियों की जनसंख्या तिब्बतियों से काफी ज्यादा हो चुकी है। और मेरे देशवासी भाई बहिनों पर यह गंभीर खतरा है कि अपने ही देश में उनकी अपनी हैसियत पर्यटक आकर्षण से ज्यादा कुछ न होगी।

-14-

शांति के लिए कोशिश

दूसरे तथा तीसरे तथ्य खोजी मिशन जो दोनों ही मई 1980 के दौरान तिब्बत के लिए भारत से चले थे, एक में युवा लोग थे तो दूसरे मिशन में शिक्षाविद्। एक से मैं यह जानना चाहता था कि जवानी की ताजगी भरे

लोगों को तिब्बत की स्थिति कैसी लगती है। दूसरे में मैं यह जानने का इच्छुक था कि तिब्बत के युवाओं की भविष्य के प्रति क्या आशाएं हैं।

दुर्भाग्य से युवाओं का मिशन अपनी जांच-पड़ताल पूरी ही नहीं कर पाया। जब तिब्बती इन निर्वासितों का स्वागत करने व चीनी उपस्थिति की निन्दा करने उमड़ पड़े तो चीनी अधिकारियों ने इस मिशन पर लोगों को उकसाने का आरोप लगाया तथा 'मातृभूमि की एकता' को खतरा बताकर इस मिशन को बाहर निकाल दिया। घटनाओं के इस मोड़ से मुझे परेशानी होनी स्वाभाविक ही थी। "तथ्यों से सच्चाई ढूंढने" की बात तो दूर ठहरी, लग रहा था कि चीनी तो तथ्यों को ही अनदेखा करने पर आमादा हैं। लेकिन इस तरह निकाले जाने की घटना ने कम से कम यह तो दिखा ही दिया कि चीनी तिब्बतियों की भावनाओं को भी थोड़ा बहुत देख तो रहे ही हैं।

लेकिन मेरी बहन जेत्सुन पेमा के नेतृत्व में गए तीसरे मिशन को रुकने दिया गया। अक्तूबर 1980 में धर्मशाला लौटने पर इनकी रिपोर्टों ने स्पष्ट कर दिया कि भले ही पिछले बीस सालों में शिक्षा के आम स्तर में थोड़ा बहुत सुधार हुआ है मगर ऐसा लग रहा था कि चीनियों के लिए पढ़ाई की जरूरत बस इतनी ही थी कि बच्चे चेयरमैन माओ के विचारों का अध्ययन कर सकें और 'स्वीकारोक्तियां' (अपराध मानना) लिख सकें।

कुल मिलाकर तथ्य-खोजी मिशनों द्वारा प्राप्त सूचना न केवल चीन द्वारा पूरी तरह तिब्बत के लूटने को जानकारी देती थी बल्कि यह भी दिखाती थी कि तिब्बतियों के जीवन स्तर में लगातार गिरावट आती जा रही है। पिछले बीस साल के कष्टों की तुलना में स्थिति यकीनन सुधरी है लेकिन यह स्पष्ट था कि चीनी

अभी भी तिब्बतियों को "पिछड़े, अज्ञानी, क्रूर तथा जंगली समझते हैं।"

1981 में मेरी मां आघात के बाद थोड़ा समय बीमार रहकर चल बसीं।

अपने लगभग 80 साल लंबे जीवन में सदा तन्दुरूस्त रही थीं। अतः बिस्तर पर पड़े रहना उनके लिए एक नया अनुभव था। इसका अर्थ तो उन्हें यह लगा कि अब पहली बार दूसरों पर निर्भर रहना पड़ेगा। इससे पहले मेरी मां अपनी देखभाल स्वयं करती रही थीं। उदाहरण के लिए वह सुबह जल्दी उठना पसंद करती थीं मगर यह पसंद अपने नौकर पर नहीं थोपती थीं। चोटग्रस्त कलाई की वजह से उन्हें दिक्कत भी होती मगर अपनी सुबह की चाय हमेशा खुद तैयार कर लेतीं।

उनकी जिन्दगी के आखरी महीने में उनके साथ रह रहे तेनज़िन चोग्याल ने बिल्कुल साफ-साफ पूछा था कि उन्हें अपने बच्चों में से सबसे प्यारा कौन सा है? मुझे उम्मीद है कि वह सोच रहा था कि यह तमगा उसे मिलेगा। लेकिन नहीं, वह बोली कि उन्हे लोबसंग साम्तेन सबसे प्यारा है। मैं यह कहानी इसलिए नहीं बता रहा कि जब मेरे छोटे भाई ने यह बात मुझे बताई तो मैंने सोचा था कि एक उम्मीदवार तो मैं भी हो सकता था, मगर इसलिए भी कि उनकी मृत्यु के वक्त उनके बेटों में से सिर्फ लोबसंग साम्तेन ही उनके पास था। मैं भी मां से उनकी कॉटेज में उनके जाने से कुछ समय पहले मिला था मगर, असली वक्त पर मैं बोधगया में था।

ज्यों ही मैंने खबर सुनी मैंने प्रार्थना शुरू कर दी कि उनका पुनर्जन्म अच्छा हो। इस प्रार्थना में वहां उपस्थित हर तिब्बती शामिल था तथा अन्य सभी लोगों की गहरी भावनाओं को देखना मर्म-स्पर्शी था। सरकार ने भी एक सांत्वना-पत्र भेजा। यह लिंग रिंपोछे को संबोधित किया गया था क्योंकि मृत्यु की खबर उन्हीं के माध्यम से भेजी गई थी। लेकिन किन्हीं कारणवश यह सीधे मेरे पास भेज दिया गया। इसके बाद बड़ा मजेदार वाकया हुआ। खत पढ़कर मैंने यह लिंग रिंपोछे तक पहुंचा दिया। जब वह पढ़ चुके तो हैरान परेशान सिर खुजाते आकर बोले "मेरा ख्याल है कि यह खत तो मैंने आपको देना था न कि आपने मुझे। अब मैं क्या करूं?" यही एक मौका था जब मैं देख रहा था कि लिंग रिपोछे को शब्द तलाशे नहीं मिल रहे।

निस्संदेह में अपनी मां की मृत्यु पर बहुत उदास था। ज्यों-ज्यों वक्त गुजरता गया और मुझ पर काम का तथा दायित्वों का बोझ बढ़ता गया मेरा उनसे मोल-जोल कम होता चला गया था। तो भी हम मन से बहुत करीब थे और मैं इसे बहुत बड़ी क्षति महसूस कर रहा था के किसी वृद्ध

सदस्य के गुजर जाने पर मैं करता हूं। हां, समय पाकर पुरानी पीढ़ी कुछ वैसी ही जैसी हमारे काफिले गुजरती ही जा रही हैं यह गुजरेगी भी। मेरे चारों तरफ युवा, मुझसे छोटे व्यक्ति आते जा रहे हैं। मेरे प्रशासन की औसत आयु पैंतीस से नीचे ही है। मैं महसूस करता हूं कि यह किसी तरह से ठीक भी है। तिब्बत में हालात जो चुनौतियां दे रहे हैं उनके लिए आधुनिक मस्तिष्क चाहिए। जो लोग पुराने तिब्बत में बढ़े-पले हैं उनके लिए यह समझना मुश्किल भी है कि वहां क्या हो रहा है। अतः बेहतर

यही है कि इन समस्याओं से जूझने वालों पर स्मृतियों का बोझ न हो। इसके अतिरिक्त हमारे बच्चों की खातिर ही तो तिब्बत की अधिकारपूर्ण आजादी पुनः हासिल करने का संघर्ष चलाया जा रहा है। यदि इनकी इच्छा हो तो लड़ाई जारी रखें।

अप्रैल 1982 के शुरू में वार्ताकारों की एक तीन सदस्यीय टीम तिब्बत के भविष्य पर वार्ता करने हेतु धर्मशाला से बीजिंग गई। काशाग के तत्कालीन वरिष्ठ सदस्य जुचेन थुबतेन नामग्याल इसका नेतृत्व कर रहे थे। उसके साथ थे मेरे भूतपूर्व कुसुन देपोन फुत्सो ताशी ताकला जो 1951 में न्गाबो नावांग जिग्मे के दुभाषिए थे तथा तिब्बती पीपुल्स असेंबली के चेयरमैन लोदी ग्यालत्सेन ग्यारी। वहां वे चीनी सरकार के वरिष्ठ सदस्यों के इस नजरिए से मिले कि दोनों पक्ष अपनी-अपनी स्थिति स्पष्ट कर सकें।

तिब्बतियों द्वारा विचार-विमर्श के लिए ये नुक्ते सामने रखे गये। पहली बात तो यह कि हमारी मातृभूति से संबंधित ऐतिहासिक तथ्य। उन्होंने चीनियों को याद दिलाया कि इतिहास की बात करें तो तिब्बत हमेशा से चीन से अलग रहा है और इस तथ्य को बिना संशय मान्यता तब दी गई थी जब पेइचिंग ने सत्रह-सूत्री 'समझौता' लागू किया था। दूसरी बात वार्ताकारों ने यह रखी कि तिब्बत में 'प्रगति' की जोर-शोर से की गई अतिश्योक्तियों के बावजूद तिब्बती लोग पूरी तरह असंतुष्ट हैं। इन तथ्यों के आधार पर उन्होंने सुझाव रखा कि अब चीन पर निर्भर है कि वह नया

रास्ता खोजे जो सच्चाई स्वीकारता हो।

इन वार्ताकारों में से एक ने यह भी पूछा कि विभिन्न नस्ल के दृष्टिकोण से, यदि ज्यादा नहीं तो समान अधिकार भी तिब्बतियों को मिलने चाहिए या नहीं। उन अधिकारों से जितने चीनी सरकार ने कहा है कि वह ताईवान में अपनी जनता को देने को तैयार है। उसे कहा गया कि यह पेशकश ताइवान को इसलिए दी जा रही है क्योंकि वे अभी 'मुक्त' नहीं हुए जबकि "तिब्बत पहले ही समाजवाद के गरिमामय पथ पर जा रहा है।"

दुर्भाग्य से यह हुआ कि चीनियों के पास अपनी दमदार बात कहने के लिए कुछ भी न थी। इसलिए उन्होंने इन सदस्यों को भाषण पिलाया तथा हम पर तथ्य-खोजी मिशनों के प्रमाणों को सच्चाई विकृत करने का आरोप लगाया। वे सिर्फ दलाई लामा की वापसी तक ही अपनी बात सीमित रखना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने मेरी भांवी हैसियत इन पांच सूत्रों की सूची दी।

1. दलाई लामा को यकीन होना चाहिए कि चीन लंबी अवधि की राजनैतिक स्थिरता, निरन्तर आर्थिक प्रगति तथा सभी देशवासियों के बीच आपसी सहायता की अवस्था में प्रवेश कर चुका है।

2. दलाई लमा और उसके प्रतिनिधियों को केन्द्रीय सरकार के साथ स्पष्ट तथा गंभीर होना चाहिए तथा हवा में लट्ठ नहीं भांजना चाहिए। 1959 की घटनाओं पर अब और कोई हल्ला गुल्ला नहीं होना चाहिए।

3. केन्द्रीय अधिकारी दलाई लामा व उसके अनुयायियों की वापसी का हार्दिक स्वागत करेंगे। यह इस उम्मीद पर आधारित है कि वह चीन की एकता बनाए रखने, हान और तिब्बतियों तथा सभी देशवासियों के बीच सामाजिक सुदृढ़ता उन्नत करने तथा आधुनिकीकरण का प्रोग्राम उन्नत करने में योगदान देंगे।

4. दलाई लामा उसी राजनैतिक हैसियत तथा जीवन-शैली से रहेंगे जो उनकी 1959 से पहले थी। यह सुझाव दिया जाता है कि उन्हें तिब्बत जाकर रहने या वहां स्थानीय पद लेने की जरूरत नहीं हैं। वह समय-समय पर निस्संदेह ही तिब्बत जा सकते हैं। उनके अनुयायियों को अपनी नौकरियों तथा जीवन-यापन के बारे में चिन्ता की आवश्यकता नहीं हैं। ये पहले से बेहतर ही होंगी।

5. जब दलाई लामा लौटने की इच्छा करें तो वह प्रेस को एक संक्षिप्त बयान दे सकते हैं। यह तय करना उन पर निर्भर है कि वह बयान में क्या कहना चाहेंगे।

फिर इन प्रतिनिधियों के धर्मशाला लौट आने पर चीनी सरकार ने कार्यवाहीयों का काफी टेढ़ा वर्णन प्रकाशित किया जिसमें हमारे दृष्टिकोण का हवाला 'अलगाववादी', 'प्रतिक्रियावादी और "चीनी जनता द्वारा व तिब्बतियों द्वारा और भी ज्यादा सख्ती से विरोध किया गया" कह कर दिया गया था। ऐसा लगने लगा था कि तिब्बत के संबंध में चीन की 'नई' नीति उस नीति के मुकाबले सख्त हो चुकी है जिसके लचीले होने का 1970 वाले दशक के अंत में संकेत मिला था। एक पुरानी तिब्बती कहावत भी हैं "वे तुम्हे दिखायेंगे शक्कर, लेकिन मुंह में डालेंगे सीलबंद करने वाली लाख"

रही बात मुझसे संबंधित पांच सूत्रों की तो मैं स्वयं बिल्कुल नहीं जानता कि चीनी क्यों सोचते हैं कि अपनी व्यक्तिगत हैसियत को मैं ज्यादा महत्व देता हूं। हमारे संघर्ष में मैं कभी अपने लिए चिन्तित नहीं रहा बल्कि हमेशा मेरे साठ लाख साथी देशवासियों के अधिकारों, भलाई तथा आजादी की ही चिन्ता की है। मेरा इसके पीछे कारण सीमा या इसी तरह की कोई और बात को लेकर चिन्ता नहीं है। क्योंकि मैं विश्वास करता हूं कि मानव के लिए सबसे महत्वपूर्ण चीज उसकी सृजनशीलता है। मैं यह भी विश्वास करता हूं कि इस सृजनशीलता के योगय होने के लिए लोगों को आजाद रहने की आवश्यकता है। मैं निर्वासन में आजाद हूं। और मैंने इकतीस साल शरणार्थी रहकर आजादी की कुछ कीमत तो जानी भी है। इसलिए जब तक सभी तिब्बती अपने देश में इसी तरह मुक्त न हों, मेरा तिब्बत लौटना बेमानी है।

तो भी, चीनी प्रशासन के साथ इन अर्थहीन विचार-विमर्शों के बावजूद भी मैंने तय किया कि यदि बीजिंग को स्वीकार्य हो तो मैं तिब्बत की संक्षिप्त सी यात्रा करूंगा। मैं अपने लोगों से बात करना चाहता था और स्वयं असली हालात देखना चाहता था। जवाव अनुकूल रहा। इसलिए अगले वर्ष मेरी यात्रा के पहले 1984 में एक अग्रिम पार्टी को भेजने की तैयारियां शुरू कर दी गई।

इसी बीच यात्रा प्रतिबन्ध उठा लेने के कारण, तिब्बती बहुत संख्या में भारत पहुंचने शुरू हो गए। वे अभी जारी हैं हालांकि संख्या कम होती जा रही है।

लिखे जाने के समय तक 10 हजार लोग यात्रा कर चुके थे और आधे से ज्यादा, जिनमें अधिकतर युवा हैं और जो हमारे स्कूलों तथा मठीय विश्वविद्यालयों द्वारा दी जा रही शिक्षा का लाभ उठाना चाहते हैं, यहीं रह गए। इनमें से जो लोग लौट गए, उन्हें मजबूरीवश लौटना पड़ा था।

मैं तिब्बत से आये इन यात्रियों व नवागन्तुकों का स्वयं स्वागत करने की कोशिश करता हूं। तय है कि हमारी मुलाकातें भावुक होती हैं। अधिकतर लोग उदास, निर्दोष, चीथड़ों में असहाय हालत में आते हैं। मैं उनसे हमेशा उनकी अपनी व उनके परिवारों की जिन्दगी की बात करता हूं। और जवाब देते वक्त उनके आंसू छलक आते हैं। कुछ तो अपनी दयनीय कहानी कहते-कहते फूट-फूट कर रोने लगते हैं।

इस अवधि के दौरान मैंने काफी संख्या में तिब्बत से आये पर्यटकों से भी मिलना शुरू कर दिया। इतिहास में पहली बार विदेशियों, अधिकतर पश्चिमी लोगों को 'बर्फ की धरती' में सीमित यात्रा की अनुमति दी गई थी। दुर्भाग्य से चीनी अधिकारियों ने शुरू से ही भारी पाबंदियां लगा दीं। आरंभिक कुछ दिनों को छोड़कर, प्रवेश तब तक वास्तव में असंभव ही था

जब तक कि ग्रुप न जा रहा हो और वह भी अपना यात्रा मार्ग व कार्यक्रम तय करके। और प्रवेश पा जाने पर भी ये यात्री सीमित स्थानों पर ही जा पाते थे। फिर तिब्बतियों से संपर्क भी नगण्य ही था क्योंकि रहने की ज्यादातर जगहें चीनियों की थीं और वही इन्हें चला रहे थे। इन जगहों में काम करने वाले कुछेक ही तिब्बती थे और वे भी निम्न नौकरियों में मसलन नौकर तथा क्लीनर इत्यादि।

यह सब खराब बातें अब भी बनी हुई हैं। इससे बुरी बात यह है कि चीनी टूर-गाईड लोगों को वही मठ और इमारतें दिखाते हैं जो दोबारा बना दी गई हैं या बनाई जा रही हैं। वे यह नहीं देख पाते कि हजारों अभी खण्डहर ही पड़े हैं। यह सच है कि विशेषकर ल्हासा में और इसके आसपास पिछले दसेक सालों से पुनः बहाली का बहुत सा काम किया गया है। मैं यह सब किसी द्वेष भाव से नहीं कह रहा हूं। यह काम ज्यादातर पर्यटकों को दिखाने के लिए ही किया जा रहा है। क्योंकि हमें पता है कि इन पुनः निर्मित भवनों में काम करने वाले भिक्षुओं को अधिकारियों द्वारा सावधानीपूर्ण स्क्रीनिंग के बाद ही चुना जाता है। अध्ययन के बजाए उन्हें पुनः बहाली का काम करना होता है। इसके लिए धन मुख्यतः बाहरी लोगों द्वारा दिया जाता है। अतः यही संभव निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

अच्छी तरह से प्रशिक्षित गाईडों के कारण बेचारे पर्यटक इन बातों के बारे में कुछ सच्चाई नहीं जान पाते हैं। और यदि पूछ लिया जाये कि बहाली का इतना ज्यादा काम किस खुशी में किया जा रहा है तो वे अफसोस से बताते हैं कि सांस्कृतिक क्रान्ति की ज्यादतियां तिब्बत में भी पहुंच गई थीं और चीनी जनता चण्डाल-चौकड़ी के शासन के दौरान जो कुछ हुआ उसके लिए जरूरी सभी कदम उठा रही है। यह कभी नहीं कहा जाता कि अधिकतर विनाश सांस्कृतिक क्रान्ति से बहुत पहले ही कर दिया गया था।

आज़ाद शरणार्थी

बड़े अफसोस की बात है कि कुछ यात्रियों के लिए तिब्बत संभवतया सैर-सपाटे की जगह है। पासपोर्ट में एक मोहर और लगवा ली कि चलो यह भी देख लिया। अपनी जिज्ञासा शान्त करने को कुछ मठ देख लिए और

यदि थोड़ा बहुत शक हुआ भी तो वह भी खूब रंग-बिरंगे वस्त्रों में सजे तीर्थयात्री दूर कर देते हैं। लेकिन यह अधिकतर पर्यटकों के मामले में सच हो सकता है, सबमें नहीं। और यही तो बात है जिसमें तिब्बत के पर्यटन का असली फायदा है। इस बात का संबंध अर्थशास्त्र से या सांख्यिकी से नहीं है बल्कि, उन यात्रियों के कुछेक प्रतिशत से है जिनके पास असली कल्पना और जिज्ञासा है। कुछेक ऐसे भी हैं जो अपने साथियों को छोड़ खिसक जाते हैं और वे चीजें देखने लगते हैं जो उन्हें नहीं देखनी चाहिएं तथा इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि वह सूचना प्राप्त कर लेते हैं जो उनसे सुनने की उम्मीद नहीं की जाती।

1981 और 1987 के बीच तिब्बत जाने वाले पर्यटकों की प्रतिवर्ष संख्या 1500 से बढ़कर 43,000 हुई है। और बाद में लौटकर हमसे निर्वासन में मिलने वालों से हमें पता चला है कि चीन के काल्पनिक 'लचीलेपन' में कोई दम नहीं है। और यद्यपि अकेले में लोग चीनियों द्वारा हमारे देश पर कब्जे का विरोध करते हैं मगर सार्वजनिक रूप से ऐसा करने की हिम्मत नहीं करते। और फिर सूचना तक उनकी पहुंच भी नियन्त्रित है। यही हाल धर्म के पालन का है। यह देखने के लिए थोड़ी सी ही निगाह की जरूरत है कि तिब्बत एक पुलिस-राज्य बन चुका है और वहां लोगों को दासता स्वीकार कराने को भयाक्रान्त किया जाता है। इस प्रकार माओ की मृत्यु के तुरन्त बाद सच्चे सुधार के वादे के बावजूद लोग भय के साये में जी रहे हैं। और अब चीन से लाकर बसाए गए चीनियों की बढ़ती जनसंख्या के प्रवाह में उनके बह जाने का खतरा बना हुआ है।

कई लौटे हुए यात्रियों ने मुझसे मिलने पर बताया कि वे जाने से पहले चीन-समर्थक थे मगर वहां जाकर जो कुछ भी देखा अब उनके विचार बदल गए हैं। इसी प्रकार कईयों ने कहा कि यद्यपि वे मूलतः राजनीति में रुचि नहीं लेते. थे मगर अब उन्हें अपना दृष्टिकोण बदलने पर मजबूर होना पड़ रहा है। मुझे एक नार्वेजियन व्यक्ति की तो खूब याद है जिसने मुझे बताया कि शुरू में तो वह चीनियों द्वारा धर्म की तबाही के लिए उनका प्रशंसक था। मगर अब जब वह ल्हासा से दूसरी बार लौटकर आ रहा है तब वह देख पाया कि वहां क्या गुल खिल रहे हैं। उसने पूछा "आपकी जनता की सहायता के लिए क्या करना चाहिए?" जो तिब्बत से लौटकर मुझसे प्रश्न पूछते हैं, उन्हे मैं जो जवाब देता हूं वही उसे भी दिया कि

सबसे भला काम वह यही कर सकता है कि वह अपने द्वारा देखी सच्चाई को जितने अधिक लोगों को बता सके, बताये। इस तरह से तिब्बत की दुर्दशा के बारे में दुनिया का ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता जाएगा।

जो कुछ मैंने नवागन्तुकों या लौटे हुए पर्यटकों से मिलकर सुना था उसके बाद जब सितम्बर 1983 में मैंने तिब्बत और चीन में दमन की नई लहर के बारे में सुना तो मुझे खास हैरानी नहीं हुई।

ल्हासा, शिगात्से तथा ग्यांत्से में मृत्युदंड दिए जाने तथा चामदो व कारज़े में और गिरफ्तारियों की खबर थी। दिखावे के रूप में तो यह गाज़ "अपराधी या समाज-विरोधी तत्वों" पर गिरी थी मगर, इसका साफ अर्थ तो असंतुष्ट ही थे। लेकिन भले ही इससे चीनी अधिकारियों का दृष्टिकोण सख्त होता दिख रहा था तो भी इस खबर का एक सकारात्मक पहलू भी था। पहली बार तिब्बत में चीन की गतिविधियों की खबर का अन्तर्राष्ट्रीय प्रेस ने प्रसार किया था। प्रेस को पिछले ही दिनों तिब्बत में संवाददाता भेजने की अनुमति दी गई थी।

यह महसूस करके कि यह नया आतंक भी माओ युग के पुराने कठोर तरीकों की वापसी का संकेत है, शरणार्थी तिब्बतियों ने तीव्र विरोध किया। दिल्ली तथा देश भर की शरणार्थी बस्तियों में बड़े पैमाने पर प्रदर्शन किए गए। मुझे यह निर्णय कर पाने में जल्दबाजी लग रही थी कि यह क्रूरता कट्टरपंथियों द्वारा देंग सियाओ-पिंग के शासन के विरूद्ध जवाबी हमला है या कि तिब्बत पुनः अन्धेरे की गर्त में जा रहा है। लेकिन इतना साफ था कि मेरी यात्रा की अग्रिम पार्टी अब जा नहीं सकती थी। अतः मेरी भी यात्रा नहीं हो सकती थी।

1984 की मई तक यह स्पष्ट हो गया कि तिब्बत के मामले में चीन की नीति में सचमुच ही एक मुख्य परिवर्तन आया है। तिब्बत में चीनी कर्मचारियों की संख्या 85 प्रतिशत घटाने के हू याओबांग के वचन के

विपरीत, चीनियों को लाकर तिब्बत में बसाए जाने को प्रोत्साहन देने की जबरदस्त कोशिश होने लगी। 'विकास' के नाम पर 60 हजार प्रशिक्षित तथा अप्रशिक्षित मजदूरों को काम शुरू करने के लिए भर्ती किया गया तथा वित्तीय गारंटी, घर बनाने में सहायता दी गई और छुट्टियों में घर जाने हेतु सवेतन छुट्टी का वचन दिया गया। इसके साथ ही चीन के भीतर यात्रा प्रतिबन्धों में ढील के कारण, काम पाने के लालच में कई अन्य व्यक्ति भी चले आये। इस प्रकार तिब्बती कहावत कि 'जहां कहीं भी एक चीनी होगा दस पीछे चले आयेंगे' के अनुसार एक भारी भीड़ चली आई और अभी उतनी ही जारी है।

उसी वर्ष पतझड़ के अन्तिम दिनों में श्रीमती इन्दिरा की हत्या कर दी गई और तिब्बतियों ने एक सच्चा साथी खो दिया। लन्दन से दिल्ली होकर आते वक्त मैंने यह समाचार सुना तो मुझे बहुत गहरा आघात पहुंचा। उसी दिन तो मुझे उनके व जे: कृष्णमूर्ति के साथ दोपहर का भोजन करना था। उनकी जगह पद पर उनके बेटे राजीव बैठे। युवा नेता के रूप में अपने देश के लिए कुछ कर दिखाने तथा तिब्बती निर्वासित समुदाय के लिए जो कर पाते, करने को दृढ़ संकल्प थे।

राजीव गांधी दोस्ताना, विनम्र स्वभाव तथा बड़े अच्छे हृदय के व्यक्ति हैं। मैंने जब उन्हें पहली बार देखा तब की बहुत अच्छी तरह से याद है, 1956 की मेरी भारत यात्रा के दौरान मैं उनके नाना पण्डित नेहरू के यहां दोपहर के भोजन पर आमंत्रित था। जब प्रधानमंत्री मुझे अपना बगीचा दिखा रहे थे तो मैंने दो छोटे बच्चों को एक तंबू के पास बड़ी आतिशबाजी के साथ खेलते देखा। वे आतिशबाजी को आकाश में छोड़ने की असफल कोशिश कर रहे थे।

ये बच्चे राजीव व उनके छोटे भैया संजय थे। पिछले दिनों राजीव ने मुझे याद कराया कि मैंने उन दोनों को तंबू के भीतर बांध दिया था और उन्हें बड़ा मजा आया था।

इसके बाद एक साल भी न हुआ होगा कि लोबसंग साम्तेन की मृत्यु हो जाने से तिब्बतियों का एक बहुत बड़ा समर्थक छिन गया। वह सिर्फ 54 वर्ष के थे। मुझे गहरा दुःख होने के बावजूद भी एक प्रकार से मैं इस बात पर ज्यादा हैरान न था। पहले तथ्य खोजी मिशन के सदस्य के रूप में उनके अनुभवों ने उन पर बहुत प्रभाव डाला था। तिब्बती जनता के इतने साफ-साफ कष्टों और अप्रसन्नता के बावजूद भी तिब्बत के प्रति चीन की बेरुखी उन्हें समझ नहीं आती थी। पहले वह हंसी मजाक करते रहते थे, (उनमें उच्च स्तर का तथा फूहड़ मजाक करने की आदत थी) इसके बाद वह लंबे-लंबे समय तक दुख से भरे रहते। मुझे यह कहना भी अतिश्योक्ति नहीं लगता कि वह दिल टूटने से मरे थे।

मुझे लोबसंग साम्तेन की मृत्यु पर गहरा अफसोस था सिर्फ इसीलिए नहीं कि हम इतने करीब थे बल्कि इसलिए भी की उनकी घातक बीमारी के दौरान में उसके पास नहीं रह पाया। अन्तिम बार में उन्हें दिल्ली में मिला था, जहां वह तिब्बती चिकित्सा संस्थान के निदेशक के रूप में किसी काम के सिलसिले में आये थे। अपनी पत्नी के साथ बस द्वारा धर्मशाला लौटने के बजाए अपने काम के लिए उन्होंने एक दिन और ठहरने का तय किया। तब वह मेरे साथ वापस जाते। लेकिन स्टेशन पहुंचने पर उनका मन बदल गया। चूंकि उनका काम पूरा नहीं हुआ था इसलिए घर जाने की सवारी मिलने के बावजूद उन्होंने सोचा कि उन्हें वहीं ठहरना चाहिए। यह उनकी आदत ही थी। वह अपने हितों को कभी आगे रखकर नहीं सोचते थे। एक दिन बाद उन्हें फ्लू हो गया। बाद में यह पीलिया और निमोनिया में बदल गया तथा तीन हफ्तों के भीतर ही मृत्यु हो गई।

आज मैं जब कभी लोबसंग के बारे में सोचता हूं तो मुझे उनकी विनम्रता याद आती है। वह मुझसे आम तिब्बती जितने सम्मान से पेश आते और कभी मैं लौटकर आता या यात्रा पर जाने को होता तो वह मेरे निवास के गेट पर मेरा अभिवादन करने या यात्रा की शुभकामनाएं अर्पित करने अन्य व्यक्तियों के साथ ही पंक्तिबद्ध खड़े मिलते। वह केवल विनम्र ही नहीं थे बल्कि बहुत ज्यादा उदार भी थे। मुझे याद आता है कि एक बार कोई उनसे पूर्वी भारत में उड़ीसा की कोढ़ी कालोनी के बारे में कोई बात बता रहा था। मेरी तरह वह भी दूसरों को कष्ट से उबारने को समर्पित किसी प्रकार के काम से हार्दिक प्रभावित हो जाते थे। इसलिए जब मैंने उनसे

कहा कि मैं सोच रहा हूं कि निर्वासन में तिब्बती समुदाय उनकी सहायता के लिए कुछ कर सकता है क्या? तो वह आंसुओं में रोने लगे और बोले कि वह स्वयं जो कुछ कर सकते हैं, करने को तैयार है।

अमेरिका में मेरी 1979, 1981 और 1984 की यात्राओं के बाद उस देश के कई लोगों ने तिब्बत के लिए कुछ करने की इच्छा प्रकट की। इसके प्रत्यक्ष फलस्वरूप अमेरिकी कांग्रेस के 91 सदस्यों ने बीजिंग की 'पीपुल्स असेंबली' के तत्कालीन राष्ट्रपति ली जियाननियान को हस्ताक्षरित पत्रा भेजा

और चीनी सरकार तथा मेरे प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता के लिए समर्थन व्यक्त किया। पत्र में चीनी सरकार से मांग की गई कि वह "परमपावन दलाई लामा तथा उनकी जनता की न्यायसंगत इच्छा तथा औचित्यपूर्ण अपेक्षाओं पर हर तरह से विचार करे।"

पहली बार तिब्बत को औपचारिक राजनैतिक समर्थन मिला था इसी बात को मैंने उत्साहवर्धक संकेत समझा कि हमारे पक्ष के औचित्य को आखिरकार अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिलनी शुरू तो हो गई। इसका आगे प्रमाण दूसरे देशों में रुचि की वह लहर है, जिन्होंने ऐसे ही कदम उठाने शुरू किए।

तब शुरू 1987 में मुझे वाशिंगटन (डी.सी.) में अमेरिकी कांग्रेस के मानवाधिकार गुट को संबोधित करने का न्यौता मिला, जो मैंने खुशी से स्वीकार यिा। पतझड़ के दौरान यात्रा की एक तिथि निश्चित की गई। इसी बीच मेरे कई पुराने दोस्तों ने सुझाव दिया कि मुझे अवसर का लाभ उठाते वक्त तिब्बती पक्ष में कुछ निश्चित लक्ष्य सामने रखने चाहिएं जिनसे दुनिया के न्याय के समर्थक परिचित हो सकें। सलाह मुझे अच्छी लगी और मैंने उन विचारों को सूत्रबद्ध करना शुरू कर दिया जो पिछले कुछ वर्षों से मेरे दिमाग में थे।

मेरे अमेरिका रवाना होने से कुछ ही पहले कांग्रेस ने तिब्बत में मानवाधिकारों के उल्लंघन पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। इसमें ध्यान दिलाया गया था कि उसके 1985 में राष्ट्रपति ली जियाननियान को लिखे पत्र की अनदेखी की गई है "चीन के पीपुल्स रिपब्लिक द्वारा 'दलाई लामा की न्याय संगत इच्छा तथा औचित्यपूर्ण आकांक्षाओं पर' कोई ध्यान दिए जाने का प्रमाण नहीं है।"

मैंने अमेरिका पहुंचकर 21 सितम्बर 1987 को कैपिटल हिल पर अपना भाषण दिया। जिन प्रस्तावों की रूपरेखा मैंने दी थी, वे तब के बाद से पांच-सूत्री शान्ति योजना के नाम से जानी जाती है। ये पांच सूत्र हैं:-

1. सम्पूर्ण तिब्बत को एक शान्ति क्षेत्र में परिवर्तित किया जाए।

2. चीन द्वारा तिब्बत में अपनी जनसंख्या के स्थानान्तरण की नीति का परित्याग किया जाए जो तिब्बतियों के मूल अस्तित्व के लिए खतरा बन गई है।

3. तिब्बती जनता के आधारभूत मानवाधिकारों व लोकतांत्रिक आजादी के प्रति सम्मानजनक दृष्टिकोण अपनाया जाए।

4. तिब्बत के प्राकृतिक वातावरण की बहाली तथा सुरक्षा व चीन द्वारा तिब्बत में परमाणु हथियारों के निर्माण तथा परमाणु कचरा फेंकने जाने पर रोक लगे।

5. तिब्बत की भावी हैसियत व तिब्बतियों व चीनियों के संबंधो पर गंभीर वार्ता की शुरूआत हो।

इन प्रस्तावों को संक्षिप्त रूप से सामने रखने के बाद मैंने श्रोताओं से प्रश्न पूछने को कहा। कह चुकने के बाद मैंने कुछ लोगों को देखा जो मुझे ऐसे लगे मानो चीनी हों। मैंने उनसे पूछ ही लिया कि क्या वे चीनी हैं? हां कहने से पहले एक पल झिझकने के बाद उन्होंने बताया कि वे न्यू चाईना न्यूज एजेन्सी,

सिन्हुआ से आये हैं। उसके बाद से मैंने देखा है कि बीजिंग अपने व्यक्ति अवश्य भेजता है यह नोट करने के लिए कि मैं क्या बोलता हूं। अक्सर, ये आदमी व औरतें मुझसे व्यक्तिगत मित्रता दर्शाते हैं और कभी कभार ही वे नकारात्मक या व्यंग्यात्मक होते हैं। उन सबके चेहरे अपराध की भावना से विकृत होते हैं।

मैं पांच-सूत्री शान्ति योजना को थोड़ा और विस्तार से बताना चाहूंगा। इसका पहला सूत्र, मेरा प्रस्ताव कि खम व आम्दो पूर्वी प्रांतों समेत सारा तिब्बत अहिंसा के क्षेत्र में बदल दिया जाये, तिब्बत की शान्तिपूर्ण बौद्ध राष्ट्र की परंपरा के अनुरूप ही होगा। यह नेपाल के स्वयं को शान्ति क्षेत्र में परिवर्तित करने के एलान के अनुरूप भी होगा, जिसे पहले ही चीन का समर्थन मिल चुका है। इसे लागू कर देने से तिब्बत को उपमहाद्वीप की शक्तियों के बीच 'बफर' राज्य की ऐतिहासिक भूमिका दोबारा पाने में सहायता मिलेगी।

प्रस्तावित अहिंसा-क्षेत्र के निम्न मुख्य तत्व हैं:-

सारे तिब्बती पठार का असैन्यीकरण होना।

तिब्बती पठार पर आणवक हथियारों व अन्य अस्त्रों के निर्माण परीक्षण व संग्रह पर पाबन्दी हो।

तिब्बती पठार को विश्व के सबसे बड़े प्राकृतिक उद्यान में परिवर्तित करना। वन्य जीवों व वनस्पति के संरक्षण हेतु सख्त नियमों को लागू किया जाना (प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग सावधानी से नियंत्रित किया जाना ताकि वातवरण को नुकसान न पहुंचे) और आबादी वाले क्षेत्रों में वहन योग्य विकास की नीति अपनाया जाना।

आणविक शक्ति व अन्य तकनीकों का निर्माण व प्रयोग रोकना, जिनसे खतरनाक कचरा पैदा होता है।

राष्ट्रीय संसाधनों तथा नीति को शान्ति व पर्यावरण संरक्षण की सक्रिय उन्नति की तरफ निर्देशित करना। शान्ति व सभी जीवों के संरक्षण को बढ़ावा देने वाली संस्थाओं को तिब्बत में अच्छी जगह देना।

मानवाधिकारों की उन्नति व संरक्षण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व क्षेत्रीय संस्थाओं की स्थापना को तिब्बत में प्रोत्साहित किया जायेगा।

अहिंसा का क्षेत्र स्थापित हो जाने से भारत भी तिब्बत से लगने वाले सीमाई हिलामयी क्षेत्रों से अपने सैनिक तथा सैन्य छावनियां हटा सकेगा। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के तहत ही होगा जो चीन की सुरक्षा संबंधी न्यायसंगत जरूरतों को पूरी करेगा व इससे तिब्बती, भारतीय व चीनी लोगों के आपसी स्नेह तथा विश्वास को बढ़ावा मिलेगा। यह प्रस्ताव सभी के बेहतरीन हितों को ध्यान में रखकर किया गया है। विशेषकर चीन तथा भारत के क्योंकि इससे उनकी सुरक्षा स्थिति तो बेहतर बनेगी ही साथ ही सैनिक कारणों से पड़ने वाला आर्थिक बोझ भी काफी कम हो जायेगा। ऐतिहासिक नजरिए से देखें तो चीन व भारत के

संबंधों में कभी तनाव नहीं था। केवल उस समय जब चीनी सेनाएं तिब्बत में घुस आयीं तब भारत और चीन के बीच एक साझा सीमा बन गई थी। तब दोनों देशों में तनाव बढ़ने लगे जिनकी वजह से 1962 में युद्ध हुआ। उसके बाद से असंख्य खतरनाक हादसे होते ही रहे हैं।

विश्व के दो सबसे अधिक आबादी वाले देशों में बेहतर संबंधों की स्थापना में बड़ी मदद मिलेगी यदि दोनों एक-दूसरे से परे रह सकें-जैसा कि वे इतिहास में रहते आ रहे थे एक बड़े तथा दोस्ताना बफर देश के दो छोरों पर।

तिब्बती तथा चीनी जनता के आपसी संबंधों में बेहतरी लाने में पहली जरूरत विश्वास पैदा करने की है। पिछले तीन दशकों की तबाही में, जिस

दौरान अविश्वसनीय रूप से कोई साढ़े बारह लाख तिब्बती भुखमरी, फांसी, यातनाओं व आत्महत्या के कारण जान गवां बैठे और दसियों हजार युद्ध बन्दी कैम्पों में घिसटे। सो चीनी सेना के वापस बुलाये जाने से ही मेल-मिलाप की असली प्रक्रिया शुरू हो सकती है। तिब्बत में इतनी विशाल सेना की उपस्थिति, वहां के तिब्बतियों को अपने प्रतिदिन सही यातनाओं, दमन की याद ताजा कराती रहती है। सेनाओं की वापसी एक आवश्यक संकेत होगा कि भविष्य में चीनियों से सार्थक संबंध दोस्ती तथा विश्वास के आधार पर स्थापित किए जा सकते हैं।

बदकिस्मती से बीजिंग मेरे प्रस्ताव के इस प्रथम हिस्से को अलगाव की तरफ मेरा एक कदम मानता है जबकि मेरे दिमाग में ऐसी कोई बात ही नहीं। इस तर्कपूर्ण निष्कर्ष से मेरा कुल जमा मतलब इतना सा ही है कि यदि हमारी दोनों जनता के बीच सच्ची दोस्ती होनी है तो एक पक्ष या दूसरे को कुछ रियायत देनी होगी या कम से कम कुछ दोस्ती का हाथ तो बढ़ाना ही पड़ेगा। तिब्बत पीड़ित पक्ष है। हम तिब्बती सब कुछ तो गंवा बैठे हैं। अब हमारे पास चीनियों को देने के लिए कुछ भी नही बचा। इसलिए यही तर्कसंगत है कि आपसी विश्वास का माहौल बनाने के लिए बन्दूकों वालों को (चाहे वे बन्दूके छुपायें या न छुपायें) एक ऐसा क्षेत्र वापस बुला लिया जाए। यही तो असली शन्ति का क्षेत्र होगा जहां किसी के पास हथियार न हो। इससे चीनी अर्थव्यवस्था भी महत्वपूर्ण ढंग से ऊपर उठेगी। तिब्बत में भारी सेना तैनाती बनाए रखने पर इस विकासशील देश के स्त्रोंतों का काफी हिस्सा निकल जाता है।

मेरा पांच-सूत्री शान्ति योजना का दूसरा अंग उस बड़े खतरे से संबंधित है जो तिब्बत की विशेष नस्लीय पहचान पर मंडरा रहा है। यानी तिब्बत में चीनी जनसंख्या का बसाया जाना। मध्य 1980 के दशक तक यह स्पष्ट हो चुका था कि बीजिंग एक सोची-समझी नीति के तहत तिब्बत का 'चीनीकरण' कर रहा है जिसे कुछ लोगों ने चोरी छिपे का 'आखरी हल' कहा है। अपनी ही मातृभूमि में तिब्बती जनता महत्वहीन तथा मताधिकार से वंचित अल्पसंख्यक होकर रह गयी है। इसे रोका जाना चाहिए। चीनी जनता का इतनी भारी संख्या में तिब्बत में स्थानांतरण 'चौथे जेनेवा कन्वेंशन' का खुला उल्लंघन है। इसके परिणामस्वरूप हमारे देश के पूर्वी हिस्सों में चीनियों की संख्या तिब्बतियों से ज्यादा हो गई है।

आज़ाद शरणार्थी

उदाहरण के लिए किंघाई प्रांत जो आम्दो से बना है, जहां मैं पैदा हुआ था, वहां अब चीनी आंकड़ों के अनुसार 25 लाख चीनी हैं और सिर्फ साढ़े सात लाख तिब्बती। हमारी सूचना के अनुसार तथाकथित 'तिब्बत स्वायत्त क्षेत्र' (जिसमें केवल मध्य व पश्चिमी तिब्बत आता है) में भी चीनियों की संख्या तिब्बतियों से ज्यादा हो गई है।

जनसंख्या स्थानान्तरण नीति नई नहीं है। चीन ने योजनाबद्ध तरीके से इसे अन्य क्षेत्रों में भी लागू किया था। कोई ज्यादा अर्सा नहीं हुआ होगा कि मांचू एक भिन्न नस्ल थी और इसकी अपनी संस्कृति व प्रथाएं थी। आज मंचूरिया में सिर्फ बीस या तीस लाख मंचूरियन बचे हैं। और वहां साढ़े सात करोड़ चीनी बस गए हैं। पूर्वी तुर्किस्तान में जिसे चीनी अब शिजांग (सिंकियांग) कहते हैं, चीनी जनसंख्या 1949 में 2 लाख थी। यह बढ़कर अब कोई 70 लाख हो गई है जो कुल आबादी के आधे से ज्यादा है। भीतरी मंगोलिया के चीनी औपनिवेशीकरण के तहत चीनी 85 लाख हो गए हैं जबकि मंगोलियन केवल 25 लाख है। हमारा अनुमान है कि आज सारे तिब्बत में कोई 75 लाख चीनी होंगे जो कुल तिब्बती आबादी (लगभग साठ लाख) से ज्यादा हैं।

तिब्बती जनता के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि जनसंख्या का स्थानांतरण रोका जाये और बसे हुए चीनी लोगों को चीन लौटने की अनुमति दी जाये। अन्यथा शीघ्र ही तिब्बतियों की हैसियत पर्यटकों के आकर्षण तथा कुलीन भूतकाल के अस्थिअवशेष से ज्यादा न रहेगी। ऐसा लग रहा है कि यह पैसे का आकर्षण ही है जो चीनी वहां रह रहे हैं, क्योंकि वहां हालात बड़े कठिन हैं (सुना है कि चीनी आबादी में ऊंचे इलाकों वाली बीमारी फैली हुई है।)

मेरे प्रस्ताव का तीसरा अंग तिब्बत में मानव अधिकारों से संबंधित है। इनका सम्मान होना चाहिए। तिब्बतियों को पुनः सांस्कृतिक, बौद्धिक, आर्थिक व आध्यात्मिक विकास की आजादी मिलनी चाहिए तथा मूलभूत

लोकतांत्रिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। तिब्बत में मानव अधिकारों का उल्लंघन विश्व में सबसे गंभीर है। इसकी पुष्टि एमनेस्टी इन्टरनेशलन तथा ऐसे अन्य संगठनों ने की है। रंग भेद की नीति जिसे चीनी "अलग करो और हजम करो" कहते हैं के तहत तिब्बत में भेदभाव किया जा रहा है। अपने मूल लोकतान्त्रिक अधिकारों तथा स्वतन्त्रता से वचित वे उपनिवेशवादी प्रशासन तले जी रहे हैं जिसमें असली अधिकार केवल कम्युनिस्ट पार्टी के तथा चीनी सेना के कर्मचारियों के हाथों में हैं। यद्यपि चीनी सरकार तिब्बतियों को कुछ बौद्ध मठ बनाने तथा उनमें पूजा करने देती है मगर, फिर भी उसने धर्म सम्बन्धी सभी गंभीर अध्ययनों तथा शिक्षा की मनाही की हुई है। इस प्रकार मेरे द्वारा 1963 में घोषित संविधान के तहत जहां निर्वासन में तिब्बती अपने लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रयोग करते हैं, वहीं तिब्बत के भीतर धर्म में आस्था के कारण मेरे लाखों देशवासी जेलों और लेबर-कैम्पों में दु:ख भोग रहे हैं। तिब्बत में जो तिब्बती चीन के प्रति वफादारी दिखाता है उसे 'प्रगतिशील' कहा जाता है जबकि अपने देश के प्रति निष्ठा रखने वालों को 'अपराधी' कहकर कैद कर लिया जाता है।

मेरा चौथा प्रस्ताव मांग करता है कि तिब्बत के प्राकृतिक वातावरण की बहाली हेतु कदम उठाये जाए। तिब्बत को आणविक हथियारों के उत्पादन तथा आणविक कचरा फेंकने के लिए प्रयोग न किया जाये। तिब्बती सभी जीवों का आदर करते हैं। इस स्वभाविक भावना में वृद्धि करती है हमारी बौद्ध आस्था जो सभी जीवों को नुकसान पहुंचाने से रोकती है जीव चाहे आदमी हों या जानवर। चीनी आक्रमण से पहले तिब्बत अद्वितीय प्राकृतिक वातावरण में बसा सजीव, सुन्दर निर्जन वन और अभ्यारण्य था।

अफसोस की बात है कि पिछले कुछ दशकों में तिब्बत को लगभग पूरा तबाह कर दिया गया और कई स्थानों पर तो इसके वनों की अपूर्णीय क्षति हुई है। इससे तिब्बत के कोमल वातावरण पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा है विशेषकर इसलिए भी कि देश काफी ऊंचाई पर है तथा खुश्क है। यहां

वनस्पति की पुनः बहाली में निचले, नम इलाकों की अपेक्षा ज्यादा वक्त लगेगा। यही कारण है कि जो थोड़ा बहुत बचा है उसे बचाना चाहिए तथा चीन के द्वारा तिब्बती वातावरण की अधर्मी तथा मर्यादाहीन कोशिशों पर अंकुश लगाना चाहिए।

ऐसा करने के लिए पहली प्राथमिकता यह हो कि आणवक हथियारों के उत्पादन तथा आणविक कचरा फेंकने पर रोक लगे। प्रकटतया चीन की योजना न केवल अपना कचरा फेंकने की बल्कि पैसे के बदले में दूसरे देशों का कचरा भी आयात करने की है। खतरा साफ दिख रहा है कि न केवल वर्तमान बल्कि आने वाली पीढ़ियों को भी खतरा है। इससे भी बड़ी बात यह कि यह स्थानीय समस्या आसानी से सारे विश्व को विपत्ति में डालेगी। कचरे से निजात पाने के लिए इसे चीन को दे देने से समस्या का स्थायी हल नहीं निकलने वाला है।

तिब्बत के भावी दर्जे पर वार्ता के लिए मैंने विषय को खुलेपन तथा मैत्रीपूर्ण ढंग से छेड़ने की इच्छा व्यक्त की। इस नज़रिए के साथ कि एक ऐसा हल मिले जो प्रत्येक के लंबी अवधि के हित में हो तिब्बतियों, चीनियों तथा अन्ततः दुनिया भर के हित में। इस सब के पीछे मेरा उद्देश्य क्षेत्रीय शान्ति के माध्यम से विश्व शान्ति में योगदान देना है। मैंने चीनियों की महज आलोचना के लिए कुछ भी नहीं कहा है। इसके विपरीत जिस किसी तरीके से कर पाऊं, चीनियों की सहायता करना चाहता हूं। मैंने उम्मीद की थी कि मेरे सुझाव उनके लिए फायदेमन्द होंगे। बदकिस्मती से उन्होंने इसे अलगाववाद (यद्यपि, तिब्बत के भविष्य के संबंध में मैंने कहीं प्रभुसत्ता की बात नहीं की) की तरफ मेरा एक कदम समझा और बीजिंग ने तत्परता से कड़े शब्दों में मेरे वक्तव्य की निन्दा की।

इससे मुझे कोई ज्यादा हैरानी नहीं हुई। न ही तिब्बत की जनता की प्रतिक्रिया से मुझे ज्यादा हैरानी हुई। हालांकि ऐसी प्रतिक्रिया की मुझे उम्मीद नहीं थी। मेरे वाशिंगटन वक्तव्य के कुछ दिनों बाद ल्हासा में भारी प्रदर्शनों की खबरें आई।

-15-

सार्वजनिक उत्तरदायित्व और अच्छा दिल

मुझे बाद में खबर हो पाई कि मेरी पांच-सूत्री शान्ति योजना की बीजिंग द्वारा निंदा के तुरंत बाद सितम्बर व अक्तूबर 1987 के प्रदर्शन हुए। तिब्बती आजादी की बहाली की मांग लेकर हजारों तिब्बती लोग ल्हासा की सड़कों पर आ गये। जैसी उम्मीद की जा सकती थी, चीनी अधिकारियों ने हिंसा व क्रूरता से भरी प्रतिक्रिया की। प्रदर्शन खत्म करने के लिए हथियारबन्द पुलिस ने अन्धाधुंध गोलियां चलाकर कम से कम उन्नीस लोगों को मार डाला और इससे भी ज्यादा घायल हुए।

पहले-पहल तो चीनी गोली चलाने की बात से ही इनकार करते रहे। छह महीने बाद उन्होंने माना कि सुरक्षा बलों के कुछ सदस्यों ने भीड़ पर चेतावनी स्वरूप हवा में गोलियां चलाई थीं। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि इनमें से कुछ गोलियां इधर उधर गिरने के बजाए भीड़ पर जा लगी होंगी। मैंने जब यह बात सुनी तो सोच में पड़ गया कि वे कहीं कोई विशेष गुप्त हथियार की बात तो नहीं कर रहे हैं जिसमें से सिर्फ तिब्बती रक्त पीने वाली गोलियां निकलती हैं।

प्रदर्शन तथा उस पर क्रूर व निर्दयी गाज़ गिरने की खबरें दुनियाभर में फैल गई और 1959 के बाद से तिब्बत पहली बार खबरों की सुर्खियों में आया। घटना का पूरा विवरण मुझे कुछ समय बाद ही मिल पाया। और इसके लिए मैं उन मुट्ठीभर पश्चिमी पर्यटकों का आभारी हूं जो उस वक्त संयोगवश वहां थे।

इसके बाद उनमें से चालीस पर्यटकों ने एक ग्रुप बनाया और देखे गए अत्याचारों की रिपोर्ट जमा की। इससे मैंने जाना कि दोनों प्रदर्शनों का एक ही स्वरूप था। शुरू में मुट्ठीभर भिक्षु जोखांग मन्दिर के आगे नारा लागाने लगे "तिब्बत को आजादी दो।" शीघ्र ही इनमें सुर मिलाने को सैकड़ों और फिर हजारों लोग आ गये। अचानक सुरक्षा बलों की एक बटालियन आ पहुंची। बिना चेतावनी दिए उन्होंने साठ भिक्षुओं व व्यक्तियों को गिरफ्तार करके थाने में ठूंस दिया, जो आजकल जोखांग के ऐन सामने है। भीतर ले जाने से पहले उन्हें बुरी तरह पीटा भी गया।

इसी बीच कुछ लोग इनको छुड़ाने की मांग लेकर रक्षा कर्मचारियों के पास गये। अचानक दर्जनों जवान वीडियो कैमरा ले आये तथा भीड़ की तस्वीरें लेना शुरू कर दिया। पहचाने जाने के डर से बहुत से लोगों ने इन वीडियों वालों पर पत्थर फेंकने शुरू कर दिए। कुछ तिब्बतियों ने पुलिस वाहन उलटकर आग लगानी शुरू कर दी जबकि हथियार बन्द पुलिस वाले गोलियां चलाने लगे। अधिकतर जनता ने संयम का परिचय दिया लेकिन जब पुलिस वाले बन्दूकें छोड़कर भाग गए तो उन्होंने ये हथियार जमीन पर पटककर कर तोड़ डाले।

खेद है कि इस । अक्तूबर 1987 की गड़बड़ी में पुलिस स्टेशन को आग लगा दी गई। अपने साथियों को छुड़ाने के लिए हताश प्रदर्शनकारियों ने दरवाजे को जला डाला। उससे पहले पुलिस वाले बार-बार बाहर आकर लोगों को भीतर घसीट ले जाते और बुरी तरह पिटाई कर रहे थे।

आखिरकार भीड़ छंटी तो कई बच्चों समेत दर्जन भर तिब्बती मरे मिले। उस रात और अगली रातों को सैकड़ों लोगों को घरों से पकड़ा गया। इनमें से अधिकतर को पीटा गया, यातनाएं दी गई और एक रिपोर्ट तो चालीस को मृत्युदंड देने की बात भी कहती है।

आगे बढ़ने से पहले उन विदेशियों के लिए हार्दिक आभार प्रकट कर लूं जिन्होंने अपने इन्सानी भाईयों की कष्ट में सहायता करने के लिए अपनी

जान की बाजी लगा दी। हालांकि उनकी यह मजबूरी न थी। मानव की एकमात्र उम्मीद इस तरह मानवता का प्रदर्शन ही होती है। इनमें से कई भाई-बहनों ने गंभीर रूप से घायल तिब्बतियों की मदद के लिए बार-बार जान जोखिम में डाली। उन्होंने चीनी वहशीपन के असंख्य कार्यों की तस्तीरें लीं तथा गवाही दी। यद्यपि चीनी सरकार ने तत्परता से तिब्बत में उपस्थित न केवल पत्रकारों को बल्कि विदेशियों को भी निकाल दिया मगर अत्याचारों का समाचार विश्व भर में फैल गया। परिणामस्वरूप कई पश्चिमी सरकारों ने चीन को मानव अधिकारों का सम्मान करने तथा सभी राजनैतिक बन्दियों को छोड़ देने के लिए कहा। बीजिंग की सरकार ने कहा कि अशान्ति उसका अपना अन्दरुनी मामला है तथा अपने कार्यों की आलोचना सुनने से इनकार कर दिया।

चूंकि अब तिब्बत शेष विश्व से कट गया था इसलिए मुझे कई महीनों तक थोड़े बहुत समाचार ही मिले। मगर अब हमें पता है कि इन प्रदर्शनों के शीघ्र बाद चीनियों ने बड़े स्तर पर वैचारिक बदलाव लाने के लिए राजनैतिक 'पुनः शिक्षा' का कार्यक्रम शुरू कर दिया। उन्होंने अक्तूबर के अंत में एक जवाबी चीन समर्थक प्रदर्शन भी करवाने की कोशिश की और भाग लेने वालों को हफ्ते भर के भत्ते देने का लालच भी दिया। पर कोई भी आगे नहीं आया तो यह इरादा छोड़ना पड़ा। सूचनाओं को बाहर जाने से रोकने के लिए तिब्बत की सीमा भी चीनी सेना ने सील करने पर जोर लगा दिया। बीजिंग की सरकार ने नेपाल राज्य पर दबाव डाला और उस प्रभुसत्ता सम्पन्न सरकार ने चीनी जाल से बच निकले छब्बीस तिब्बतियों को गिरफ्तार करके वापस चीन को सौंप दिया।

आज़ाद शरणार्थी

इसी दौरान मुझे एक चीनी स्त्रोत ने (जो पर्यटकों की तरह करुणा व चीन सरकार के प्रति गुस्से से प्रेरित था) मुझे सूचना दी कि प्रदर्शनकारियों पर गोलियों चलाने के आदेश यकीनन ही दिए गए थे।

1988 के शुरू में चीनी अधिकारियों ने हमेशा की तरह मोन्लम उत्सव मनाने के निर्देश भिक्षु समुदाय को दिए। 1986 में ही इसे बीस वर्षों बाद

पुनः जीवित किया गया था। लेकिन भिक्षुओं ने इसे उचित नहीं माना क्योंकि कितने लोग तो जेल में थे। सो उन्होंने इस आदेश का प्रतिरोध किया। तब बीजिंग में केन्द्रीय सरकार ने आदेश दिया कि समारोह अवश्य कराए जाएं ताकि दुनिया को दिखाया जा सके कि तिब्बत में हालात सामान्य हैं। इसलिए भिक्षुओं को मजबूर किया गया। लेकिन चीनियों को ज्यादा गड़बड़ियों की आशंका भी थी। 28 फरवरी को बी. बी. सी. ने रिपोर्ट दी :-

"हजारों चीनी सुरक्षा बल ल्हासा क्षेत्र में ले जाये गये हैं और शहर भर की सड़कें बन्द हैं। रात को हथियारबन्द वाहनों के लंबे काफिले गश्त लगा रहे हैं और लोगों को लाऊड स्पीकरों के जरिए घर रहने की सलाह दे रहे हैं। एक सन्देश में तो बेरूखी से कहा गया था "यदि तुम दुर्व्यवहार करोगे, हम तुम्हें मार डालेंगे।"

उसके बाद मोन्लम से हफ्ता पहले रायटर (समाचार सेवा) के एक समाचार में कहा गया कि पचास सैन्य वाहन और हजार से ज्यादा चीनी पुलिस दंगाइयों से निपटने को पूरी तरह तैयार होकर जोखांग मन्दिर के सामने रिहर्सल कर रह रही है।

बढ़ते तनाव के बीच उत्सव शुरू हो गया। शुरूआती समारोह में बड़ी सैनिक उपस्थिति थी तथा हर भिक्षु के पीछे कोई दस सुरक्षा कर्मचारी जरूर होंगे। साथ ही सादे-वस्त्रों में पुलिस भी वीडयो कैमरे लिए भीड़ में घुसी थी। ऐसा भी लग रहा था कि सुरक्षा बल के कुछ सदस्य भी वेश बदले भीड़ में मौजूद थे। किसी ने सिर घुटा रखा था तो कोई विग पहने था ताकि लोग यह समझें कि ये या तो भिक्षु होंगे या ल्हासा से बाहर के व्यक्ति।

शुरू में तो शान्ति बनी रही मगर, 5 मार्च को कुछ सन्यासी युलु दावा सेरिंग नामक तुल्कू की रिहाई के नारे लगाने लगे जिसे पिछले अक्तूबर से बिना किसी आरोप के कैद किया हुआ था। फिर प्रार्थना उत्सव के अन्तिम भाग में, जिसमें मैत्रेय की मूर्ति को बारखोर के चारों तरफ घुमाया जाता है, जमा हुई भीड़ तिब्बत में चीनी उपस्थिति की निन्दा करने लगी तथा पास ही परेड कर रही पुलिस पर पत्थर फेंकने लगी। सुरक्षा बलों ने भी डण्डों-लाठियों से जवाब दिया। फिर सेना ने फायरिंग शुरू कर दी। मगर

इस बार अन्धाधुंध नहीं बल्कि, छांट-छांट कर कई प्रदर्शनकारियों को मारा। भागमभाग में सैंकड़ों तिब्बती हताहत हुए। दोपहर के आसपास पुलिस जोखंग पर टूट पड़ी तथा कम से कम बारह भिक्षुओं को काट डाला। एक की तो उन्होंने आंखें निकाल दीं और छत से नीचे फेंकने से पहले उसे बुरी तरह पीटा। तिब्बत का पूजाघर कसाईबाड़ा नजर आ रहा था।
अब तो ल्हासा के तिब्बतियों में कोलाहल मच गया तथा

रात में कोई बीस चीनी दुकानें, जिनके मालिक बार-बार तिब्बतियों के प्रति नकारात्मक रूख दिखाते थे, जला डाली गई। साथ ही सुरक्षा बलों ने भी हमले किए और सैंकड़ों पुरुषों-महिलाओं तथा बच्चों को घसीट ले गए।

चूंकि उस समय तिब्बत में मुट्ठीभर पश्चिमी थे और पत्रकार कोई भी न था, सो बहुत थोड़ी खबर समाचारपत्रों तक पहुंची। मुझे भी कई हफ्तों बाद विवरण मिल पाया। इसी बीच यह तो शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि पिछले पतझड़ से इस बार की गड़बड़ी पैमाने में भी ज्यादा थी और गंभीरता में भी। परिणामस्वरूप, दो हफ्तों का कर्फ्यू लगाया गया तथा इसके दौरान 2500 गिरफ्तारियां की गई और ल्हासा की सारी तिब्बती जनता को डराया-धमकाया गया।

तिब्बती जनता के हताश प्रदर्शन पर मुझे फिर ज्यादा हैरानी नहीं हुई। मगर चीन के हिंसक प्रत्युत्तर पर मुझे धक्का जरूर लगा। विश्व ने वही नाराजगी भरी राय प्रकट की थी और बहुत कम सूचना उपलब्ध होने के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय प्रेस ने इस अशान्ति को खूब महत्व दिया था। उधर चीनी सरकार की राय पहले जैसी थी कि यह बीजिंग सरकार का अन्दरूनी मामला है। उन्होंने प्रर्दशनों की निन्दा 'प्रतिक्रियावादी अलगाववादी' कहकर की थी तथा मुझे 'खतरनाक अपराधी' बताया था। उन्होंने कहा कि दलाई लामा ने ही दंगाइयों को उकसाया था और उसी ने दंगों की खातिर तिब्बत में अपने एजेन्ट भेजे थे। इसकी तो मुझे उम्मीद थी

ही मगर मैं परेशान इस बात पर था कि दोनों प्रर्दशनों में विदेशियों की महत्वपूर्ण भूमिका का आरोप चीनी खुल्लमखुला लगाने लगे थे।

मुझे मोन्लम प्रदर्शनों की पूरी सूचना ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लार्ड एन्नलस से मिली जो ल्हासा में मोन्लम के लगभग एक महीने बाद पहुंचे थे। बीजिंग सरकार द्वारा मंजूर स्वतन्त्र प्रतिनिधिमण्डल के नेता के रूप में वह तिब्बत में मानवाधिकारों की स्थिति की जांच करने गये थे। उन्हें अपनी टीम के सदस्यों के साथ यह देखकर आघात लगा कि तिब्बती जनता के विरूद्ध गंभीर मानवाधिकार उल्लंघन जारी हैं। इन सदस्यों को प्रदर्शनों के बाद कैदियों के उत्पीड़न तथा शारीरिक अपमान के भी अखण्डनीय प्रमाण मिले, जिनका पूरा विवरण उन्हें असंख्य चश्मदीद गवाहों से मिला। 'इन्टरनेशलन-अलर्ट' नामक संगठन द्वारा प्रकाशित उनकी रिपोर्ट में इस कांड की व्याख्या "एक संकट जिसे तीव्र व सकारात्मक प्रत्युत्तर चाहिए" के रूप में की गई थी।

जिस समय वह तथ्य खोजी मिशन तिब्बत में था, मैं उस वक्त तिब्बती बौद्ध मत में रुचि रखने वाले कई गुपों के न्यौते पर ब्रिटेन गया हुआ था। वहां रहते मैं तिब्बती दुर्दशा के बारे में मीडिया की तीव्र व सहानुभूतिपूर्ण रुचि से बहुत प्रभावित हुआ। बाद में 1988 में यूरोपियन पार्लियामेन्ट में मेरे भाषण के लिए कुछ राजनीतिज्ञों के आमंत्राण पर भी मैं बहुत प्रसन्न हुआ। संयोगवश उसी वक्त कई पश्चिमी नेता तिब्बत के भविष्य पर मुझसे वार्ता के लिए चीन को कह रहे थे।

यह सोचकर कि इस आमन्त्रण से मुझे अपनी पांच-सूत्री शान्ति योजना पुनः बताने तथा विशेषकर इसके पांचवे अंग के विस्तार का मौका मिल रहा है, मैंने

स्वीकृति दे दी। जून 1988 को स्ट्रॉसबर्ग में अपने वक्तव्य में मैंने कहा कि कुछ विशेष परिस्थितियों में सारा तिब्बत चीन के पीपुल्स रिपब्लिक के संगठन में रह सकता है, विदेशी मामलों व सीमित रक्षा निर्देश भी तब तक

बीजिंग से मिलते रहें जब तक क्षेत्रीय शान्ति कान्फ्रेंस न हो। उसके बाद सारा तिब्बत शान्ति का क्षेत्र कहलाएगा। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि चीनी अधिकारी जहां कहीं भी चाहे निर्वासन की तिब्बती सरकार उनसे वार्ता को तैयार है। लेकिन मैंने इस बात पर जोर दिया था कि यह सिर्फ प्रस्ताव भर है। अंतिम निर्णय तो मैं नहीं बल्कि तिब्बती जनता ही लेगी।

बीजिंग का रुख फिर नकारात्मक रहा। मेरे वक्तव्य की निन्दा की गई तथा मुझे बोलने देने के लिए यूरोपियन पार्लियामेन्ट की कड़ी आलोचना की गई। हां, 1988 के पतझड़ में एक अच्छी बात यह हुई कि चीनियों ने इशारा किया कि वे तिब्बत के भविष्य पर दलाई लामा से बातचीत करना चहते हैं। पहली बार उन्होंने केवल दलाई लामा की हैसियत की बात नहीं करनी चाही थी बल्कि तिब्बत की भी बात करनी चाही थी। जगह मुझे चुननी थी। मैंने तुरन्त एक टीम नामांकित करके कहा कि बातचीत 1989 की जनवरी में जेनेवा में हो सकती है। जेनेवा चुनने के पीछे कारण सिर्फ इतना था कि मेरी उपस्थिति की जरूरत होने पर मैं स्वयं वार्ता में भाग ले सकता था।

दुर्भाग्य से बातचीत पर सिद्धान्ततः सहमत होने से पहले ही चीनियों ने शर्तें तथा एतराज लगाने शुरू कर दिए। शुरू में तो उन्होंने बीजिंग में वार्ता के लिए जोर दिया। फिर शर्त लगाई कि वार्ता टीम का सदस्य कोई विदेशी नहीं होगा। आगे कहने लगे कि वे निर्वासन में तिब्बती सरकार के किसी कर्मचारी से बात नहीं करेंगे। क्योंकि वे इसे मान्यता नहीं देते। फिर उन्होंने कहा कि वे उससे भी बात नहीं करेंगे जिसने कभी तिब्बती आजादी की मांग की हो। आखिरकार कहने लगे कि वे सिर्फ मुझसे ही बात करेंगे। मुझे बड़ी निराशा हुई। बातचीत का वादा करके अब वे इसे असंभव बना रहे थे। जब मैं चीनियों से बात करने का अनिच्छुक नहीं था तो पहले मेरे प्रतिनिधियों से प्रारंभिक बात करने की तुक भी थी। आखिरकार जेनेवा पर सहमति हो गई मगर जनवरी 1989 आया और आकर यूं ही चला गया।

28 जनवरी 1989 को समाचार आया कि पंचेन लामा बीजिंग से तिब्बत की यात्रा में मर गए। यात्रा से पहले वे लगातार बीजिंग में ही रहते रहे। वे

केवल 53 साल के थे। मैं बहुत उदास हुआ। मैंने महसूस किया कि तिब्बत ने एक सच्चा स्वतन्त्रता सेनानी खो दिया। इस बात से इनकार नहीं कि कुछ तिब्बती उन्हें विवादास्पद व्यक्ति मानते थे। दरअसल 1950 के दशक के शुरू में जब वह बहुत छोटे ही थे तब मुझे शक हुआ था कि चीनियों के पक्ष में होकर वह स्थिति अपने पक्ष में करने की सोचते हैं। मगर मुझे विश्वास है कि उनकी देशभक्ति सच्ची थी। और यद्यपि चीनियों ने 1978 में उन्हें जेल से रिहा करने के बाद कठपुतली की तरह प्रयोग किया था तो भी वह आखिर तक उनका विरोध करते रहे।

सिन्हुआ समाचार एजेंसी के अनुसार उन्होंने एक भाषण मृत्यु से पहले दिया जो चीनी अधिकारियों द्वारा तिब्बत में की गई "कई गलतियों" का कड़ा आलोचक था। यह वीरतापूर्ण आखरी कार्य था।

दो दिन बाद वह आखरी बार ताशिल्हुंपो मठ में आए जहां अपने पूर्वाधिकारियों की समाधियों को पवित्र करने के शीघ्र बाद उन्हें घातक हृदयाघात लगा। कईयों ने महसूस किया कि पंचेन लामा की मृत्यु संकेत थी उनके सच्चे आध्यात्मिक स्वामी होने की।

यद्यपि मैं उनकी मृत्यु से पहले उनसे नहीं मिल पाया मगर मैंने तीन बार पंचेन लामा से फोन पर बात की थी। दो बार मैंने पेइचिंग में उनके दफ्तर में बात की थी जहां उन्हें राष्ट्रीय अंसेबली में नियुक्त किया गया। और एक बार तब जब वह बाहर गए थे। पेइचिंग में उसकी बातचीत पर कान रखे जा रहे थे। मुझे इस बात का पता था क्योंकि दूसरी बात के कुछ हफ्तों बाद इस वार्ता को थोड़ा संपादित करके चीनी अखबारों में छापा गया था। लेकिन आस्ट्रेलिया में उन्होंने अपने अनुचर को पूर्व-निर्धारित समय पर चकमा देकर अकेले में बात की थी। मैं उस समय जर्मनी में था। हम ज्यादा देर बातें नहीं कर पाये मगर इससे मैं आश्वस्त हो गया था कि पंचेन लामा अपने धर्म, जनता और देश के प्रति सच्चे रहे। इसलिए जब मैंने ल्हासा से उनके बारे में बुरी खबरें सुनी तो मुझे चिंता न हुई। वहां व्यापार में काफी रुचि लेने के कारण उसकी आलोचना हो रही थी। यह

भी कहा जाता था कि उन्होंने एक पत्नी भी बना ली है।

उनकी मृत्यु के बाद दाह-संस्कार के लिए मुझे चीन की एक बौद्ध सोसायटी का निमन्त्रण मिला। इसका अर्थ था सरकारी यात्रा पर चीन जाना। मैं जाना तो बहुत चाहता था मगर यह सोचकर झिझक गया कि यदि मैं गया तो जरूर तिब्बत के बारे में कोई वार्ता होगी। योजनानुसार जेनेवा वार्ता हो गई होती तो मैं इसे ही सही अवसर मानता। लेकिन मैंने इन परिस्थितियों में जाना अनुचित समझा और खेद सहित इनकार कर दिया।

इसी बीच चीन की टालमटोल का अवश्यम्भावी नतीजा निकला। 5 मार्च 1989 के बाद ल्हासा में तीन दिन और प्रदर्शन हुए। मार्च 1959 से भरे असंतोष की वजह से दसियों हजार लोग सड़क पर उतर आए। अपनी रणनीति बदलकर चीनी सुरक्षा बल पहले दिन किनारों पर रहकर ही विडियो फिल्म लेते रहे जो उस रात टी. वी. पर दिखाई गई। अगले दिन उन्होंने डण्डों तथा अन्धाधुंध गोलियों का सहारा लिया। गवाहों ने उन्हें तिब्बती घरों में स्वचालित हथियार चलाकर पूरे परिवारों को ही खत्म करते देखा।

बदकिस्मती से तिब्बतियों ने बदले में न केवल पुलिस और सुरक्षा बलों पर बल्कि कुछ मामलों में निर्दोष चीनी नागरिकों पर भी हमला किया। इससे मैं बहुत उदास हुआ। तिब्बतियों को हिंसा का सहारा लेने की क्या जरूरत थी? यदि चीनी चाहते तो अपने 100 करोड़ लोगों की सहायता से हमारी साठ लाख जनता का समूल नाश कर सकते थे। यदि जनता अपने दुश्मनों को समझने की कोशिश

करती तो ज्यादा सकारात्मक होता। माफ करना सीखना ज्यादा फायदेमंद है, न कि यह कि उत्तेजना पर पत्थर उठाया और मारकर गुस्सा निकाल लिया। लेकिन असलियत में मैं यह मानता हूं कि सबसे कठिन परिस्थितियों में ही अपने और दूसरों के लिए अच्छा करने की संभावना

होती है।

मैं यह भी जानता हूं कि ऐसे शब्द ज्यादातर लोगों को यथार्थवादी नहीं लगेंगे। यह बहुत ज्यादा कुर्बानी की मांग हुई। तिब्बतियों से यह कुर्बानी मांगना ठीक नहीं क्योंकि वे अपना दैनिक जीवन इतने कष्टों में बिता रहे हैं कि चीनियों से प्यार नहीं कर सकते। इसलिए भले ही में हिंसा को माफ नहीं करूंगा मगर फिर भी इतना तो मानता हूं कि थोड़ी बहुत मात्रा में तो यह होगी ही। दरअसल मैं अपनी जनता के साहस की प्रशंसा भी करता हूं और सम्मान भी। प्रदर्शनों में शामिल होने वाले अधिकतर औरतें, बच्चे व वृद्ध थे। क्योंकि पहली रात सैकड़ों पुरुष पकड़ लिए गए थे। सो दूसरे और तीसरे दिन उनके परिवार प्रदर्शन करते रहे। उनमें से कई अब मर चुके होंगे। काफी जेलों में होंगे और रोजाना पिटाई व यातना झेल रहे होंगे।

भला हो उन थोड़े से बहादुर विदेशियों का जो उस समय ल्हासा में मौजूद थे। इनमें से कुछ को थोड़ी बहुत दिक्कत भी हुई लेकिन उनके कारण इस प्रदर्शन की खबरें तुरन्त बाहर की दुनिया तक पहुंच गई। पहले की तरह तिब्बत को भरपूर समर्थन मिला। अमेरिका, फ्रांस और यूरोपीय संसद ने चीनी प्रतिशोध की निन्दा की, जिसके कारण कम से कम ढाई सौ निहत्थे तिब्बतियों को मार दिया गया था और असंख्य घायलों की तो गिनती ही क्या। कई सरकारों ने 'गंभीर चिंता' प्रकट की और इसके बाद 8 मार्च को थोपे गए मार्शल लॉ की व्यापक आलोचना हुई।

ल्हासा में मार्शल-लॉ लागू करने का चीन का विचार भयानक था क्योंकि 26 अक्तूबर 1951 के बाद से ही ल्हासा शहर सैनिक शासन में था। ल्हासा में जब पहले चीनी सैनिक आए थे तब वे इस शहर को बूचड़खाने में, हिमालयी शियाकारगाहों में बदलना चाहते थे। इसलिए दो दिन बाद तिब्बती जनक्रांति की तेरहवीं वर्षगांठ पर मैंने देंग सियाओ पिंग को अपील भेजी कि वह मार्शल लॉ उठवाने के लिए तथा निर्दोष तिब्बतियों के दमन को रुकवाने के लिए दखल दें। उसने कोई जवाब ही नहीं दिया।

ल्हासा में प्रदर्शनों के कुछ हफ्तों के भीतर ही चीन में भी जनक्रांति हुई। मैंने वहां की खबरों को अविश्वास व भय से सुना और खास बेचैन तब हुआ जब कुछ प्रदर्शनकारियों ने भूख हड़ताल शुरू कर दी। ये विद्यार्थी प्रतिभावान गंभीर और निर्दोष थे तथा अभी पूरा जीवन उनके सामने था।

उनकी टक्कर थी उस सरकार से जो पूर्णतया अड़ियल, क्रूर व रूखी थी। साथ ही में चीनी नेतृत्व की प्रशंसा किए बिना न रह सका। उन धूर्त, मूर्ख वृद्धों की जो इस भयानकता और संकल्प के साथ अपने विचारों से चिपके थे यह जानते हुए भी कि उनकी व्यवस्था चरमरा रही है और साम्यवाद विश्व भर में असफल हो रहा है। इसके बावजूद भी कि मुख्य द्वार पर लाखों प्रदर्शनकारी हैं, वे अपनी आस्था को थामे हुए थे।

प्रदर्शन खत्म करने के लिए आखिरकार जब सेना लगा दी गई तो मेरा व्याकुल होना स्वभाविक ही था। लेकिन राजनैतिक रूप से यह गणतान्त्रिक आन्दोलन के लिए एक अस्थाई धक्का ही था। हिंसा का सहारा लेकर चीनी अधिकारियों ने जनता का छात्रों के प्रति प्रशंसा भरा दृष्टिकोण बनाने में मदद ही की थी। ऐसा करके उन्होंने चीन में साम्यवाद का जीवन आधे से दो तिहाई घटा दिया था। साथ ही उन्होंने संसार को अपने तरीकों की सच्चाई भी दिखा दी थी कि चीन द्वारा मानवाधिकारों के दुरूपयोग के तिब्बती दावे पर अब और अविश्वास नहीं किया जा सकता।

व्यक्तिगत स्तर पर मुझे देंग सियाओ पिंग के लिए थोड़ा सा अफसोस है। उसकी प्रतिष्ठा को हुए नुकसान की पूर्ति अब संभव नहीं क्योंकि 1989 के नरसंहार के बिना उसका नाम इतिहास में अपने देश के महान नेताओं में होता। मैं उसके उप-नेताओं पर भी अफसोस करता हूं जिन्होंने एक दशक के छवि निर्माण की मेहनत के बाद अनजाने में ही दुनिया भर में चीन की प्रतिष्ठा नष्ट करा ली। ऐसा लगता है कि वे लोगों में प्रचार करने के बजाए खुद ही के प्रचार में ज्यादा लगे रहे।

जहां दुनिया में अन्यत्र अद्भुत बातें हो रही थीं वहीं दूसरी ओर 1989 में ल्हासा में मार्शल लॉ लागू किया गया। इस बात ने उतना उदास कभी न किया जितना तब जब पतझड़ में अमेरिका की एक यात्रा में मुझे पता चला कि मुझे शान्ति के लिए नोबेल पुरस्कार मिला है। हालांकि इस खबर से मुझे ज्यादा फर्क नहीं पड़ता था मगर मैंने समझा कि इसका मतलब तिब्बती जनता के लिए काफी होगा आखिरकार इस पुरस्कार के वास्तविक 'विजेता' तो वही थे।

करुणा और क्षमा तथा प्यार के महत्व की अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता को देख मुझे सन्तोष होता है। और फिर मुझे इस बात की भी खुशी थी कि कई देशों के लोग स्वयं जान रहे थे कि शान्तिपूर्ण परिवर्तन भी संभव है। भूतकाल में लोगों को अहिंसक क्रान्ति का विचार शायद आदर्शवादी और अव्यवहारिक लगता था। लेकिन इसके विपरीत इस उत्साहजनक प्रमाण से मुझे सुख मिला।

चेयरमैन माओ ने एक बार कहा था कि राजनैतिक सत्ता बन्दूक की नाल से निकलती है। वह पूरा ठीक नहीं था क्योंकि बन्दूक की नली से मिली सत्ता कुछ समय काम देती है। अन्त में जीत जनता की सच्चाई, न्याय, आजादी तथा प्रजातन्त्र के प्रति प्यार की होती है। सरकारें बेशक कुछ भी करें लेकिन अंत में जीत मानव उत्साह की ही होती है।

इस सच्चाई का प्रत्यक्ष अनुभव मुझे उस दिन हुआ जब मैं 1989 के अन्त में बर्लिन गया जिस दिन इगोन क्रांज की हार हुई थी। पूर्व जर्मन अधिकारियों के सहयोग के कारण ही में दिवार के पास जा सका। मैं वहां खड़ा अभी भी संचालित एक सुरक्षा चौकी के सामने देख रहा था कि एक बूढ़ी औरत ने मुझे चुपचाप एक लाल मोमबत्ती ला दी। भावनाभिभूत होकर मैंने इसे जलाकर उठा लिया। एक पल तो यह नन्हीं नाचती ज्वाला थरथराई। मगर यह जलती रही।

और मेरे आस पास की भीड़ मेरे हाथों को छूने का प्रयास करने लगी। और मैं प्रार्थना करता रहा कि करुणा व जागरुकता की ज्योति संसार को प्रकाशमय कर दे तथा भय और दमन का अन्धेरा दूर हटे। इस पल को मैं हमेशा याद रखूंगा।

कुछ ही हफ्तों बाद भी ऐसी ही एक घटना हुई जब मैं चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति हावेल का मेहमान बना जो राजनैतिक गतिविधियों के कारण जेल की सजा से छूट कर ही आए थे और राष्ट्रपति हो गए थे। पहुंचने पर

भावुक भीड़ ने मेरा स्वागत किया। कई लोगों ने जब हाथ हिलाया और विजय संकेत दिया तो उनकी आंखों में आंसू थे। और मैंने उस समय देखा कि वर्षों के अधिनायकवाद के बावजूद ये जिन्दगी से लोग भरपूर थे और नव विजित आजादी से खूब प्रसन्न ।

मैंने चेकोस्लोवाकिया में आमंत्रित होने से सम्मानित महसूस किया। मुझे न केवल एक राज्य के अध्यक्ष ने पहली बार बुलाया था बल्कि उस व्यक्ति ने भी बुलाया था जो हमेशा सत्य को समर्पित रहा था। मुझे नये राष्ट्रपति बहुत भद्र, पूर्णतया ईमानदार, विनम्र और हास्य से भरपूर लगे। उस शाम डिनर में वह बीयर का गिलास पीते तथा सिग्रेट थामे बता रहे थे कि वह छठे दलाई लामा के समान हैं, दुनियादारी के प्रति लगाव वाले। इससे मुझे चेकोस्लावाकिया में एक और क्रान्ति की संभावना लगी कि भोजन के समय धूम्रपान कम किया जाये। लेकिन राष्ट्रपति ने इससे भी ज्यादा इस बात से प्रभावित किया कि उनमें दिखावे की आदत नहीं थी। अपने नए पद से वह अप्रभावित लग रहे थे और उनकी निगाहें तथा बातें सच्चाई की झलक दे रही थीं।

एक अन्य व्यक्ति जिनसे 1990 के शुरू में मैं मिला और बहुत प्रभावित हुआ वह थे बाबा आम्टे जिन्होंने दक्षिणी भारत में एक गांव की स्थापना की थी। उस बंजर व सुनसान जमीन पर उन्होंने एक गांव बसा दिया था जो वृक्षों, गुलाब के बगीचे, सब्जी की बगीची से घिरा था और जहां वृद्ध आश्रम, स्कूल तथा वर्कशाप भी थे। इतनी उपलब्धि ही काफी है मगर इसमें विस्मरणीय बात तो यह है कि पूरा गांव अपंग लोगों ने बसाया था।

मैं इसमें घूमा और इस बात से प्रभावित हुआ कि वहां ऐसा कुछ भी न था जिसमें अपंगता के कारण कोई कमी हो। एक छप्पर में एक श्रमिक साईकिल मरम्मत कर रहा था। कुष्ठ पीड़ित हाथों में छैनी हथौड़ा थामे वह पूरी ताकत के साथ जुटा था और मुझे लगा कि दिखावा कर रहा है। लेकिन उसके भरेपूरे आत्मविश्वास ने साफ कर दिया कि जोश और उचित संगठन हो तो ये लोग इज्जत पा सकते है और समाज के उत्पादक सदस्य बन सकते हैं।

बाबा आम्टे अतिविशिष्ट व्यक्ति हैं। लंबे जीवन में उन्होंने खूब शारीरिक कष्ट उठाये हैं वह स्वयं भी वास्तव में निर्बल हैं, रीढ़ की हड्डी में दिक्कत

के कारण वह या तो लेटे रह सकते हैं या सीधे खड़े हो सकते हैं। तो भी उनमें इतनी उर्जा है कि उतना काम में स्वस्थ होने के बावजूद नहीं कर सकता। मैं उनका हाथ थामे चारपाई पर बैठा था और वह लेटे-लेटे बातें कर रहे थे। तब मैंने देखा कि वह सचमुच ही करुणा की मूर्ति हैं। मैंने उन्हें बताया कि जहां मेरी

करुणा महज बातों तक ही सीमित है, उनकी करुणा उनके हर काम में चमकती है। इस पर बाबा ने कहानी बताई कि कैसे उन्होंने अपना जीवन दूसरों की सेवा में समर्पित करने का निश्चय किया। एक दिन उन्होंने एक कोढ़ी देखा जिसकी आंखों की जगह अब केवल कीड़े रेंग रहे थे। उनके लिए यही बहुत था।

मानवता के ऐसे उदाहरण मुझे यकीन दिलाते हैं कि चीन के पीपुल्स रिपब्लिक द्वारा एक दिन मेरी जनता के भी कष्टों का अन्त होगा। क्योंकि कई करोड़ चीनी हैं। उनमें से यदि कुछ हजार क्रूरता में लगे होंगे तो कई लाख चीनी दयालुता भी कर रहे होंगे।

खैर ! मैं तिब्बत की वर्तमान हालत नहीं भूल सकता क्योंकि आज असंतोष तथा दमन ल्हासा तक ही सीमित नहीं है। सितम्बर 1987 और मई 1990 के बीच कोई अस्सी से ज्यादा अलग-अलग प्रदर्शनों की खबरें मिली हैं। कईयों में मुट्ठी भर से ज्यादा प्रदर्शनकारी भी न थे और सभी का अन्त रक्तपात में भी नहीं हुआ। परन्तु परिणामस्वरूप मेरे देशवासी आतंक के नये राज में पिस रहे हैं। स्वयं राजधानी में, जहां अब चीनी संख्या तिब्बतियों से ज्यादा है, पिछले दिनों टैंक देखे गए हैं और 'एमनेस्टी इन्टरनेशलन' तथा 'एशिया वाच' जैसे संगठनों ने ताजा रिपोर्ट दी हैं कि पूरे तिब्बत में क्रूर दमन जारी है। बिना औचित्य गिरफ्तारी, पिटाई और यातना, कैद तथा बिना मुकदमे के फांसी अब चीनी अधिकारियों के व्यवहार के लक्षण बन चुके हैं।

गुनाहों की इस सूची में कुछ तिब्बती साक्ष्य भी जोड़ दूं, जो किसी प्रदर्शन के बाद गिरफ्तार हुए तथा जिनसे दुर्व्यवहार हुए और उसके बाद वे भारत

आने में सफल हो गए। एक, जो अपने परिवार पर बदले के भय से नाम गुप्त रखना चाहता है उसने मानवाधिकार जांचकर्ताओं को बताया कि लंबे समय तक किस प्रकार उसे कोठरी में नंगा तथा हथकड़ियों में रखा गया था और इस दौरान उसे शारीरिक तथा मौखिक यातनाएं दी गइ। यदाकदा शराबी गार्ड उसकी कोठरी में आते और उसे पीटते। एक रात उसके सिर को तब तक दीवार से टकराया जाता रहा जब तक कि उसकी नाक से लहू न आ गया, उस समय वह होश में था। उसने यह भी बताया कि गार्ड शराब के नशे में उसे मार्शल आर्ट प्रैक्टिस के लिए निशाने के रूप में प्रयोग करते थे। जांच के दौरान उससे यह मनवाने के लिए कि उसने प्रदर्शनों में भाग लिया था, उसे कई बार भूखा और ठण्डी कोठरी में अकेला छोड़ दिया जाता।

उसे पकड़े जाने के बाद पांचवें दिन भोर होने पर जगाया गया तथा जेल की चारदीवारी में बने जांच केन्द्र में ले जाया गया। दो गार्डों ने उसे नीचे से दबा लिया, तीसरे ने घुटनों के बल बैठकर उसका सिर दोनों हाथों से पकड़ा तथा दस मिनट तक उसकी कनपटी नीचे टकराता रहा। तब उसने यह भी बताया कि उसे यातना के तथाकथित तरीके "उड़ता हवाई जहाज" कैसे बनाया गया :-

मुझे जमीन से उठाकर दो सैनिक मेरी बांहों को रस्सियों से बांधने लगे। इस लंबी रस्सी के बीच एक धातु का छल्ला था जिसे मेरी गर्दन के पीछे लगा

दिया। रस्सी के दोनों सिरे मेरे कन्धों के सामने से निकालकर बहुत कसकर मेरी बांहों से लपेटे और आखिर में मेरी ऊंगलियां फंसा दी गई। एक सैनिक ने फिर दोनों सिरे मेरे पीछे छल्ले से निकालकर मेरी बांहें कन्धों के पास फंसा दी। रस्सी से लटकाकर उसने मेरी कमर में घुटना अड़ाकर खूब दर्द किया। इस रस्सी को उसने छत की कुण्डी में अटकाकर नीचे खींचा ताकि मैं यों लटकता रहा कि पंजे फर्श को छू भर रहे थे। मैं

फिर होश खो बैठा। मुझे नहीं मालूम उन्होंने कितनी देर मेरा जहाज बनाया क्योंकि होश आने तक मैंने पाया कि मैं कोठरी में नंगा पड़ा हूं, हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां थीं।"

चार दिन बाद उसे इसी स्थिति में नंगे ही बाहर ले जाया गया मगर बेड़ियां खोल दी गई थीं। उसे जांच कक्ष में न ले जाकर वृक्ष से बांध दिया गया :-

"एक सैनिक ने मोटा रस्सा लेकर मुझे वृक्ष से बान्ध दिया। रस्सा मेरी गर्दन से लेकर, टखनों तक लपेटा गया। एक सैनिक ने पीछे वृक्ष पर पांव अड़ाकर रस्सा खूब खींचा। चीनी सैनिक वृक्ष के पास बैठे लंच लेते रहे। तब एक ने उठकर प्याले की बची-खुची सब्जियां और मिर्चे मेरे मुंह पर दे मारीं। मिर्चे आंखों में घुसी तो मुझे और भी तकलीफ हुई। इसके बाद खोलकर मुझे कोठरी में ले जाया गया। लेकिन चलना बड़ा मुश्किल था और मैं लड़खड़ा रहा था। जितनी बार मैं गिरा, उतनी ही बार मुझे पीटा गया।"

एक और छूटे कैदी ने बताया कि जब प्रदर्शन हो रहा था तब पुलिस ने उसे बार-बार बिजली के झटके दिए। एक युवा के मुंह मे बिजली की छड़ घुसा दी गई जिससे उसका मुंह खूब सूज गया था। एक भिक्षुणी ने जांच कर्ताओं को बताया कि यह छड़ उसकी योनि तथा गुदा में कैसे डाली गई थी।

हालांकि इस तरह की सूचनाओं से चीनी जनता के चरित्र का अन्दाजा लगाना किसी के लिए आसान हो सकता है मगर यह गलत होगा। लेकिन इस तरह की नैतिक भ्रष्टता से आंखें भी नहीं मूंदी जा सकीं। यद्यपि मैं ज्यादा निर्वासन में रहा हूं और इस पूरे समय मैंने चीनी मामलों में रुचि भी ली है। परिणामस्वरूप 'चीन पर नजर रखने वाले' व्यक्ति के रूप में मेरा अनुभव भी अच्छा-खासा हो गया है। लेकिन फिर भी चीनी दिमाग में क्या है मैं अभी तक नहीं समझ पाता हूं।

जब मैंने शुरू 1950 के दशक में चीन यात्रा की थी तो देखा कि अधिकतर लोगों ने समाज बदलने के लिए सर्वस्व त्याग किया है। कईयों के शरीर पर श्रम के निशान थे और ज्यादातर सैद्धांतिक व्यक्ति थे जो अपने विशाल देश में हरेक का सच्चा भला चाहते थे। इस लक्ष्य को पाने

के लिए उन्होंने पार्टी व्यवस्था बनाई जिसमें वे एक दूसरे के बारे में हर छोटी सी बात, यानी किसे कितने घण्टे सोने की जरूरत है, तक जानते थे। वे अपने आर्दशों के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। और उनका नेता माओ त्से-तुंग विशाल दृष्टि वाला और कल्पनाशील व्यक्ति था, जो सकारात्मक आलोचना का महत्व जानता समझता और इसके लिए प्रोत्साहित भी करता था।

लेकिन थोड़े ही समय में नया प्रशासन छोटे मोटे झगड़े विवादों में उलझने लगा। मैंने इसे अपनी आंखों के ऐन सामने होते देखा। शीघ्र ही वे तथ्यों की जगह गप्प मारने लगे और जहां अच्छे प्रदर्शन की जरूरत होती वहां झूठ का सहारा लेते। जब 1956 में चाऊ एन-लाई भारत आया था और उस मौके पर मैंने इस खौफ के बारे में बात की तो उसने फिक्र न करने को दिलासा दिया था कि सब ठीक हो जायेगा। मगर ठीक होना तो दूर हालत और भी बिगड़ती चली गई।

1957 में जब मैं तिब्बत लौटा तो मैंने चीनी अधिकारियों को खुल्लम खुला मेरी जनता को प्रताड़ित करते देखा। हालांकि मुझे निरन्तर आश्वस्त भी किया जाता कि वे हस्तक्षेप नहीं करेंगे। वे हमेशा की तरह बिना हिचकिचाये झूठ बोलते रहे। और कोढ़ में खाज यह कि ज्यादातर दुनिया उनकी गप्पों पर विश्वास करने को तैयार थी। तब 1970 के दशक में कई पश्चिमी राजनीतिज्ञों को तिब्बत ले जाया गया जो यह कहते लौटे कि वहां सब कुछ ठीक ठाक है।

सच्चाई यह है कि चीनी आक्रमण के बाद से बीजिंग की नीतियों के प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप कोई 12 लाख तिब्बती मारे गये होंगे। जब 1965 में तिब्बत पर प्रस्ताव अपनाया गया तो संयुक्त राष्ट्र ने साफ कहा कि मेरी मातृभूमि पर चीनी आधिपत्य के लक्षण है जिनमें "कत्ल, बलात्कार, निरंकुश कैद, उत्पीड़न और क्रूरता, तथा भारी पैमाने पर तिब्बत में अमानवीय व अपमानजनक व्यवहार सभी शामिल हैं।"

मैं समझा सकने में असमर्थ हूं कि इतने भद्र व्यक्तियों के आदर्श इस

बेतुके वहशीपन में कैसे बदले। न ही मैं यह समझ पाता हूं कि चीनी नेतृत्व में जिन्होंने तिब्बती जाति के समूल विनाश की राय दी उनकी प्रेरणा क्या रही होगी? ऐसा लगता है कि चीन ऐसा देश है जो अपना धर्म खो बैठा है जिससे साम्यवाद के नाम पर चीनी जनता ने पिछले इकतालीस वर्षों में अकथनीय तकलीफें सहीं हैं।

साम्यवाद का अनुसरण मानव इतिहास के प्रयोगों में सबसे बड़ा प्रयोग रहा है। और मैं भी इनकार नहीं करता कि शुरू में तो मैं भी इसकी विचारधारा से बहुत प्रभावित हुआ था। शीघ्र ही मैंने जान लिया कि यद्यपि साम्यवाद 'जनता' की सेवा करने का दावा करता है, (जनता जिसके लिए 'जनता होटल है' 'जनता अस्पताल' है वगैरह-वगैरह) मगर दिक्कत यह है कि यहां 'जनता' का मतलब सारी जनता नहीं बल्कि बहुत थोड़े से ऐसे लोग हैं जिनके दृष्टिकोण को ही 'जनता का दृष्टिकोण' बताया जाता है।

साम्यवाद की ज्यादतियों की थोड़ी सी जिम्मेवारी पश्चिम पर भी है। इन्होंने जिस वैमनस्य से पहली मार्क्सवादी सरकारों का स्वागत किया उसका आंशिक हिसाब अपनी सुरक्षा हेतु उठाये गए हास्यास्पद सावधानी वाले कदमों से है। वे हर व्यक्ति, हर चीज के प्रति शंकित हो उठे और शंका से भयावह अप्रसन्नता होती है। क्येंकि यह विश्वास करने के मुख्य मानव स्वभाव के विपरीत है। इस संबन्ध में मैं उदाहरण देता हूं कि 1982 में मॉस्को यात्रा के दौरान क्रेमलिन में लेनिन के कमरे में मेरी हालत कितनी बेतुकी हुई थी।

236

आज़ाद शरणार्थी

मुझे एक सादी वर्दी वाला सुरक्षा कर्मचारी देखे जा रहा था जो एकदम गोली मार देने की पोजीशन में तैयार था और एक महिला गाईड बड़े मशीनी ढंग से मुझे रूसी क्रान्ति का इतिहास बताये जा रही थी।

मेरे राजनैतिक झुकाव की जहां तक बात है, मैं मेरे ख्याल से आज भी आधा मार्क्सवादी हूं। मानवतावादी ढंग से पूंजीवाद का पालन किया जाये तो मेरा इससे कोई झगड़ा नहीं है। मगर मेरा झुकाव ज्यादा समाजवाद

तथा अन्तर्राष्ट्रीयवाद की तरफ है क्योंकि ये बौद्ध सिद्धांतों के अनुरूप हैं। मेरे लिए मार्क्सवाद का एक और आकर्षण उसका यह विश्वास है कि मनुष्य अन्ततः अपनी तकदीर का खुद जिम्मेवार है। यहीं बौद्ध विचार झलकता है।

लेकिन इस सबके विरुद्ध तथ्य यह भी है कि जो देश पूंजीवादी नीतियों को लोकतान्त्रिक ढांचे में रखते हैं वे उन से ज्यादा मुक्त हैं जो साम्यवादी आदर्शों को पाने की कोशिश में लगे हैं। इसलिए अन्ततः मैं मानवतावादी सरकार के पक्ष में हूं क्योंकि इसका उद्देश्य समाज के उत्पादक सदस्यों की जितनी सेवा करने का होता है उतनी ही छोटे, वृद्धों व अपंगों की भी करने का होता है।

यह तो मैं कह चुका कि मैं आधा मार्क्सवादी हूं। लेकिन यदि कोई सचमुच के चुनाव में वोट डालने को कहे तो मैं पर्यावरण के प्रति सजग पार्टी को वोट दूं। हमारे विश्वास में पिछले दिनों में प्रकृति के महत्व के प्रति काफी जागरुकता बढ़ी है। इसमें पवित्रता जैसी कोई बात नहीं है। जिस तरह हम घर का ध्यान रखते हैं उसी तरह ग्रह का भी रखें। चूंकि हम प्रकृति से बने हैं, इसलिए इसके विरुद्ध ज़ाने में कोई तुक नहीं है। यही कारण है कि मैं कहता हूं कि पर्यावरण धर्म या नीति या नैतिकता का मसला नहीं है ये तो विलासिताएं है जिनके बिना हम जीवित रह सकते है। लेकिन पर्यावरण के विरुद्ध होकर हम जी भी न पायेंगे।

हमें यह बात माननी ही पड़ेगी। प्रकृति का संतुलन बिगड़ा तो इंसान भी तकलीफ पायेगा। जिस तरह हम जिन्दा हैं तो आने वाली पीढ़ियां भी जीना चाहेंगी। अन्य मानव अधिकारों की तरह स्वच्छ पर्यावरण भी एक अधिकार है। इसलिए हमारी जिम्मेवारी बनती है कि जैसा वातावरण हमने पाया उसे यदि और अच्छा न बना पायें तो कम से कम नयी पीढ़ी को वैसा ही स्वस्थ वातावरण तो दें ही। यह प्रस्ताव उतना कठिन है नहीं जितना दिखता है। क्योंकि एक व्यक्ति की तो काम की सीमा हो सकती है मगर सारी दुनिया मिलकर कुछ भी हासिल कर सकती है। यह हममें से हरेक पर निर्भर है कि जितना कर पाएं, करें। कमरे में से जाते-जाते जलती बत्ती बुझा जाने में भला क्या जोर लगेगा?

यहां आकर मैं बौद्ध भिक्षु होने के नाते विश्वास करता हूं कि दैनिक

आचरण में 'कर्म' का सिद्धान्त बड़ा फायदेमन्द है। एक बार कोई उद्देश्य और प्रभाव में सम्बन्ध समझ ले तो वह अपने व दूसरों पर होने वाले प्रभावों के प्रति ज्यादा जागरुक हो सकता है।

इस प्रकार तिब्बत की निरन्तर त्रासदी के बावजूद, मुझे दुनिया में काफी भलाई नजर आती है। मुझे विशेषकर इस बात से बड़ा हौसला मिलता है कि

उपभोक्तावाद को साध्य मान लेने का विश्वास अब इस सगुण विवेचन में बदल रहा है कि हम इन्सानों को पृथ्वी के संसाधनों का संरक्षण करना चाहिए। यह जरुरी भी है। एक तरह से पृथ्वी हमारी मां ही तो है। अब तक हमारी यह मां हमारा व्यवहार सहन करती आ रही है। लेकिन अब इसने यह दिखाना भी शुरू कर दिया है कि पानी सिर से गुजर चुका है।

मेरी यही प्रार्थना है कि वातावरण व दूसरों के प्रति चिन्ता का यह संदेश चीन की जनता तक पहुंचा सकूं। चूंकि बौद्ध मत चीनियों के लिए बिल्कुल भी नया नहीं है। मैं विश्वास करता हूं कि किसी दिन प्रयोगात्मक रूप से उनकी सेवा कर पाऊंगा। पिछले पंचेन लामा के पूर्वाधिकारी ने एक बार बीजिंग में 'कालचक्र' संस्कार कराया था। यदि मैं भी करवा पाया तो ऐसा पहली बार न होगा। क्योंकि एक बौद्ध भिक्षु के नाते मेरी चिन्ता सारे मानव वंश तथा जीवों के कष्टों के प्रति है।

मेरा विश्वास है कि कष्ट अज्ञान से होता है तथा लोग अपनी खुशी या सन्तोष के लिए दूसरों को दर्द पहुंचाते हैं। तो भी सच्ची खुशी भीतरी शान्ति व संतोष की भावना से मिलती है और यह भावना परोपकार, प्यार व करुणा उपजाने व क्रोध, स्वार्थ तथा लालच मिटाने से आती है।

कुछ लोगों को यह बात सीधापन लग सकती है। मगर उन्हें याद दिला दूं हम दुनिया के किसी भी हिस्से से बेशक क्यों न हों मूलभूत रूप से हम सभी बराबर इन्सान हैं। हम सभी खुशी पाना व कष्टों से बचना चाहते हैं।

सभी की एक जैसी मूल आवश्यकताएं व सरोकार हैं। और उससे भी बड़ी बात यह कि हम सभी अपना भाग्य खुद बनाने की आजादी चाहते हैं। पूर्वी यूरोप से लेकर अफ्रीका तक सारे विश्व में हो रहे महान परिवर्तन इसका साफ संकेत दे रहे हैं।

साथ ही हिंसक विवाद, प्रकृति का विनाश, गरीबी, भूख इत्यादि जिन समस्याओं का हमें सामना करना पड़ रहा है वे मुख्यतः इन्सान द्वारा ही पैदा की गई हैं। उन्हें खत्म किया जा सकता है- मगर मानव प्रयत्नों व भाईचारे की समझ तथा विकास से। इसके लिए हमें आपस में व पूरी पृथ्वी के प्राणियों के लिए सुहृदयता तथा जागरुकता पर आधारित सार्वजनिक जिम्मेवारी विकसित करनी होगी।

अब हालांकि प्यार तथा करुणा पैदा करने के लिए मैंने अपनी बौद्ध आस्था को मददगार पाया है लेकिन मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन गुणों का विकास हर कोई किसी धर्म से या बिना धर्म के भी कर सकता है। मैं यह भी विश्वास करता हूं कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक है भलाई करना तथा सभी जीवों को प्रसन्न रखना। साधन हालांकि अलग नजर आ सकते हैं मगर साध्य एक ही है।

हम पर विज्ञान का न कम होने वाला प्रभाव पड़ता जा रहा है। ऐसे में मानवता याद दिलाने में धर्म व आध्यात्म की बड़ी भूमिका है। दोनों के बीच विरोध ॥भास कहीं भी नहीं है। दोनों एक दूसरे के भीतर अमूल्य अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। विज्ञान व बुद्ध की शिक्षाएं दोनों ही हमें सभी चीजों की मौलिक एकता के बारे में बताते हैं।

आज़ाद शरणार्थी

मैं इस पुस्तक को तिब्बत के सभी दोस्तों को व्यक्तिगत धन्यवाद से पूरा करना चाहता हूं। तिब्बती दुर्दशा के प्रति आपने जो सरोकार व समर्थन प्रदर्शित किया है उससे मैं खूब प्रभावित हूं और भुजाओं के बल से नहीं बल्कि सच्चाई व संकल्प के शक्तिशाली अस्त्रों के जरिए आजादी का संघर्ष जारी रखने का हौसला लिए हुए हूं। मैं जानता हूं कि आपका

धन्यवाद करते वक्त तथा हमारे देश में इस संकट की घड़ी में तिब्बत को न भूल जाने का आग्रह मैं सभी तिब्बतियों की तरफ से कर रहा हूं।

हम भी एक ज्यादा शान्तिपूर्ण, ज्यादा मानवीय तथा ज्यादा सुन्दर संसार बनाने में योगदान देने की उम्मीद करते हैं। भावी आजाद तिब्बत जरूरतमंदों को सहायता देगा, प्रकृति को बचाना तथा शान्ति को बढ़ावा देना चाहेगा। मैं विश्वास करता हूं कि आध्यात्मिक गुणों को यथार्थवादी व व्यावहारिक रुझान के साथ मिलाने की हमारी तिब्बती योग्यता हमें विशेष योगदान देने योग्य बनायेगी। भले ही यह योगदान छोटा सा ही क्यों न हो।

अन्त में मैं अपने पाठकों के साथ एक छोटी सी प्रार्थना साझी करना चाहूंगा जो मुझे बहुत प्रेरणा तथा संकल्प देती है :-

जब तक यह अन्तरिक्ष रहेगा, और जब तक जीव मौजूद हैं, तब तक मैं भी लगा रहूंगा दुनिया के कष्ट मिटाने में।

----- समाप्त -----

"मैं गहरी कृतज्ञता के साथ यह पुरस्कार सभी देशों के उन सभी लोगों की

ओर से स्वीकार कर रहा हूं जिनका दमन किया गया है और जो आजादी के लिए संघर्ष कर रहे हैं तथा विश्व शांति के लिए काम कर रहे हैं.

महात्मा गांधी को दी मैं यह पुरस्कार उस व्यक्ति गई श्रद्धांजलि के रूप में स्वीकार कर रहा हूं जिसने आज के युग में परिवर्तन लाने के लिए अहिंसक कार्यवाही की परंपरा शुरू की और जिसके जीवन से मैंने शिक्षा और प्रेरणा ली है.

और यकीनन मैं इस पुरस्कार को तिब्बत के भीतर रहने वाले उन साठ लाख बहादुर तिब्बती महिला और पुरुष नागरिकों की ओर से ग्रहण कर रहा हूं जिन्होंने बहुत कष्ट भोगे हैं और अभी भी भोग रहे हैं। वे एक ऐसे नपे-तुले और सुनियोजित षड्यंत्र का मुकाबला कर रहे हैं जिसका लक्ष्य उनकी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पहचान को नष्ट करना है.

यह पुरस्कार एक बार फिर हमारी इस आस्था की पुष्टि करता है कि सत्य, साहस और संकल्प जैसे हथियारों के बल पर हम तिब्बत को आजाद करा सकेंगे."

नोबेल शांति पुरस्कार ग्रहण करते समय

परम पावन दलाई लामा

द्वारा दिसंबर **1989** में दिए गए वक्तव्य का एक अंश

सामने कवर से --

संस्कृति और राष्ट्रीय पहचान को नया जीवन देने, शरणार्थियों को अपने

पैरों पर खड़ा करने और अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए विश्व में शांति को बढ़ावा देने के अभियान में निरंतर जुटे हुए हैं।

इस आत्मकथा में वे अपने शब्दों में बताते हैं कि किस तरह अपनी जनता के आराध्य के रूप में वे पले बढ़े? एक दलाई लामा होने के नाते उनकी कैसी भावनाएं हैं? तिब्बत की आजादी के संघर्ष में सी. आई. ए. की क्या भूमिका रही? विश्व के बड़े नेताओं और हस्तियों के बारे में उनकी क्या राय है? इसके अलावा उन्होंनें जिन विषयों पर प्रकाश डाला है उनमें तिब्बती बौद्ध धर्म के कई गूढ़ पक्ष, तिब्बती समाज में महिलाओं की स्थिति, पर्यावरण के प्रति उनका लगाव, तिब्बती मान्यताओं और परंपराओं के बीच उनकी निजी वैज्ञानिक विचारधारा, पश्चिमी समाज की समस्याओं के बारे में उनकी व्यक्तिगत राय तथा ऐसे और भी कई विषय हैं।

इस कथा में रहस्य और साहसिकता, अंतर्दृष्टि और षडयंत्र, गंभीरता और व्यंग्य सभी का सुंदर और स्वस्थ मिश्रण है। और इससे भी कहीं अधिक यह निराशा पर आशा की कहानी है।

- हमारे आज के युग के लिए एक सटीक, उपयोगी आत्मकथा।